॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला
५२

॥ श्रीः ॥

स्वप्नवासवदत्तम्

'प्रबोधिनी' 'प्रकाश' टीकोपेतम्



चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस
बनारस

95

॥ श्रीः ॥

❖ हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला ❖

५२

महाकविश्रीभासप्रणीतं

स्वप्नवासवदत्तम्

'प्रबोधिनी' व्याख्याराष्ट्रभाषानुवादोपेतम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

साहित्याचार्यः—

श्रीमदनन्तरामशास्त्री वेतालः

अनुवादकः

साहित्याचार्यः—

श्रीजगन्नाथशास्त्री होशिङ्गः

भूमिकालेखकः

श्रीकान्तानाथशास्त्री तेलङ्गः, एम. ए.

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस-१

सं० २०१२]　　　　[ई० १९५६

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८, बनारस

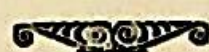
पञ्चमं संस्करणम्

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

THE

HARIDAS SANSKRIT SERIES

52



THE

SVAPNAVĀSAVADAṬṬA

OF

MAHĀKAVI BHĀSA

Edited with—

THE PRABODHINĪ SANSKRIT COMMENTARY

BY

Pt. S'ri Anantarama S'astri Vetal

AND

THE PRAKĀS'A HINDĪ TRĀNSLATION BY

Pt. S'ri Jagannath S'astri Hos'ing

AND

AN INTRODUCTION IN HINDI

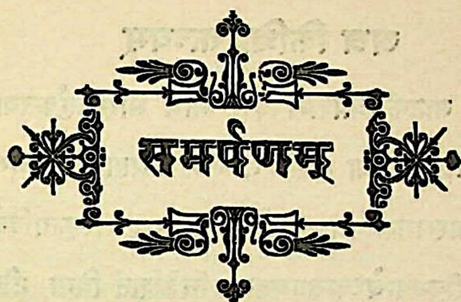
BY

Pt. N. Kanta Nath S'astri Telanga M. A.

Professor, Banaras Hindu University.

1956

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Banaras.
(INDIA)
1956.



समर्पणम्

श्रीमद्गुरुवरलक्ष्मीललितं गङ्गाधराऽङ्गसञ्जातम् ।
वन्दावहे प्रतीक्ष्यं भक्त्या श्रीभालचन्द्रविबुधेन्द्रम् ॥ १ ॥

साहित्यकाननाऽन्तर्विहरन्तो विबुधसिंहतां यान्तः ।
दुर्वादिमत्तकुञ्जरकुलं जयन्तो जयन्त्यमी गुरवः ॥ २ ॥

श्रीमत्सद्गुरुकरुणाऽमृतवल्लीसङ्गतं फलं तदिदम् ।
श्रीचरणयोः पुरस्तात् परोपकारैकतत्परयोः ॥ ३ ॥

श्रीमद्गुरुवरभक्तिप्रभावलब्धाऽणुगुणलेशौ ।
सविनति समर्पयेते अनन्तरामस्तथा जगन्नाथः ॥ ४ ॥



अत्र किञ्चिद्वक्तव्यम्

एतत्किल नाटकं स्वप्नवासवदत्तं नाम भासकर्तृकतया प्रसिद्धमपि महाकविभिः श्रीवाग्देव्या हासत्वेन वर्णितान्महाकवेः श्रीभासादनुद्भूतमिव प्रतीयमानमरसमसंविधानकसौष्ठवलेशं च्युतसंस्कृतादिदोषबहुलमपि तत्सुदैवोदयात्परीक्ष्यग्रन्थेष्वन्यतमतया निवेशितं विना टीकासाहाय्येन विद्यार्थिनां नोपकाराय प्रभवेदित्यालोच्य श्रीचौखम्बासंस्कृतपुस्तकालयाध्यक्षेण जयकृष्णदासश्रेष्ठिना संप्रार्थितेनाऽस्मत्प्रियान्तेवासिना साहित्याचार्येण वेतालोपाभिधेन श्रीमदनन्तरामशास्त्रिणा प्रबोधिनीनाम्न्याऽभिनवटीकया सनाथीकृतं विलोक्य किञ्चिदुच्छ्वसिमि ।

सेयं टीका सौशील्येनैतन्नाटकदोषान् यावच्छक्यं समाधातुं प्रवृत्ता प्रतिपदमतिस्फुटं व्याख्यानसरण्या कोषव्याकरणादिसमुचितसन्निवेशनैश्च मूलं विशदीकुर्वती विद्यार्थिनां भृशमुपकरिष्यतीति मन्ये ।

काशी
१६–६–३६

महामहोपाध्यायो
लक्ष्मणशास्त्री तैलङ्गः

भूमिका

लेखक—कान्तानाथ शास्त्री तैलंग, एम. ए.
प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी।

महाकवि भास संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध महाकवियों में से हैं। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाम के नाटक में इनका स्मरण किया है[1]। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में इनके नाटकों की विशेषताएँ बतलाई हैं[2]। वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' नाम के प्राकृत भाषा के महाकाव्य में इनको ज्वलनमित्र (अग्निका मित्र) कहा है[3]। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में इनके 'स्वप्नवासवदत्तम्' को उत्तम कोटि का नाटक माना है[4]। आलङ्कारिक जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' की प्रस्तावना में इन्हें कविता-कामिनी का हास कहा है[5]। संस्कृत साहित्य के इतने प्रसिद्ध रत्न होने पर भी बहुत दिनों तक विद्वानों को इनका केवल नाम ही मालूम था। इनके काल, जीवनवृत्त और ग्रन्थों के विषय में कुछ भी ज्ञात न था। सौभाग्य से सं० १९१२ ई० में महामहोपाध्याय श्री टी. गणपति शास्त्री ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' आदि तेरह नाटक अनन्तशयनं ग्रन्थमाला में प्रकाशित कराए और उन्हें भास की रचना बतलाया। उसी समय से भास और उनके नाटक विद्वानों की चर्चा के विषय बन गए हैं। कुछ विद्वान् श्री गणपति शास्त्री द्वारा खोज निकाले नाटकों को भास की कृति नहीं मानते। परन्तु हमारे विचार से इन नाटकों की प्रामाणिकता में संदेह का कोई कारण नहीं है। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे।

---

१. 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः'। (मालविकाग्निमित्रम्)

२. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥ (हर्षचरितम्)

३. भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे तहावि रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो॥ (गउडवहो)

४. भासनाटकचक्रेऽस्मिन् च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥ (काव्यमीमांसा)

५. भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः। (प्रसन्नराघव)

कालिदास के समकालिक थे। राजा विक्रम के दरवार के नवरत्नों में कालिदास और घटकर्पर दोनों का नाम आता है।

तीसरी कथा यह है कि एक बार व्यास और भास में प्रतिष्ठा के लिये झगड़ा हुआ। निर्णय के लिये दोनों के ग्रन्थ अग्नि में डाल दिये गए। भास की विजय हुई। अग्नि ने भास के ग्रन्थ नहीं जलाए। इस किंवदन्ती से ऐसा प्रतीत होता है कि भास कालिदास की अपेक्षा वहुत प्राचीन थे। क्योंकि उनके झगड़े की वात कालिदास के साथ न कह कर व्यास के साथ कही गई है। इस कथा से यह भी प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल में भास के ग्रन्थ वहुत प्रसिद्ध थे।

चौथी कथा यह है कि जव भास का नाटकचक्र परीक्षा के लिये अग्नि में डाला गया तो अग्नि ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' को नहीं जलाया। इस कथा से यह प्रतीत होता है कि भास के वहुत से नाटक थे और उनमें 'स्वप्नवासवदत्तम्' सवसे उत्तम था।

उपर्युक्त कथाओं के अतिरिक्त भास के नाटकों का अध्ययन करने से भी उनके जीवन के विषय में वहुत कुछ मालूम होता है। श्रीपुसालकर का कहना है कि भास धर्म-भीरु ब्राह्मण थे। वे उत्तर भारत के रहने वाले थे। वे अपने भरत-वाक्य में ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनका राजा हिमाचल और विंध्याचल के बीच एकछत्र राज्य करे[1]। भास वर्ण-व्यवस्था को मानते थे। उनका यज्ञों और देवस्तुतियों में विश्वास था। वे गौ को भी आदर की दृष्टि से देखते थे। वे किसी राजा के सभापण्डित थे। वे अपने राजा को 'राजसिंह' कहते हैं। मालूम नहीं यह शब्द किसी व्यक्ति की संज्ञा थी या सामान्यतः राजा मात्र का बोध कराता है। भास राजमहल और शाही जीवन से अच्छी तरह परिचित थे। वे स्वभाव से नम्र, हाजिर जवाव और हास्य प्रिय थे। वे संलाप-कला में निपुण थे। वे मनुष्यस्वभाव और प्रकृति के सौन्दर्य के दक्ष पारखी थे। संभवतः उनका कौटुम्बिक जीवन सुखमय था। वे कर्तव्यपरायण पुत्र, इमानदार पति और सन्तानप्रिय पिता थे। वे बड़ों का आदर करने वाले और अविभक्त-कुटुम्ब-पद्धति के समर्थक थे। वे आशावादी और राष्ट्रीय विचार के कवि थे। वे न्याय और स्वतन्त्रता के प्रेमी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया था।

भास के ग्रन्थ

श्री टी. गणपति शास्त्री ने दक्षिण में भास के तेरह नाटक खोज निकाले। उन्होंने उन्हें त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज में प्रकाशित कराया। उन नाटकों के नाम

१. इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्। महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः॥

ये हैं—प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिमा नाटक, पञ्चरात्र, अभिषेक नाटक, मध्यमव्यायोग, कर्णभार, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, ऊरुभङ्ग, बालचरित, अविमारक और दरिद्र चारुदत्त।

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में वत्सराज उदयन द्वारा उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता के हरण का वृत्तान्त है। प्रद्योत द्वारा उदयन के कैद कर लिये जाने पर उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण उदयन को छुड़ाने और वासवदत्ता के साथ उसका विवाह कराने की प्रतिज्ञा करता है। इसीके कारण इस नाटक का नाम 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' रखा गया है। यौगन्धरायण को अपने कार्य में सफलता मिलती है।

'स्वप्नवासवदत्तम्' में राजा उदयन का वासवदत्ता के साथ स्वप्न में मिलन होता है। इसीलिये इस नाटक का नाम 'स्वप्नवासवदत्तम्' पड़ा है। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के महल से वासवदत्ता का हरण कर लाने के बाद राजा उदयन कामक्रीड़ा में मग्न हो जाता है। वह राज्य के कार्यों की तरफ ध्यान नहीं देता। इससे उसके शत्रु आरुणि को आक्रमण करने का अवसर मिल जाता है। परन्तु उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण सचेत रहता है। वह आरुणि को परास्त करने के लिये मगध के राजा दर्शक की सहायता लेना चाहता है। वह वासवदत्ता को मिला कर लावाणक में उसके अग्नि में जल मरने का समाचार उड़ाता है और उसे ले जा कर मगध के राजा दर्शक की लड़की पद्मावती के पास धरोहर के रूप में छोड़ आता है। अनन्तर उदयन का पद्मावती के साथ विवाह होता है। एक दिन उदयन स्वप्न में वासवदत्ता को देखता है और उसके मन में वासवदत्ता की स्मृति ताजी हो जाती है। बाद वासवदत्ता प्रकट होती है और उदयन का उससे मिलन होता है। उधर उदयन का सेनापति रुमण्वान् आरुणि को युद्ध में परास्त करता है। इस प्रकार इस नाटक का सुखमय अन्त होता है।

'प्रतिमा नाटक' में रामायण की कथा है। इस नाटक में राम के वनगमन से लेकर रावण वध तक की कथा है। राजा दशरथ के मर जाने पर वंश के देवकुल में उनकी मूर्ति स्थापित की जाती है। मामा के घर से लौटने पर भरत नगर के बाहर देवकुल में दशरथ की प्रतिमा देखते हैं। इससे उन्हें उनकी मृत्यु का पता लगता है। इसी प्रतिमा के नाम पर इस नाटक का नाम प्रतिमा नाटक रखा गया है।

'पञ्चरात्र' महाभारत की कथा की एक घटना ले कर रचा गया है। दुर्योधन यज्ञ करता है। यज्ञ पूरा होने पर वह द्रोणाचार्य को मुहमांगी दक्षिणा देने के लिये तयार होता है। द्रोणाचार्य पाण्डवों के लिये आधा राज्य मांगते हैं। दुर्योधन देने को तयार हो जाता है। परन्तु वह यह शर्त लगाता है कि पांच रात्रि के अन्दर पाण्डवों का समाचार लाया जाय। द्रोणाचार्य यह शर्त स्वीकार करते हैं। इसके

बाद कौरव गायों के लिये विराट की राजधानी पर आक्रमण करते हैं। राजकुमार उत्तर कौरवों से लड़ने जाता है। अज्ञातवास में स्थित पाण्डव उसकी सहायत करते हैं। युद्ध में उत्तर की विजय होती है। पाण्डव प्रकाश में आते हैं। द्रोणाचार्य दुर्योधन को उसकी प्रतिज्ञा की याद दिलाते हैं। वह पाण्डवों को आधा राज्य देना स्वीकार करता है। यह कथा अंशतः कल्पित है।

'अभिषेक नाटक' में रामचन्द्रजी के किष्किन्धा पहुंचने से लेकर रावणवध के उपरान्त रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक तक की कथा है। रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की घटना के कारण ही इसे अभिषेक नाटक कहते हैं।

'मध्यमव्यायोग' में पाण्डवों के वनवास काल में भीम द्वारा घटोत्कच के पंजे से एक ब्राह्मण बालक की मुक्ति की कथा है। यह व्यायोग नाम का रूपक का भेद है। मध्यम शब्द भीम और उस ब्राह्मण बालक का बोधक है जिसे भीम घटोत्कच से मुक्ति दिलाता है। इसीलिये इसे 'मध्यम व्यायोग' कहते हैं। इसमें घटना चक्र का जैसा वर्णन किया गया है वैसा महाभारत में नहीं मिलता।

'कर्णभार' में महाभारत की एक घटना है। द्रोणाचार्य के निधन पर कौरवों की तरफ से कर्ण सेनापति नियुक्त किया जाता है। युद्ध का सारा भार कर्ण पर पड़ता है। इसीलिये इस नाटक को कर्णभार नाम दिया गया है। कर्ण रथ पर बैठ कर रणाङ्गण की तरफ प्रयाण करता है। शल्य उसके सारथि का कार्य करते हैं। मार्ग में इन्द्र ब्राह्मण का रूप ले कर आते हैं। वे उससे वह अभेद्य कवच मांगते हैं जिसके साथ कर्ण पैदा हुआ था। पहिले कर्ण कवच देने से कुछ हिचकिचाता है और उसके बदले अन्य जो कुछ भी ब्राह्मण मांगे देने का वचन देता है। परन्तु ब्राह्मण के जिद करने पर वह कवच दे देता है और बदले में विमला नाम की एक शक्ति प्राप्त करता है। इसके बाद वह रण–स्थल की तरफ रवाना होता है। यह भी महाभारत की घटना का परिवर्तित रूप है।

'दूत वाक्य' में पाण्डवों के पक्ष से दुर्योधन के पास कृष्ण के दूत बन कर जाने की कथा है। दुर्योधन का दरबार लगता है। वह अपने साथियों से परामर्श करके भीष्म को भावी युद्ध के लिये कौरवों की सेना का सेनापति नियुक्त करता है। इतने में श्रीकृष्ण के आने का समाचार मिलता है। दुर्योधन दरबारियों को खड़े होकर कृष्ण का स्वागत करने से मना करता है। वह स्वयं कृष्ण का अपमान करने के लिये द्रौपदी के चीरहरण के चित्र की तरफ देखता है। कृष्ण प्रवेश करते हैं। दरबारी सहसा खड़े हो जाते हैं। दुर्योधन भी घबराहट में गिर पड़ता है। कृष्ण राज्य में पाण्डवों का भाग मांगते हैं। दुर्योधन पाण्डवों की निन्दा करता है। दोनों पक्षों से कड़े शब्दों का प्रयोग होता है। दुर्योधन कृष्ण को पकड़ने की

आज्ञा देता है। परन्तु किसी की हिम्मत नहीं पड़ती। इस पर दुर्योधन स्वयं आगे बढ़ता है। कृष्ण विराट् रूप ग्रहण करते हैं। दुर्योधन किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। कृष्ण नाराज होकर वहाँ से चलते हैं। धृतराष्ट्र उनके पैरों पर गिर पड़ता है।

'दूतघटोत्कच' में घटोत्कच दूत बन कर कृष्ण का संदेश कौरवों के पास ले जाता है। यह घटना भी महाभारत में नहीं मिलती। अभिमन्यु की मृत्यु के बाद घटोत्कच कृष्ण का दूत बनकर कौरवों के पास जाता है। वह सीधे धृतराष्ट्र के पास पहुंचता है। वह कृष्ण की तरफ से युद्ध के भावी भयंकर परिणाम की ओर धृतराष्ट्र का ध्यान दिलाता है। इस पर दुर्योधन ताना कसता है। घटोत्कच भी उत्तर देने से नहीं चूकता। दोनों में गरमा-गरमी होती है। घटोत्कच अकेला-अकेली युद्ध के लिये ललकारता है। धृतराष्ट्र उसे शान्त करता है। घटोत्कच अभिमन्यु की हत्या का बदला अर्जुन द्वारा लिये जाने की धमकी देकर चला जाता है। इस नाटक के अन्त में भरत-वाक्य नहीं है।

'ऊरुभङ्ग' में भीम द्वारा दुर्योधन की ऊरुभङ्ग की कथा है। भीम और दुर्योधन के बीच गदायुद्ध होता है। दुर्योधन भीम को सिर पर प्रहार करता है। भीम गिर पड़ते हैं। दुर्योधन ताना मारता है। कृष्ण उन्हें दुर्योधन की जांघ पर मारने का इशारा करते हैं। भीम दूने जोश से लड़ते हैं। वे दुर्योधन के जांघ पर प्रहार करते हैं। उसकी जांघ टूट जाती है। वह घायल होकर गिर पड़ता है। पाण्डव और कृष्ण भीम को वहां से हटा ले जाते हैं। बलराम भीम को मारने की प्रतिज्ञा करते हैं। दुर्योधन के माता, पिता, पत्नी और पुत्र वहाँ आते हैं। सब विलाप करते हैं। दुर्योधन उन्हें समझाता है। अश्वत्थामा क्रुद्ध होकर पाण्डवों को मार डालने तथा दुर्योधन के पुत्र दुर्जय को राजा बनाने की प्रतिज्ञा करते हैं। दुर्योधन माता पिता को प्रणाम कर जीवन लीला समाप्त करता है। धृतराष्ट्र निर्वेद से वन जाते हैं। अश्वत्थामा शस्त्र ताने रात्रि में पाण्डवों के शिविर पर आक्रमण करने जाते हैं।

'बालचरित' में कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन है। नारदजी मञ्च पर आते हैं। वे नवजात शिशु कृष्ण को लेकर वसुदेव के पास जाती हुई देवकी का परिचय देकर चले जाते हैं। वसुदेव कृष्ण को लेकर गोकुल जाते हैं। वहाँ वे अपने मित्र नन्दगोप से मिलते हैं। वे उसे कृष्ण को देकर उसकी लड़की को मथुरा ले आते हैं। कंस वसुदेव की लड़की को मार डालने के लिये पटकता है। वह देवी बन कर आकाश में उड़ जाती है। कृष्ण बाल्य काल में गोकुल में रह कर पूतना, शकट, अर्जुन, धेनुक आदि राक्षसों का वध करते हैं। वे कालिया नाग का दमन करके उसे यमुना के जल से भगाते हैं। इसी बीच कंस का दूत मथुरा में होने वाले

धनुर्मह उत्सव का समाचार लाता है। कृष्ण और बलराम (दामोदर और संकर्षण) मथुरा जाते हैं। कंस कृष्ण और बलराम को अपने मल्लों से मरवा डालना चाहता है। कृष्ण और बलराम का चाणूर और मुष्टिक से मल-युद्ध होता है। चाणूर और मुष्टिक मारे जाते हैं। कृष्ण कंस का वध करते हैं। उग्रसेन बन्दी से छुड़ा कर पुनः राजा बनाए जाते हैं। नारदजी कृष्णजी का दर्शन करने आते हैं। कृष्ण उनका पूजन करते हैं। कृष्ण के प्रति आदर प्रकट कर नारदजी चले जाते हैं।

'अविमारक' में राजा कुन्तिभोज की कन्या कुरंगी और सौवीरराज के पुत्र विष्णुसेन के विवाह की कथा है। पता नहीं यह कथा कवि ने कहाँ से ली। संभव है यह कथा उस समय की किसी परंपरागत आख्यायिका से ली गई हो। अविमारक इस नाटक के नायक विष्णुसेन का दूसरा नाम है। विष्णुसेन ने किसी समय 'अवि' नाम के भेड़ रूपधारी राक्षस को मारा था। इसी नाम पर नाटक का 'अविमारक' नाम पड़ा है। एक दिन उद्यान में राजकुमारी पर एक मतवाला हाथी आक्रमण करता है। अविमारक उसे बचाता है। दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लगते हैं। राजकुमारी की दो परिचारिकाएँ अविमारक से मिलती हैं। वे उसे वेश बदल कर कन्यापुर आने को कहती हैं। अविमारक चोर के वेश में नगर में प्रवेश करता है। वह दीवाल लांघ कर कन्यापुरप्रासाद में घुसता है। कुरंगी अर्धसुप्तावस्था में पड़ी रहती है। कामावेश में वह अपनी परिचारिका नलिनिका को आलिंगन करने को कहती है। नलिनिका स्वयं वैसा न कर उसी समय वहां पहुंचे अविमारक को आलिंगन करने को कहती है। वह राजकुमारी को आलिंगन करता है। राजकुमारी उसे देख घवड़ा जाती है। अविमारक उसे स्वस्थ करता है। दोनों शयनागार में जाते हैं। शीघ्र ही राजा कुन्तिभोज को किसी युवक के कन्यापुरप्रासाद में होने का पता चलता है। अविमारक वहाँ से भाग निकलता है। राजकुमारी विह्वल हो जाती है। उधर अविमारक को भी विरह वेदना असह्य हो जाती है। वह आत्महत्या करने की सोचता है। इसी समय एक विद्याधर युगल आकर उसे मना करता है। वे उसे एक अंगूठी देते हैं जिसके प्रभाव से अदृश्य होकर वह राजकुमारी से मिल सके। अविमारक अंगूठी पहिन कर पुनः राजकुमारी के महल में जाता है। उसी समय राजकुमारी फाँसी लगाकर प्राण देना चाहती है। परन्तु जोर से बिजली कड़कती है और वह भय से सहायता के लिये चिल्लाती है। अविमारक दौड़कर उसे अपने भुज-पाश में ले लेता है और धीरज देता है। अनन्तर दोनों रमण के लिये अन्दर जाते हैं। राजा कुन्तिभोज कुरंगी का विवाह सौवीरराज के पुत्र विष्णुसेन (अविमारक) से ही करना चाहता था। परन्तु बहुत दिनों तक उसका पता न लगने के कारण उसने उसका विवाह काशिराज के पुत्र जयवर्मा से ठीक किया था। काशिराज दल बल के सहित

कुन्तिभोज की नगरी में पहुंच भी जाता है। इतने में नारदजी आकर अविमारक के साथ कुरङ्गी के गान्धर्व विवाह का समाचार सुनाते हैं और उसके राजमहल में ही होने की बात भी बतलाते हैं। इससे उलझन उत्पन्न हो जाती है। इसे सुलझाने के लिये नारदजी कुन्तिभोज को कुरङ्गी की बहिन सुमित्रा का विवाह जयवर्मा से कर देने की सलाह देते हैं। यह बात सबको पसन्द आ जाती है। सर्वत्र आनन्द छा जाता है।

'चारुदत्त' नाटक में ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना की प्रेमलीला का वर्णन है। नायक के नाम पर नाटक का नाम चारुदत्त पड़ा है। शकार और विट वसन्तसेना का पीछा करते हुए चारुदत्त के घर के पास पहुंचते हैं। वसन्तसेना अंधेरे में निगाह बचाकर खसक जाती है। वह चारुदत्त के दरवाजे के पास जाकर खड़ी होती है। इतने में दरवाजा खुलता है और मैत्रेय तथा रदनिका दीपक लिये चौराहे पर देव-बलि अर्पण करने के लिये निकलते हैं। वसन्तसेना दीपक बुझा देती है और घर में घुस जाती है। चारुदत्त उसे रदनिका समझ कर अपना दुपट्टा देता है और भीतर ले जाने के लिये कहता है। वसन्तसेना चुप खड़ी रहती है। बाहर शकार रदनिका को वसन्तसेना समझ कर पकड़ता है। मैत्रेय उसे बचाता है। शकार वसन्तसेना को वापस मांगता है। मैत्रेय और रदनिका अन्दर जाते हैं। मैत्रेय चारुदत्त को शकार का संदेश देता है। वसन्तसेना पहिचानी जाती है। वह चारुदत्त के पास अपने आभूषण धरोहर रख कर मैत्रेय के साथ अपने घर जाती है। दूसरे दिन वह अपनी दासी के समक्ष चारुदत्त के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करती है। इतने में एक मालिश वाला आता है। वह जुआड़ियों से अपनी रक्षा की याचना करता है। यह जानकर कि वह चारुदत्त का पुराना भृत्य है वसन्तसेना उसका कर्ज अदा करती है। इतने में वसन्तसेना का दास कर्णपूरक आता है और मतवाले हाथी से भिक्षु की रक्षा और पारितोषिक के रूप में मिले दुपट्टे का वृत्तान्त सुनाता है। उधर चारुदत्त के घर चोरी होती है। सज्जलक अपनी प्रेमिका मदनिका को वसन्तसेना की गुलामी से छुड़ाने के लिये अनजान में चारुदत्त के घर से वसन्तसेना के आभूषण चुरा कर वसन्तसेना के ही घर जाता है। वहां सजलक मदनिका से मिलता है। मदनिका आभूषणों को पहिचान लेती है। वह सजलक को उन्हें वसन्तसेना को लौटा देने की सलाह देती है। इसी बीच चारुदत्त द्वारा आभूषणों के बदले में भेजे रत्न-हार को लेकर मैत्रेय आता है। वसन्तसेना उसे लेकर मैत्रेय को विदा करती है। अनन्तर चुराए आभूषणों को लेकर सज्जलक प्रवेश करता है। वह चारुदत्त का भृत्य बन कर वसन्तसेना को आभूषण देता है। वसन्तसेना मदनिका को वे आभूषण पहिनाकर सज्जलक के साथ विदा करती है। इसके बाद वसन्तसेना चारुदत्त के घर जाने को निकलती

है। बादल गरजते हैं और जोर की वर्षा होती है। परन्तु इसका वसन्तसेना पर कोई असर नहीं होता। यहीं पर यह नाटक समाप्त हो जाता है।

भास के नाटक चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—महाभारत पर आश्रित नाटक, रामायण पर आश्रित नाटक, कृष्ण-लीला के नाटक, उदयन की कथा वाले नाटक और कल्पित अथवा लोकप्रचलित कथाओं की वस्तु वाले नाटक। अभिषेक, स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिमा, अविमारक और बालचरित 'नाटक' नाम के रूपक के उदाहरण हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण 'ईहा मृग' हैं। चारुदत्त 'प्रकरण' है। कर्णभार, ऊरुभंग और दूतघटोत्कच 'अंक' के उदाहरण हैं। मध्यमव्यायोग एक 'व्यायोग' है। पंचरात्र 'समवकार' है। दूतवाक्य 'वीथि' का उदाहरण है।

भास के नाटकों की प्रामाणिकता

श्री टी. गणपति शास्त्री ने १९१२ ई० में दक्षिण से तेरह नाटक खोज निकाले। उन्हें उन्होंने ट्रिवेंड्रम संस्कृत सीरिज से प्रकाशित कराया। शास्त्री जी ने उन नाटकों को भास की रचना के रूप में प्रसिद्ध किया। विद्वानों ने उन नाटकों की परीक्षा की। बहुत से यूरोपीय और भारतीय विद्वानों ने शास्त्री जी की उक्ति का समर्थन किया। परन्तु कुछ विद्वानों ने शास्त्री जी द्वारा खोज निकाले गए नाटकों का भास की रचना होना अस्वीकार किया। इस विषय पर दोनोंप क्षों से बहुत दिनों तक लिखा पढ़ी होती रही। परन्तु कुछ फल न हुआ। अभी भी यह प्रश्न विवादास्पद ही बना है। न सब विद्वान् उपर्युक्त नाटकों को भास का ही मानते हैं और न सब एक स्वर से जाल ही स्वीकार करते हैं। अतः भास पर लिखते समय भास के नाटकों की प्रामाणिकता पर भी प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है।

भास के नाम पर प्रचलित नाटकों को जो विद्वान् भास की कृति नहीं मानते उन्हें चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे विद्वान् आते हैं जो प्रचलित भास के नाटकों को उनकी असली रचना न मानकर उनके नाटकों के संक्षिप्त रूप मानते हैं। द्वितीय वर्ग में वे लोग आते हैं जो प्रचलित नाटकों के कुछ अंशों को भास की कृति और कुछ अंशों को किसी दूसरे की कृति मानते हैं। इस वर्ग के लोगों का कहना यह है कि भास के नाटक अधूरे ही उपलब्ध हुए थे। उन्हें किसी दूसरे कवि ने पूरा किया है। तृतीय वर्ग में उन विद्वानों की गणना होती है जो प्रचलित भास के नाटकों में से 'स्वप्नवासवदत्तम्' को तो भास की कृति मानते हैं, परन्तु अन्य नाटकों को उनकी रचना नहीं मानते। चतुर्थ वर्ग में वे विद्वान् आते हैं जो प्रचलित नाटकों को सर्वथा भास की रचना नहीं मानते। उनके अनुसार ये नाटक ७०० ई० में केरल देश के 'चाक्यार' नाम के नट-कवियों के द्वारा रचे गए हैं। इस वर्ग के विद्वान् अपने मत की पुष्टि के लिये यह कहते हैं

कि प्रचलित नाटकों की प्रस्तावना में या उनके अन्य किसी भी अंश में भास का नाम नहीं है। इसके अतिरिक्त ये नाटक केवल केरल देश में प्राप्त हुए हैं। अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों में भास के नाटकों के जो उद्धरण मिलते हैं वे भी इन नाटकों में नहीं मिलते।

यदि प्रथम वर्ग के विद्वानों के अनुसार यह मान भी लिया जाय कि प्रचलित नाटक भास के नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं, तो भी प्रचलित नाटकों का भास कृत होना ही सिद्ध होता है। किसी के ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप भी तो उसी का ही कहलावेगा। भाषा और शैली भी मूल ग्रन्थकार की ही माननी पड़ेगी। खराबी केवल इतनी होगी कि संक्षिप्त ग्रन्थ ग्रन्थकार की कला का पूर्ण परिचय देने वाला न होगा। प्रचलित नाटक भास के नाटकों के संक्षिप्त रूप भी हों तो भी वे भास की ही नाट्यकला के परिचायक हैं। उनमें प्राप्त आभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर भास का समय निर्धारित करना भी अनुचित न होगा। हमारे विचार से तो ये नाटक मूल नाटकों का संक्षिप्त रूप नहीं हैं। ये मूल नाटक ही हैं। यह ठीक है कि अलंकार ग्रन्थों में भास के नाटकों से दिये गए कुछ उद्धरण नहीं मिलते। कुछ उद्धरणों की भाषा प्राप्त नाटकों की भाषा से नहीं मिलती। इसका कारण पाठ भेद हो सकता है। यह भी हो सकता है कि उद्धरण कर्ताओं ने मूल नाटक सामने रखकर उद्धरण न लिखे हों। कभी कभी विद्वान् अपनी स्मृति पर भरोसा करके भी लिख दिया करते हैं। ऐसी अवस्था में मूल लेख और उद्धरणों की भाषा में भेद होना असंभव नहीं। इस गुत्थी को सुलझाने के लिये प्राप्त नाटकों को मूल नाटकों का संक्षिप्त रूप मानने की आवश्यकता नहीं है।

द्वितीय वर्ग के विद्वान् उपलब्ध नाटकों को अंशतः भास के और अंशतः दूसरे के मानते हैं। इनका आशय यह है किं भास के नाटक अपूर्ण उपलब्ध हुए थे। उन्हें किसी दूसरे कवि ने पूरा किया है। यदि इस वर्ग के विद्वानों का मत मान भी लिया जाय तो भी प्रचलित नाटक अंशतः भास के सिद्ध हो जाते हैं। रही दूसरे अंश की बात। उसे अन्य कवि कृत सिद्ध करने का भार पर पक्ष पर है। जब तक यह बात सप्रमाण सन्तोषजनक रूप से सिद्ध नहीं की जाती तब तक इन नाटकों को भास रचित ही मानना उचित मालूम पड़ता है।

तृतीय वर्ग के विद्वानों का कहना यह है कि श्रीगणपति शास्त्री द्वारा खोज निकाले नाटकों में से 'स्वप्नवासवदत्तम्' तो भास का है, परन्तु अन्य नाटक उनके नहीं हैं। 'स्वप्नवासवदत्तम्' भास का है क्योंकि अभिनवगुप्त, राजशेखर और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उसका उल्लेख किया है। यह मत भी ठीक नहीं है। भास के नाम पर प्रचलित नाटकों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सब नाटक

एक ही कवि की रचना हैं। सब नाटकों पर एक पुरुष के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। भास के नाम पर प्रचलित सब नाटक 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से आरम्भ होते हैं। इसके बाद सूत्रधार मञ्च पर आता है और मंगल पाठ करता है। सब नाटकों में 'प्रस्तावना' को 'स्थापना' कहा गया है और वह बहुत छोटी है। भरत-वाक्य में प्रायः—'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्। महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः'—पद्य मिलता है। भरत-नाट्य-शास्त्र में दिये नाटकों के रचना-कला संबंधी नियमों की प्रचलित नाटकों में प्रायः अवहेलना पाई जाती है। आकाश-भाषित का प्रयोग अधिक मिलता है। भाषा, छन्द, भाव, कल्पना और घटना आदि प्रायः सब नाटकों में सदृश हैं। ये विशेषताएँ यह बतलाती हैं कि सब नाटक एक ही कवि की लेखनी से आए हैं। ऐसी स्थिति में यदि 'स्वप्नवासवदत्तम्' भास का है तो इस नाटक-चक्र के अन्य नाटक भी भास के ही माने जाने चाहियें।

चतुर्थ वर्ग के विचारकों का मत है कि प्रस्तुत नाटकों में से एक भी भास का नहीं है। ये नाटक केरल देश के चाक्यारों की रचनायें हैं। चाक्यार केरल देश के नटों की संज्ञा है। किसी समय इन नटों ने मञ्च पर खेलने योग्य छोटे-छोटे नाटक रचे थे। श्रीगणपति शास्त्री द्वारा खोज निकाले नाटक उसी प्रकार के हैं। इसी कारण भास के नाम पर प्रचलित नाटकों में किसी कवि का नाम नहीं है। यदि ये नाटक नटमंडली (चाक्यारों) के रचे न होकर भास के रचे होते तो इनकी प्रस्तावना या स्थापना में भास का नाम होता। इन नाटकों का केवल केरल देश में ही प्राप्त होना भी इनका चाक्यारों की रचना होना ही सिद्ध करता है। यदि ये प्रसिद्ध भास कवि की रचना होते तो देश के अन्य भागों में भी इनकी कुछ प्रतियाँ प्राप्त होतीं। इसके अतिरिक्त रीति ग्रन्थों में 'स्वप्नवासवदत्तम्' के जो उद्धरण प्राप्त होते हैं वे प्रकाशित नाटक में नहीं मिलते। इन कारणों से प्रचलित नाटकों को भास की रचना नहीं माना जा सकता है।

उपर्युक्त मत भी ठीक नहीं है। श्रीगणपति शास्त्री द्वारा खोज निकाले नाटकों में किसी कवि का नाम न होना उनकी प्राचीनता सिद्ध करता है। भास कवि भरत से प्राचीन थे। संभवतः उनके समय नाटकों में कवि का नाम देने की प्रथा नहीं थी। यह प्रथा भरत के समय से चली है। यदि भरत से प्राचीन अन्य किसी कवि का नाटक मिले और उसमें कवि का नाम हो तब नाम के अभाव के कारण प्रचलित नाटकों का भास-कृत होने में सन्देह किया जा सकता है। भास के नाटकों का केवल केरल देश में प्राप्त होना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उत्तर भारत पर अनेक बार विदेशियों के भयङ्कर आक्रमण हुए। बड़े-बड़े ग्रन्थागार जला डाले गए। जीवन संकटापन्न, अस्थिर और अशान्त रहा। संभव है भास के

नाटकों की प्रतियाँ नष्ट हो गई हों। कालिदास और भवभूति के नाटकों की तुलना में भास के नाटक छोटे और सरल होने के कारण अधिक आकर्षक नहीं थे। जितना प्रयत्न कालिदास और भवभूति आदि के नाटकों की रक्षा के लिये किया गया उतना भास के नाटकों के लिये न किया गया होगा। उपेक्षा के फलस्वरूप इन नाटकों की प्रतियां उथल-पुथल के काल में नष्ट हो गई होंगी। दक्षिण में उत्तर की अपेक्षा शान्ति रही। इसलिये दक्षिण में ही इनकी प्रतियाँ सुरक्षित रह सकीं। इसके अतिरिक्त कौन कह सकता है कि किसी दिन उत्तर के किसी भाग में भी इन नाटकों की प्रतियाँ न मिल जायँगी। रीति ग्रन्थों में पाए जाने वाले 'स्वप्नवासवदत्तम्' के उद्धरणों के विषय में जो कहा गया है वह भी ठीक नहीं है। उक्त उद्धरणों की परीक्षा करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है:—

(क) भरत-नाट्यशास्त्र की टीका में अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है—क्वचित् क्रीडा। यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्। अभिनवगुप्त की यह उक्ति प्रकाशित 'स्वप्नवासवदत्तम्' के द्वितीय अंक के आरम्भ में पाई जाने वाली पद्मावती की कन्दुक क्रीडा का परामर्श करती है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की टीका में स्वप्ननाटक का एक पद्य उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है:—

सञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपतडनेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥

यद्यपि यह पद्य स्वप्ननाटक की छपी प्रति में नहीं मिलता तथापि पञ्चम अङ्क में इसके लिये उपयुक्त अवसर है। सम्भव है प्राप्त हस्त लिखित प्रति में लेखक के प्रमाद से वह छूट गया हो। इसका कारण पाठ भेद भी हो सकता है।

(ख) सर्वानन्द ने 'अमरकोशटीकासर्वस्व' में पद्मावती और उदयन के विवाह को अर्थ शृङ्गार का उदाहरण माना है। इस बात का छपे स्वप्ननाटक की कथा से मेल बैठता है। छपे नाटक में भी उदयन का पद्मावती के साथ विवाह पुनः राज्य प्राप्ति के कारण के रूप में दिखाया गया है। अतः वह अर्थ शृङ्गार है।

(ग) रामचन्द्र—गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में भास के स्वप्ननाटक से एक उद्धरण दिया है। वह इस प्रकार है:—

'यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमवलोक्य वत्सराजः—
पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता॥'

यह पद्य भी छपे स्वप्ननाटक में नहीं मिलता। परन्तु चतुर्थ अङ्क मेंइ सके लिये उपयुक्त अवसर है। संभव है लेखक के प्रमाद से हस्त लिखित प्रति में यह छूट गया हो। इसका कारण पाठ भेद भी हो सकता है।

(घ) सागरानन्दिन ने अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में स्वप्ननाटक की स्थापना से एक उद्धरण दिया है। यह उद्धरण छपे नाटक के लेख से नहीं मिलता। परन्तु इसे पढ़ने से मालूम होता है मानो लेखक मूल ग्रन्थ के अंश का अपने शब्दों में सारांश दे रहा है। क्योंकि दोनों की बात एक ही है। केवल भाषा में कुछ अन्तर है।

(ङ) भोजदेव ने अपने 'श्रृङ्गारप्रकाश' में और शारदातनय ने 'भावप्रकाश' में जो कुछ लिखा है वह भी यत्र तत्र भाषा को छोड़ कर स्वप्ननाटक के छपे पाठ से मिलता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सब लेखक भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' का परामर्श कर रहे हैं। रीतिग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों में से कुछ छपे स्वप्न नाटक में मिलते हैं और कुछ कवि की भाषा के सारांश मालूम पड़ते हैं। कुछ ऐसे भी उद्धरण हैं जो नहीं मिलते, परन्तु छपे नाटकों में उनके लिये उपयुक्त स्थान हैं। उनके न मिलने का कारण उद्धरण कर्ता के सामने भिन्न पाठ वाली पुस्तक का होना या हस्त लिखित प्रति तयार करने वाले लेखकों का प्रमाद प्रतीत होता है। इस प्रकार छपा स्वप्ननाटक भास कवि का ही स्थिर होता है। अध्ययन करने पर छपा स्वप्ननाटक और भास के नाम पर प्रचलित अन्य नाटक एक ही कवि के रचे मालूम पड़ते हैं। अतः प्रचलित सब नाटकों को भास की रचना मानना ही उचित है। (विस्तार के लिये पुसालकर का 'भास' देखें)

प्राचीन कवियों ने अपने ग्रन्थों में भास के नाटकों की कुछ विशेषताएँ बतलाई हैं। प्रायः वे सब भास के छपे नाटकों में मिलती हैं। बाणभट्ट के अनुसार भास के नाटक सूत्रधार की उक्ति से आरम्भ होते हैं। उनमें पात्रों की संख्या अधिक है। वे सपताक (प्रासंगिक वस्तु वाले) हैं। ये तीनों विशेषताएं छपे नाटकों में मिलती हैं। राजशेखर ने भासनाटकचक्र की अग्नि परीक्षा और उसमें 'स्वप्नवासवदत्तम्' के खरा उतरने की बात कही है। इस उक्ति से दो बातें झलकती हैं—पहिली बात तो यह कि भास के बहुत से नाटक थे और दूसरी बात यह कि उनमें स्वप्ननाटक सबसे अच्छा था। ये दोनों विशेषताएँ छपे नाटकों में मिलती हैं। छपे नाटक संख्या में तेरह हैं और उनमें स्वप्ननाटक ही सबसे अच्छा है। वाक्पतिराज ने 'गौडवहो' में भास को 'जलणमित्ते-ज्वलनमित्र' कहा है। यह संज्ञा इस बात की तरफ संकेत करती है कि भास के नाटकों में अग्नि का उल्लेख अनेक बार हुआ है और वह कहीं भी घातक नहीं दिखाया गया है। वर्तमान छपे नाटकों में भी यह विशेषता पाई जाती है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' में वासवदत्ता की लावाणक के अग्नि में जल जाने की झूठी खबर फैलाई गई है। अन्य नाटकों में भी यज्ञीय अग्नि का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है। जयदेव ने भास को कविता कामिनी का हास कहा है। यह उक्ति इस बात की तरफ संकेत करती है कि भास हास्य रस की अभिव्यञ्जना में

निपुण हैं। छपे नाटकों में भी यह विशेषता मिलती है। इनमें सुकुमार तथा उद्धत दोनों प्रकार के हास्य को दीप्त करने वाले अनेक प्रसंग हैं।

प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित भास के नाटकों की इन विशेषताओं की उपलब्धि भी छपे नाटकों के भास-कृत होने का समर्थन करती है।

भास की नाट्यकला

कथावस्तु—भास ने अपने नाटकों की कथावस्तु विशेष कर रामायण और महाभारत से ली है। कुछ नाटकों की कथावस्तु अपने समय में प्रचलित कथाओं से ली है। उदयन के नाटक इसी वर्ग के हैं। एक या दो नाटकों की कथावस्तु उनकी कल्पना की उपज मालूम पड़ती है। 'चारुदत्त' इसका उदाहरण कहा जा सकता है। भासने जो कथानक रामायण, महाभारत या अपने समय में प्रचलित कथाओं से लिया है उसमें उन्होंने अपनी रुचि और अपने कार्य के अनुकूल पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। ऐसा करने से प्रायः सभी कथानक आकर्षक और मंच पर खेलने के योग्य बन गए हैं। इन नाटकों में कुछ ऐसी घटनाएँ अवश्य आ गई हैं जो उस समय के भावुक प्रेक्षकों को तो सच मालूम पड़ती थीं परन्तु वर्तमान जगत के आलोचकों को अच्छी नहीं लगतीं। उदाहरण के लिये 'दूतवाक्य' में भगवान् विष्णु के अस्त्रों का प्रकट होना नवीन आलोचकों को हंसी का विषय मालूम पड़ता है। जो बात मनुष्य जीवन में कभी नहीं घटती उसे मंच पर दिखलाना अनाटकीय होता है। नाटक मनुष्य जीवन का अनुकरण है। यह सब सत्य होने पर भी इस बात को भूला नहीं जा सकता कि भास ने जिस समाज के लिये नाटक लिखे थे उस समाज को ऐसी घटनाएँ असत्य और अप्राकृतिक नहीं मालूम पड़ती थीं। आज भी अधिकांश भारतीयों का वैसा ही हृदय है। यही कारण है कि भास के अन्य नाटकों में भी अनेक अवसरों पर अलौकिक घटनाएँ दिखाई गई हैं। भास के कथानक बहुत बड़े नहीं हैं। इसीलिये उनके नाटक केवल पढ़ने के नाटक नहीं हैं। उनका सफलतापूर्वक मंच पर अभिनय किया जा सकता है।

रसाभिव्यक्ति

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के अनेक प्रयोजन बतलाए हैं। उनमें रसास्वाद मुख्य है। रस नौ हैं—शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र और शान्त। भास के नाटकों में प्रायः सभी रसों को दीप्त करने वाले दृश्य हैं। शृङ्गार रस के दो मुख्य भेद माने जाते हैं-संभोग और विप्रलंभ। कुछ आचार्यों ने शृङ्गार पाँच प्रकार का माना है-धर्म, अर्थ, काम, मुग्ध और मूढ। भास के नाटकों

में प्रायः इन सबके उदाहरण मिलते हैं। रामायण की कथा पर आश्रित नाटकों में राम और सीता का प्रेम धर्म श्रृङ्गार का उदाहरण है। उदयन के नाटकों में उदयन और वासवदत्ता का प्रेम काम श्रृङ्गार का उदाहरण है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' में उदयन और पद्मावती का प्रेम अर्थ श्रृङ्गार का उदाहरण है। मध्यमव्यायोग में दिखाया गया हिडिम्बा और भीम का प्रेम मुग्ध श्रृङ्गार है। 'दरिद्र चारुदत्त' में वसन्तसेना के लिये शकार का प्रेम मूढ़ श्रृङ्गार है। भास के नाटकों में युद्ध के अनेक वर्णन हैं। भीम और दुर्योधन, राम और रावण के युद्ध युद्धवीर के उदाहरण हैं। पिता की इच्छा पूरी करने के लिये राम का वन जाना धर्म वीर का उदाहरण कहा जा सकता है। आचार्य द्रोण पाण्डवों के लिये दुर्योधन से आधा राज्य दक्षिणा के रूप में मांगते हैं। वे यह कार्य पाण्डवों और कौरवों को युद्ध की बरबादी से बचाने के लिये करते हैं। यह उनका दयाभाव है। अतः इस घटना को दयावीर का उदाहरण कहा जा सकता है। 'दूतवाक्य' और 'बालचरित' में भगवान् विष्णु के अस्त्रों का मनुष्य रूप में प्रकट होना तथा 'अभिषेक नाटक' में वरुण और अग्नि का प्रकट होना अद्‍भुत रस के उदाहरण हैं। 'बालचरित' में नारायण के प्रति भक्ति और 'अभिषेक' नाटक में सीता-शुद्धि की घटना शान्त रस के उदाहरण हो सकते हैं। 'मध्यमव्यायोग' में राक्षस के सहसा सामने आने पर ब्राह्मण कुल का भयभीत होना भयानक रस का उदाहरण है। 'अभिषेक नाटक' में इन्द्रजीत की मृत्यु पर रावण का दुःख और 'दूत घटोत्कच' में धृतराष्ट्र और गान्धारी का विलाप करुण रस के उदाहरण हैं। 'ऊरुभंग' में युद्ध का अनुचित मार्ग स्वीकार करने पर भीम के प्रति बलराम का क्रोध रौद्र रस का उदाहरण है। 'दरिद्र चारुदत्त' में शकार और विदूषक अपने अपने ढंग से हास्यरस को दीप्त करते हैं। उसी नाटक में सूत्रधार और नटी का संवाद भी हास्यपूर्ण है।

भास कालिदास की तरह श्रृङ्गार रस के कवि नहीं हैं। इन्हें हास्य रस का कवि कहा जा सकता है। जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' में इन्हें 'भासो हासः' के द्वारा कविता कामिनी का हास कहा है। इस उक्ति के द्वारा जयदेव यह भी सूचित करते मालूम होते हैं कि अन्य रसों की अपेक्षा भास के हास्य रस के दृश्य अधिक सुन्दर होते हैं। इनके नाटकों में हास्य के सुकुमार और उद्धत दोनों रूप मिलते हैं। पूज्यपाद पं० बलदेव उपाध्याय जी ने भी अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। 'प्रतिज्ञा' का विदूषक उद्धत हास्य का और 'स्वप्ननाटक' का विदूषक सुकुमार हास्य का उदाहरण है। भास के करुण रस के दृश्य भी प्रभावोत्पादक होते हैं। उनके नाटकों में वात्सल्य और भक्ति के भी दृश्य मिलते हैं।

चरित्र चित्रण

बाण ने भास के नाटकों को बहु भूमिका वाले कहा है। यह बात बिलकुल सत्य है। भास के नाटकों में बहुत अधिक पात्र हैं। परन्तु उनमें से कोई भी व्यर्थ नहीं है। जिस नाटक में जितने पात्र दिखलाए गए हैं उसमें उतने आवश्यक हैं। भास के पात्र समाज के एक ही स्तर के मनुष्य नहीं हैं। उन्होंने अपने पात्र समाज के सभी स्तरों से लिये हैं। राजा, रानी, मन्त्री, राजकुमार, राजकुमारियां, विदूषक, कञ्चुकी, दरबान, उच्च कर्मचारी, सामान्य भृत्य आदि सभी कोटि के मनुष्य उनके नाटकों में मिलते हैं। यहां तक कि चोर, लुच्चे और वेश्याओं तक का उन्होंने चित्रण किया है। भास के स्त्री और पुरुष—दोनों प्रकार के पात्र समान रूप से सुन्दर हैं। प्रायः सब पात्र इस जगत के सजीव मनुष्य मालूम पड़ते हैं। आधुनिक समीक्षकों का मत है कि संस्कृत के नाटककार प्रायः एक ही प्रकार के पात्रों का चित्रण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने मनुष्य समाज को कतिपय प्रकार के मनुष्यों बाँट दिया है। सभी कवि घुमा फिर कर उन्हीं प्रकार के मनुष्यों का चित्र खींचते हैं। उदाहरण के लिये किसी रूपक के नायक को लीजिये। यदि वह रूपक नाटक के वर्ग का हुआ तो उसका नायक धीरोदत्त होगा, बस सभी कवियों ने नाटक वर्ग के रूपक का नायक इसी श्रेणी का पुरुष बना दिया है और उसमें वे ही गुण दिखा दिये हैं जो आचार्यों ने धीरोदात्त नायक के कहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक वर्ग के सभी रूपकों के नायक एक ही प्रकार के पुरुष प्रतीत होते हैं। संस्कृत नाटककारों ने व्यक्ति की विशेषता के चित्रण की तरफ ध्यान नहीं दिया है। नायिका, विदूषक आदि सभी पात्रों की यही दशा है। यह बात संस्कृत के अन्य नाटककारों के विषय में बहुत कुछ सत्य होने पर भी भास के विषय में सत्य नहीं है। भास इस सामान्य दोष के अपवाद हैं। उनके पात्र एक जैसे नहीं प्रतीत होते। उन्होंने व्यक्तियों का चित्रण किया है। उनका एक पात्र दूसरे पात्र से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। भास ने प्रत्येक पात्र की व्यक्तिगत विशेषताओं को ऐसी कलापूर्ण सचाई से व्यक्त किया है कि उनके व्यक्ति भी सार्वलौकिक नर-नारी हो गए हैं। वे इस जगत के सजीव स्त्री-पुरुष प्रतीत होते हैं। निम्न से निम्न स्तर के मनुष्य का भी बड़ी ही कुशलता से चित्रण किया गया है।

भास के पात्र प्रायः सादगी पसन्द और सरल स्वभाव के स्त्री-पुरुष हैं। वे व्यर्थ की बकवाद नहीं करते। नपे-तुले शब्दों में अपना वक्तव्य कह डालते हैं। भास को मनुष्य की मनःस्थिति का पूर्ण ज्ञान है। उनके पात्रों को देखने से इसमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि कौन मनुष्य किस

परिस्थिति में क्या कहेगा या क्या करेगा। वे मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व को सीधी भाषा में सरलता से व्यक्त कर देते हैं। भास के चरित्र-चित्रण की कला रामायण और महाभारत पर आश्रित नाटकों की अपेक्षा उनके समय में प्रचलित कथाओं पर आश्रित अथवा स्वकल्पित कथावस्तु वाले नाटकों में अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। रामायण और महाभारत के नाटकों में चरित्र-चित्रण के विषय में वे उन ग्रन्थों में वर्णित पात्रों की विशेषताओं से बंधे मालूम पड़ते हैं। प्रचलित कथाओं पर आश्रित अथवा स्वकल्पित वस्तु वाले नाटकों में वे स्वतन्त्र दिखाई देते हैं। भास के बाद के नाटकों में भुक्खड़पन विदूषक की एक मुख्य विशेषता दिखाई गई है। भास के विदूषक में यह दुर्गुण नहीं पाया जाता। पद्मावती और वासवदत्ता का प्रेम सौतों के लिये एक आदर्श उदाहरण है। भास की वसन्तसेना एक आदर्श गणिका है। यौगन्धरायण एक चतुर और स्वामिभक्त मन्त्री है। भास के पात्र न कालिदास के पात्रों की तरह श्रृङ्गार सागर में मग्न प्राणी हैं और न भवभूति के पात्रों की तरह पराकाष्ठा के भावुक। वे हम लोगों जैसे इस संसार के मनुष्य हैं।

भास की शैली—

भास की शैली बहुत ही सीधी-सादी है। इनकी भाषा सरल है। ये बड़े-बड़े समस्त पदों का प्रयोग नहीं करते। इनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। इनकी भाषा मुहावरेदार और प्रभावोत्पादक है। इनकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह है। ये कहावतों का बहुत प्रयोग करते हैं। इनकी भाषा और शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके समय में संस्कृत रोज के बोल-चाल की भाषा थी। जटिल भाषा महाकाव्यों और गद्य काव्यों के लिये भले ही उपयुक्त हो, नाट्य साहित्य के लिये वह सर्वथा अनुपयुक्त होती है। भास की भाषा जटिल नहीं है। अतः वह नाट्य साहित्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है। भारतीय अलङ्कार-शास्त्र की दृष्टि से इनकी भाषा प्रसाद गुण युक्त कही जा सकती है। घटना-चक्र और रस के अनुसार इनकी शैली बदलती भी रहती है। इनकी भाषा में शब्द स्वल्प होने पर भी भावाभिव्यक्ति में त्रुटि नहीं होती। भाषा अनलङ्कृत होने पर भी कटाक्षों से भरी है। अतः हठात् हृदय को आकृष्ट करती है।

उक्ति-प्रत्युक्तियाँ नाट्य-साहित्य का प्रधान अंग है। उक्ति-प्रत्युक्तियों और घटना-चक्र के द्वारा ही कथानक आगे बढ़ता है। भास के नाटकों में इन दोनों अंगों की सन्तुलित सत्ता है। इनकी उक्ति-प्रत्युक्तियाँ सीधी, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हैं। इन्होंने उक्ति-प्रत्युक्तियों में छन्दों का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया है। कभी-कभी ये एक छन्द को दो भागों में बाँट देते हैं। पूर्वार्ध एक पात्र से कहवाते हैं और उत्तरार्द्ध दूसरे से। इस प्रक्रिया से इनके पात्रों के भाषणों में

हाजिर-जवाबी झलकती है और चाकचक्य आ जाता है। भास के कुछ अपने निराले उक्ति-प्रकार हैं। जैसे स्वीकृति के लिये 'आम्' और 'बाढम्' का प्रयोग, 'यदि' और 'चेत्' दोनों का एक साथ प्रयोग, कुशल-प्रश्न के लिये 'सुखमार्यस्य' का प्रयोग इत्यादि।

भास की वर्णन-शक्ति बड़ी प्रबल है। ये जिस पदार्थ को देखते हैं उसकी विशेषताओं को शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं। किसी भी वस्तु की किन विशेषताओं का वर्णन करना चाहिये इसका निर्णय करने में ये बड़े निपुण हैं। वर्णनीय विशेषताओं का निर्णय करके ये उन्हें सरल भाषा में सीधे कह देते हैं। इनका किया किसी भी पदार्थ का वर्णन उस पदार्थ के चित्र को आँखों के सामने खड़ा कर देता है। इनके 'स्वप्न नाटक' का सायंकाल का वर्णन देखिये—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥

उपर्युक्त पद्य में सायंकाल के समय तपोवन में होने वाली उल्लेख योग्य सभी बातें आ गई हैं। इसे पढ़ते समय ऐसा अनुभव होता है मानो शाम हो गई है और हम किसी तपोवन में खड़े हैं। 'अविमारक' में आया हुआ सायंकाल का वर्णन देखिये—

पूर्वा तु काष्ठा तिमिरानुलिप्ता सन्ध्यारुणा भाति च पश्चिमाशा।
द्विधा विभक्तान्तरमन्तरिक्षं यात्यर्धनारीश्वररूपशोभाम्॥

कवि की कल्पना ध्यान देने योग्य है। सायंकाल के समय भास को अन्तरिक्ष में अर्धनारीश्वर का दर्शन हो रहा है। 'अविमारक' में वर्णित मध्याह्न में सूर्य के ताप से झुलसे हुए संसार को देखिये—

अत्युष्णा ज्वरितेव भास्करकरैरापीतसारा मही
यक्ष्मार्ता इव पादपाः प्रमुषितच्छाया दवाग्न्याश्रयात्।
विक्रोशन्त्यवशादिवोच्छ्रितगुहाव्यात्ताननाः पर्वताः
लोकोऽयं रविपाकनष्टहृदयः संयाति मूर्च्छामिव॥

इस मध्याह्न वर्णन की 'मालविकाग्निमित्र' के 'पत्रच्छायासु हंसा' इत्यादि कालिदास के मध्याह्न वर्णन से तुलना कीजिये। भास जंगल में खड़े हैं तो कालिदास राजा के बगीचे में। भास ने 'स्वप्न नाटक' में तपोवन का वर्णन इस प्रकार किया है—

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥

भास के तपोवन के वर्णन को पढ़ कर 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में वर्णित कालिदास के तपोवन के आभोग का स्मरण आ जाता है। स्वच्छन्द घूमने वाले हरिण दोनों को आकृष्ट कर रहे हैं। 'प्रतिमा नाटक' के रथ-वेग के वर्णन पर ध्यान दीजिये—

द्रुमा धावन्तीव द्रुतरथगतिक्षीणविषया
नदीवोद्वृत्ताम्बुर्निपतति मही नेमिविवरे।
अर-व्यक्तिर्नष्टा स्थितमिव जवाचक्रवलयं
रजश्चाश्वोद्धूतं पतति पुरतो नानुपतति॥

भास के रथ-वेग वर्णन का कालिदास के रथ-वेग वर्णन से मिलान कीजिये। भास की अरव्यक्ति नष्ट हो रही है तो कालिदास को अरों के बीच में दूसरे अर उत्पन्न होते दिखाई देते हैं। 'चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्तामिवारावलीम्' विक्रमोर्वशीयम्। घोड़ों के टापों से उड़ती हुई धूल पर दोनों महाकवियों का ध्यान गया है। 'स्वेषामपि प्रसरतां रजसामलङ्घ्याः'—शाकुन्तलम्। 'अविमारक' में आकाश से पृथ्वी के दृश्य का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

शैलेन्द्राः कलभोपमा जलधयः क्रीडातटाकोपमा
वृक्षाः शैवलसन्निभाः क्षितितलं प्रच्छन्ननिम्नस्थलम्।
सीमन्ता इव निम्नगाः सुविपुलाः सौधाश्च विन्दूपमा
दृष्टं वक्रमिवाभिभाति सकलं संक्षिप्तरूपं जगत्॥

आकाश से धरातल के दृश्य का यह वर्णन 'शाकुन्तल' में इन्द्र के रथ पर बैठे आकाश से उतरते समय राजा के द्वारा किये 'शैलानामवरोहतीव शिखरात्' इत्यादि भूतल के वर्णन का स्मरण दिलाता है। भास 'प्रतिमा नाटक' में परित्यक्त अयोध्या का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नागेन्द्रा यवसाभिलाषविमुखा सास्रेक्षणा वाजिनो
हेषाशून्यमुखाः सवृद्धवनितावालाश्च पौरा जनाः।
त्यक्ताहारकथाः सुदीनवदनाः क्रन्दन्त उच्चैर्दिशा
रामो याति यया सदारसहजस्तामेव पश्यन्त्यमी॥

अयोध्या नगरी रो रही है। सब प्राणी जिधर राम जा रहे हैं उसी दिशा की तरफ देख रहे हैं। इस पद्य से करुण रस का आस्वाद होता है। भास ने कई स्थानों पर समुद्र का सुन्दर वर्णन किया है। 'अभिषेक नाटक' में वे कहते हैं—

क्वचित् फेनोद्गारी क्वचिदपि च मीनाकुलजलः
क्वचिच्छङ्खाकीर्णः क्वचिदपि च नीलाम्बुदनिभः।
क्वचिद् वीचीमालः क्वचिदपि च नक्रप्रतिभयः
क्वचिद् भीमावर्तः क्वचिदपि च निष्कम्पसलिलः॥

समुद्र की प्रायः सभी विशेषताएँ स्पष्ट शब्दों में गिना दी गई हैं। इस वर्णन को पढ़ते ही समुद्र का चित्र आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। 'ऊरुभङ्ग' में भास ने युद्ध-यज्ञ का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

करिवरकरयूपो बाणविन्यस्तदर्भो हतगजचयनोच्चो वैरवह्निप्रदीप्तः।
ध्वजविततवितानः सिंहनादोच्चमन्त्रः पतितपतिमनुष्यः संस्थितो युद्धयज्ञः॥

यह युद्ध-यज्ञ का वर्णन 'चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्' इत्यादि भट्ट नारायण के रण-यज्ञ का स्मरण दिलाता है। 'अविमारक' में एक स्थल पर वर्षा काल का बड़ा सुन्दर वर्णन है—

व्योमार्णवोर्मिसदृशा निनदन्ति मेघा मेघप्ररोहसदृशाः प्रपतन्ति धाराः।
रक्षोऽङ्गनाभृकुटिवत् तडितः स्फुरन्ति प्राप्तोऽग्र्ययौवनघनस्तनमर्दकालः॥

भास की वर्णन शक्ति के ये कतिपय नमूने हैं। इनके नाटक अनेक सुन्दर चित्रों से भरे पड़े हैं। ये पदार्थ-वर्णन में जितने निपुण हैं उतने ही घटनाचक्र के वर्णन में भी। अतीत के घटनाचक्र का शब्दों द्वारा ऐसा चित्र खींचते हैं कि ऐसा अनुभव होता है मानों सब बातें सामने घट रही हैं। ये जो कुछ जिस रूप में देखते हैं उसे वैसे ही सीधी-सादी भाषा में कह डालते हैं। कालिदास और बाण की कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची होती है। भास की कविता में वह नहीं दिखाई देती। भास का लोक-चातुर्य अद्वितीय है। इनके काव्यों में जहाँ तहाँ इसी का दर्शन होता है।

स्वप्नवासवदत्तम्

'स्वप्नवासवदत्तम्' महाकवि भास का सर्वोत्कृष्ट नाटक माना जाता है। इसके विषय में कविराज राजशेखर ने कहा है—'भासनाटकचक्रेऽस्मिन् क्षेपैः क्षिप्ते परीक्षितुम्। स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः'। काव्य की परीक्षा में निष्णात विद्वानों ने जब परीक्षा करने के लिये भास के नाटकों को अग्नि में डाला तो अग्नि देव ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' को नहीं जलाया। 'स्वप्नवासवदत्तम्' को नाटक वर्ग का रूपक माना जाता है। इसमें ६ अंक हैं।

दृश्यकाव्य दो प्रकार का होता है—रूपक और उपरूपक। आचार्यों ने रूपक के दस भेद माने हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग,

समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क और वीथी। नाटक की कथावस्तु कविकल्पित नहीं होती। लोक में विख्यात वृत्तान्त को लेकर नाटक की रचना की जाती है। नाटक का नायक कोई दिव्य, अदिव्य अथवा दिव्यादिव्य पुरुष होता है। यदि नायक अदिव्य पुरुष हुआ तो वह किसी प्रख्यात वंश का राजा होना चाहिये। नाटक में प्रधान रस शृङ्गार, वीर, करुण अथवा शान्त में से कोई एक होता है। अन्य रस प्रधान रस के अंग होकर आ सकते हैं। नाटक में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं। इसकी कथावस्तु पाँच सन्धियों में विभक्त रहती है। कथा की प्रत्येक घटना परस्पर सुसंबद्ध और कथा को अन्तिम फल की तरफ बढ़ाने में आवश्यक होनी चाहिये। समय और स्थान के विस्तार के संबंध में कोई बंधन नहीं होता। कथा चाहे जितना काल और स्थान व्याप्त करने वाली हो सकती है। नाटकों में स्नान, भोजन, शयन, युद्ध, मृत्यु आदि घटनायें नहीं दिखाई जातीं। प्रत्येक नाटक के आरंभ में नान्दी और प्रस्तावना तथा अन्त में भरत वाक्य होते हैं। कथा के सरस भागों को अंकों द्वारा तथा नीरस अंशों को विष्कम्भक, प्रवेशक आदि अर्थोपक्षेपकों द्वारा दिखाया जाता है।

'स्वप्नवासवदत्तम्' की कथा

प्रथम अंक में वत्सराज उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण स्वयं परिव्राजक का वेष धारण कर आवन्तिका वेषधारिणी वासवदत्ता के साथ तपोवन में आता है। इतने में मगधराजकुमारी पद्मावती का कञ्चुकी घोषणा करता है कि—'जिसे जो कुछ मांगना हो आवे और राजकुमारी से मांगे'। यौगन्धरायण वासवदत्ता के साथ पद्मावती के सामने जाता है। वह वासवदत्ता का अपनी भगिनी के रूप में परिचय देता है। वह पद्मावती से वासवदत्ता को कुछ काल तक अपने संरक्षण में रख लेने की प्रार्थना करता है। पद्मावती कञ्चुकी के द्वारा अपनी स्वीकृति देती है। इस पर यौगन्धरायण अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। इतने में एक ब्रह्मचारी वहाँ आता है। वह तपोवन के लोगों को वासवदत्ता के वियोग से दुखी राजा उदयन का वृत्तान्त बतलाता है। इसके बाद ब्रह्मचारी चला जाता है। अनुमति पाकर यौगन्धरायण भी चला जाता है। तापसी का आशीर्वाद लेकर पद्मावती और वासवदत्ता पर्णशाला में प्रवेश करती हैं।

द्वितीय अंक के प्रवेशक में चेटी आकर पद्मावती के गेंद खेलने का समाचार देती है। आगे अंक में पद्मावती वासवदत्ता से बातें करती हुई प्रवेश करती है। शीघ्र ही धात्री आकर मगधराज द्वारा उदयन को पद्मावती के दिये जाने तथा उदयन द्वारा उसके स्वीकार किये जाने का शुभ समाचार देती है। इसके बाद

एक चेटी आती है। वह पद्मावती के कौतुक-मंगल की तयारी की सूचना देती है और वासवदत्ता को मंगल स्थान की तरफ जल्दी चलने को कहती है।

तृतीय अंक में उदयन के साथ पद्मावती के विवाह के वृत्तान्त से कुछ दुखी वासवदत्ता प्रमदवन में अपने मन को सान्त्वना देती हुई प्रवेश करती है। इतने में एक चेटी फूल लिये वहाँ आती है। वह वासवदत्ता से पद्मावती के विवाह के लिये कौतुकमालिका तयार करने को कहती है। वासवदत्ता सुन्दर हार तयार करती है। दूसरी चेटी आकर हार ले जाती है। इधर वासवदत्ता उदयन के द्वितीय विवाह के कारण दुखी होती है और दुःख को भुलाने के लिये शयनागार जाती है।

चतुर्थ अंक के प्रवेशक में राजा उदयन के विवाह पर प्रसन्नता प्रकट करता हुआ तथा अपनी अस्वस्थता पर चिन्तित विदूषक प्रवेश करता है। इतने में एक चेटी उसे खोजती हुई वहाँ आती है। वह विदूषक से पूछती है कि जामाता (उदयन) का स्नान हुआ या नहीं। विदूषक से उसे उदयन के स्नान हो चुकने का समाचार मिलता है। दोनों वहाँ से चले जाते हैं। आगे अंक में पद्मावती, वासवदत्ता और चेटी प्रमदवन में दिखाई देती हैं। यहाँ जो वार्तालाप होता है उससे पद्मावती और वासवदत्ता को राजा के प्रति एक दूसरे के प्रेम की गहराई का पता चलता है। इतने में राजा और विदूषक वहाँ आते हैं। इन्हें देख कर इनकी निगाह से बचने के लिये पद्मावती आदि माधवी लता मण्डप में जाती हैं। राजा और विदूषक भी सूर्य के प्रचण्ड ताप से बचने के लिये उसी मण्डप में प्रवेश करना चाहते हैं। इतने में चेटी राजा और विदूषक को लतामण्डप में प्रवेश करने से रोकने के लिये लता को झकझोर कर भौंरों को उड़ाती है। राजा और विदूषक लतामण्डप के बाहर ही बैठ जाते हैं। पद्मावती आदि छिप कर मण्डप के भीतर से इनकी बातें सुनती हैं। विदूषक राजा से पूछता है कि—'तुम्हें पद्मावती और वासवदत्ता में से कौन अधिक प्रिय है?' राजा पहिले तो बात को टालता है। परन्तु विदूषक के बहुत आग्रह करने पर वह पद्मावती के रूप, शील और माधुर्य की प्रशंसा करता है। साथ ही वह यह भी कहता है कि पद्मावती उसके मन से वासवदत्ता को नहीं भुलवा सकी है। इस पर पद्मावती राजा की तारीफ करती है। इसके बाद राजा विदूषक से वही प्रश्न करता है। विदूषक कुछ आगे पीछे करने के बाद वासवदत्ता को अपने सम्मान का पात्र कहता है और पद्मावती के गुणों की प्रशंसा करता है। इस परिहास से राजा की वासवदत्ता-संबंधी स्मृति ताजी हो जाती है और उसकी आंखों से आंसू निकल पड़ते हैं। विदूषक मुख धोने के लिये पानी लाने जाता है। अवसर पाकर वासवदत्ता लता-मण्डप से निकल जाती है। जाते समय वह पद्मावती को राजा

के सामने जाने को कह जाती है। इतने में विदूषक पानी लेकर आता है। इधर से पद्मावती भी जाती है। वह राजा की आंखों में अश्रु का कारण पूछती है। विदूषक बतलाता है कि कासकुसुम के रेणुओं के पड़ जाने से आँसू आ गए हैं। राजा भी इसी उत्तर को दोहराता है। इसके बाद विदूषक राजा से कहता है कि—'संभवतः अपराह्न में मगधराज आपके साथ अपने मित्रों से मिलना चाहेंगे।' इस पर सब लोग वहाँ से जाते हैं।

पञ्चम अंक के प्रवेशक में पद्मिनिका और मधुरिका आती हैं। उनके वार्तालाप से मालूम होता है कि पद्मावती शीर्षवेदना से पीड़ित है। उसके लिए समुद्र-गृह नाम के कमरे में शय्या बिछाई गई है। पद्मिनिका मधुरिका से कहती है कि—'जाओ आवन्तिका (वासवदत्ता) को बुला लाओ, जिसमें वह मीठी कथाएं सुनाकर पद्मावती की शीर्षवेदना हलकी करे। मधुरिका वासवदत्ता को बुलाने जाती है और पद्मिनिका वसन्तक (विदूषक) की खोज करती है। विदूषक से भेंट होने पर पद्मिनिका उसे पद्मावती की अस्वस्थता का समाचार सुनाती है उससे उसे राजा तक पहुँचाने को कहती है। आगे पद्मिनिका शीर्षानुलेपन लाने जाती है और विदूषक राजा को पद्मावती का समाचार सुनाने जाता है।

प्रवेशक के बाद पंचम अंक आरंभ होता है। वासवदत्ता के वियोग में दुखी राजा मञ्च पर आता है। इतने में विदूषक आकर पद्मावती की अस्वस्थता का समाचार देता है। दोनों समुद्र-गृह की ओर जाते हैं। वहाँ पद्मावती को न पाकर उसकी प्रतीक्षा करने के अभिप्राय से राजा पद्मावती के लिए बिछाई शय्या पर लेट जाता है। सायंकाल की ठंढी हवा लगते ही उसे निद्रा आ जाती है। विदूषक भी सर्दी से बचने के लिये अपना दुपट्टा लाने चला जाता है। इतने में आवन्तिका के वेष में वासवदत्ता और चेटी वहाँ आती हैं। चेटी वासवदत्ता को समुद्रगृह में जाने को कह कर स्वयं शीर्षानुलेपन लाने चली जाती है। वासवदत्ता समुद्रगृह में प्रवेश करती है। वहाँ सोये राजा को पद्मावती समझ कर उसके पास लेट जाती है। परन्तु राजा को पहिचान कर तुरत उठ बैठती है। राजा भी स्वप्न में वासवदत्ता को देखता है। प्रणय भरे वाक्यों में उससे बोलता है। कुछ देर बाद वासवदत्ता के मन में शंका होती है कि कहीं उसे वहाँ बैठी कोई देख न ले। इसलिये वह शय्या से लटकते राजा के हाथ को शय्या पर रख कर वहां से चली जाती है। राजा भी सहसा उठ कर पुकारता हुआ उसके पीछे दौड़ता है। परन्तु द्वारपक्ष से टकरा कर रुक जाता है। इतने में विदूषक आता है। राजा वासवदत्ता को देखने की घटना का वर्णन करता है और उसके जीवित होने की संभावना प्रकट करता है। विदूषक उसे समझाते हुए कहता है कि स्वप्न में देखी होगी।

राजा और विदूषक महल में जाते हैं। वहां कञ्चुकी राजा को मगधराज दर्शक का संदेश सुनाता है। वह कहता है कि—'रुमण्वान् बड़ी सेना लेकर आ पहुंचा है। मगध की भी सेना तयार है। अब आप उठें और अपने शत्रु आरुणि पर चढ़ाई करें'। इस पर राजा तुरत उठता है और प्रयाण करता है।

षष्ठ अंक के विष्कम्भक में राजा महासेन प्रद्योत का रैभ्य नाम का कञ्चुकी उदयन को महासेन का संदेश देने आता है। वह प्रतीहारी से कहता है कि—'जा कर राजा उदयन को खबर दो कि राजा महासेन के यहां से उनका कञ्चुकी और महारानी अंगारवती की भेजी धात्री आए हैं'। प्रतीहारी राजा तक संदेश पहुंचाने में असमर्थता प्रकट करती है। वह कहती है कि—'घोषवती वीणा के मिलने से राजा का वासवदत्ता सम्बन्धी दुख ताजा हो गया है। अभी जाने का अवसर नहीं है'। इस पर कञ्चुकी कहता है कि—'जो संदेश हम लाए हैं वह भी उसीके संबंध का है। तुम जाओ'। प्रतीहारी राजा से निवेदन करने जाती है। आगे अंक में विलाप करता हुआ राजा प्रवेश करता है। विदूषक आकर उसे समझाता है। राजा उसे घोषवती वीणा की मरम्मत कराने भेज देता है। विदूषक के जाने के बाद प्रतीहारी आकर कञ्चुकी और धात्री के आने की सूचना देती है। राजा पद्मावती को बुलवाता है। उसके आने पर राजा कञ्चुकी और धात्री को लाने की आज्ञा देता है। वे दोनों आकर राजा को महासेन का संदेश देते हैं। वे कहते हैं कि—'महासेन ने तुम्हारा और वासवदत्ता का चित्र बनवा कर विवाह कर दिया है'। यह कह कर वे राजा के सामने चित्र रख देते हैं। वासवदत्ता का चित्र देखते ही पद्मावती को आवन्तिका की याद आ जाती है। वह राजा से कहती है कि—'ऐसे रूपवाली स्त्री तो यहीं रहती है'। इस पर राजा उसे लाने को कहता है। इतने में ब्राह्मण-वेषधारी यौगन्धरायण अपनी बहिन को लेने आता है। उधर से पद्मावती आवन्तिका-वेषधारिणी वासवदत्ता को लेकर आती है। महासेन की धात्री वासवदत्ता को पहिचान लेती है। शीघ्र ही यौगन्धरायण भी पहिचान लिया जाता है। सर्वत्र आनन्द छा जाता है।

नाटक का नाम

रूपकों के नाम के विषय में आचार्यों का मत है 'नाटक' वर्ग के रूपकों का नाम गर्भित अर्थ को प्रकाशित करने वाला होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि नाटक के घटना-चक्र में जो घटना सबसे महत्त्व पूर्ण प्रतीत हो उसी के आधार पर नाटक का नाम करण करना चाहिये। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' 'वेणीसंहार' आदि नाम इसके उदाहरण हैं। 'प्रकरण' वर्ग के रूपकों का नाम करण नायक तथा नायिका के नाम पर किया जाता है। भवभूति का 'मालती माधव' इसका उदाहरण

है। परन्तु व्यवहार में इस सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया है। 'मृच्छकटिक' प्रकरण का नाम नायक, नायिका के नाम पर न रखा जा कर घटना विशेष के आधार पर गर्भित अर्थ को प्रकट करने वाला रखा गया है। अतः रूपकों के नाम के विषय में इतना ही कहना उचित प्रतीत होता है कि उनका नाम नायक और नायिका के नाम पर अथवा घटना विशेष के आधार पर रखा जाना चाहिये।

प्रकृत नाटक का नाम 'स्वप्नवासवदत्तम्' है। यह इस नाटक की कथा के एक घटना विशेष के आधार पर रखा गया है। इस नाटक के पञ्चम अंक में राजा शीर्ष-वेदना से पीडित पद्मावती को देखने के लिये समुद्रगृह जाता है। वहाँ उसको न पाकर उसकी प्रतीक्षा करने के हेतु से उसके लिये बिछी शय्या पर लेट जाता है। शीघ्र ही उसे निद्रा आ जाती है। उसका मित्र विदूषक सायंकाल की ठंढक से बचने के लिये अपना दुपट्टा लाने चला जाता है। इसके बाद वासवदत्ता पद्मावती का समाचार लेने वहाँ आती है। वह राजा को पद्मावती समझ कर उसके पास लेट जाती है। परन्तु उसे पहिचान कर शीघ्र ही उठ बैठती है। राजा भी स्वप्न में वासवदत्ता को देखता है। वह प्रणय भरी भाषा में उससे कुछ कहता है। इतने में वासवदत्ता को शंका होती है कि कहीं उसे वहाँ बैठी कोई देख न ले। इसलिये वह वहाँ से चली जाती है। राजा भी सहसा उठ कर उसके पीछे दौड़ता है। परन्तु द्वारपक्ष से टकरा कर रुक जाता है। प्रकृत नाटक में यह बड़ी सरस घटना है। इसी के आधार पर इस नाटक का नामकरण किया गया है।

प्रकृत नाटक की संज्ञा के विषय में यह प्रश्न उठता है कि आरुणि द्वारा छीने गए राज्य की पुनः प्राप्ति के लिए वासवदत्ता राजा से अलग की गई है। आरुणि द्वारा राज्य के छीने जाने पर यौगन्धरायण आदि मंत्री उसकी पुनः प्राप्ति के विषय में चिंतित थे। इसी बीच भविष्यवक्ताओं ने यह घोषणा की कि मगधराज दर्शक की बहिन पद्मावती राजा उदयन की भार्या होगी। इस घोषणा से यौगन्धरायण आदि के सामने उपस्थित प्रश्न सुलझ गया। उन्होंने सोचा कि यदि पद्मावती का विवाह उदयन से हो जाय तो मगधराज की सहायता से आरुणि को हरा कर खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु वासवदत्ता के रहते राजा दूसरा विवाह करने को तैयार न होता। क्योंकि वासवदत्ता पर उसका बहुत प्रेम था। इसीलिए मन्त्रियों ने वासवदत्ता को राजा से अलग करने का निश्चय किया। यह रहस्य वासवदत्ता को भी मालूम था। ऐसी स्थिति में खोए हुए राज्य की पुनः प्राप्ति ही इस नाटक का मुख्य कार्य कहा जाना चाहिये। तो फिर उसके आधार पर इस नाटक को 'उदयनोदयम्' संज्ञा क्यों नहीं दी गई? इस प्रश्न पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि

आरम्भ में राज्य की पुनः प्राप्ति ही मुख्य लक्षण था, तथापि कवि ने उस घटना को अपने नाटक का मुख्य कार्य नहीं माना है। उसने नायक अथवा अन्य किसी पात्र से उसके लिये विशेष प्रयत्न भी नहीं करवाया है। उस घटना का उल्लेख स्पष्ट रूप से केवल पंचम अंक के अन्त में एक बार किया है। वहाँ भी वह मुख्य कथा से हटी हुई पार्श्व की चीज मालूम पड़ती है। इस प्रकार कवि ने राज्य की पुनः प्राप्ति को बहुत ही पृष्ठ-भूमि में डाल दिया है। अतः उसके आधार पर इस नाटक को 'उदयनोदयम्' नहीं कहा जा सकता।

'स्वप्नवासवदत्तम्' का नाम 'पद्मावती परिणय' भी नहीं रखा जा सकता। क्योंकि उदयन के साथ पद्मावती का विवाह भी इस नाटक का मुख्य कार्य नहीं है। न उदयन ही पद्मावती पर आसक्त है और न पद्मावती ही उदयन से विवाह करने के लिये बहुत उत्सुक है। पद्मावती का विवाह तो माता-पिता द्वारा स्थिर किये जाने वाले विवाह के प्रकार की एक नीरस घटना है। इसके अतिरिक्त यदि उस घटना को इस नाटक का मुख्य कार्य माना जाय तो यह नाटक तृतीय अंक के अन्त में ही समाप्त हो जाना चाहिये। परन्तु यह नाटक तो ६ अंकों तक चला जाता है। अतः इस नाटक को 'पद्मावतीपरिणय' भी नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोगों का मत है कि इस नाटक को 'उदयनवासवदत्तम्' संज्ञा दी जा सकती है। विचार करने पर यह संज्ञा भी ठीक नहीं प्रतीत होती। यदि इस नाटक में वासवदत्ता के उदयन के साथ प्रथम मिलन की कथा होती तो उपर्युक्त संज्ञा उपयुक्त होती। वासवदत्ता तो उदयन के साथ थी ही। उसे उससे बुद्धि पूर्वक अलग किया गया है। उसके पुनः मिलन की कथा इस नाटक में है। वासवदत्ता का पुनः मिलन ही इस नाटक का मुख्य कार्य है। 'उदयनवासवदत्तम्' संज्ञा पुनर्मिलन की घटना को ठीक ठीक व्यक्त नहीं करती। अतः यह संज्ञा भी उपयुक्त नहीं है।

स्वप्न में वासवदत्ता के दर्शन के आधार पर जो नाम दिया गया है वह बिलकुल ठीक है।

मुख्य पात्रों का चरित्र

वासवदत्ता

वासवदत्ता इस नाटक की प्रधान नायिका है। यह उज्जयिनी के राजा प्रद्योत महासेन की लड़की थी। उदयन वत्सराज इसे विवाह कार्य सम्पन्न होने के पहिले ही पिता के घर से उड़ा लाया था। उस समय क्षत्रियों में इस प्रकार का विवाह अनुचित नहीं समझा जाता था।

वासवदत्ता को अपने उच्च कुल का अभिमान है। प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही तपोवन में राजपुरुषों द्वारा की जाने वाली उत्सारणा सुन कर इसे दुःख होता

है। वह कहती है—"तथा परिश्रमः परिखेदं नोत्पादयति यथाऽयं परिभवः"। चाहे परिचय हो या न हो यह अपने बराबरी वालों को देख कर प्रसन्न होती है। उनसे स्नेह करती है। उनको देख कर इसके मन में ईर्ष्या नहीं उत्पन्न होती। प्रथम अङ्क में पद्मावती को देख कर यह कहती है—"राजदारिकेति श्रुत्वा भगिनिकास्नेहोऽपि मेऽत्र सम्पद्यते'। यह दूसरे के गुणों की तारीफ करती है। प्रायः स्त्रियां अपने को ही सबसे अधिक सुन्दरी समझती हैं। वे दूसरी स्त्रियों के सौन्दर्य को नगण्य समझती हैं। परन्तु वासवदत्ता में यह दोष नहीं है। यह पद्मावती को देख कर उसके रूप की सराहना करती है। प्रथम अङ्क में यह कहती है—अभिजनानुरूपं खल्वस्या रूपम्'।

वासवदत्ता एक सती नारी है। वह पर पुरुष दर्शन नहीं करती। प्रथम अङ्क में ब्रह्मचारी के तपोवन में प्रवेश करने पर वह लजाते हुए 'हं' कह कर अपनी अरुचि प्रकट करती है। उसी समय पद्मावती कहती है—'अम्मो! परपुरुषदर्शनं परिहरत्यार्या' इस घटना से पद्मावती को विश्वास हो जाता है कि वासवदत्ता की रक्षा करना कठिन नहीं है।

वासवदत्ता के हृदय में राजा के प्रति अपार प्रेम है। प्रथम अङ्क में ब्रह्मचारी के मुख से राजा के मूर्च्छित होने की बात सुनकर वह रोने लगती है और अपने मन में दुःख से कहती है कि अब यौगन्धरायण का मनोरथ पूर्ण हो (पृ० ४५, ४६) पञ्चम अङ्क में पद्मावती की अस्वस्थता का समाचार सुनकर वह राजा के लिये चिन्तित हो जाती है। वह कहती है—'विरहपर्युत्सुकस्यार्यपुत्रस्य विश्रमस्थानभूतेयमपि नाम पद्मावत्यस्वस्था जाता' (पृ० १८५)। चतुर्थ अङ्क में पद्मावती से बातें करते समय वह कहती है कि—'राजा तुम्हें जितना प्यारा है उससे भी अधिक वासवदत्ता को प्यारा है' (पृ० ११२)। वासवदत्ता को अपने सुख की अपेक्षा राजा का हित अधिक अभीष्ट है। यह जान कर कि गए राज्य की पुनः प्राप्ति के लिये मगधराज दर्शक की मित्रता आवश्यक है और यह तभी संभव है जब राजा का पद्मावती से विवाह हो तो वह इसके लिये भी तयार हो जाती है। इतना ही नहीं वह अपना सुख छोड़ कर यौगन्धरायण के साथ दर-दर भटकना और अपनी भावी सौत पद्मावती के घर धरोहर के रूप में रह कर उसकी सेवा करना भी स्वीकार करती है। अपने विषय में राजा के मुख से निकली एक प्रेम भरी बात उसे सोत्साह और सानन्द सब प्रकार का दुःख सहन कराने के लिये पर्याप्त है। चतुर्थ अङ्क में राजा के मुख से—'पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः। वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति'—सुन कर वह कहती है—'भवतु भवतु, दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य। अहो! अज्ञातवासोऽप्यत्र बहुगुणः सम्पद्यते' (पृ० १३९-१४०)। वह अपने स्वार्थ के लिये पद्मावती को राजा से विरक्त नहीं करती। उसके सामने राजा

को तारीफ करके राजा के प्रति उसका अनुराग बढ़ाती है (पृ० ७३) वह असमय पर राजा के सामने नहीं जाना चाहती। क्योंकि वह डरती है कि कहीं राजा के हित के लिये की हुई यौगन्धरायण की प्रतिज्ञा निष्फल न हो जाय (पृ० १८८)। वासवदत्ता के मन में इस बात का पूर्ण विश्वास है कि जिस प्रकार वह राजा को प्रेम करती है उसी प्रकार राजा भी उसे चाहता है। प्रथम अङ्क में ब्रह्मचारी के यह कहने पर कि वासवदत्ता के मृत्यु का समाचार सुन कर राजा भी अग्नि में कूद कर प्राण देना चाहता था, वह कहती है—'जानामि जानाम्यार्यपुत्रस्य मयि सानुक्रोशत्वम्'। उसके मन में यह भावना दृढ़रूप से बद्धमूल है कि राजा भी उसे उतना ही प्रेम करता है जितना वह उसे करती है। यह भावना ही उसे, यह समाचार मिलने पर कि पद्मावती का राजा उदयन से विवाह पक्का हो गया है, चकित और दुखी करती है। उसे इस बात का दुःख नहीं होता कि पद्मावती का उदयन के साथ विवाह हो रहा है। क्योंकि इसके लिये तो उसने स्वयं ही यौगन्धरायण की प्रेरणा से प्रयत्न किया था। उसे दुख इस बात का है कि राजा ने पद्मावती का स्वयं वरण किया। पीछे यह मालूम होने पर कि राजा ने पद्मावती को स्वयं नहीं चुना, प्रत्युत मगधराज द्वारा देने का प्रस्ताव करने पर स्वीकार किया, तो उसे संतोष होता है। वह कहती है—'एवम्! अनपराद्ध इदानीमार्यपुत्रः' (पृ० ७५-८०)।

कवि ने वासवदत्ता को एक आदर्श सौत के रूप में चित्रित किया है। उसे पद्मावती को देख कर डाह नहीं होता। प्रथम अङ्क में राजा के साथ पद्मावती के भावी विवाह का समाचार सुनकर वह उसे आत्मीय समझने लगती है (पृ० २०-२१)। वह पद्मावती के विवाह के समय उपयोग के लिये स्वयं माला गूथती हैं। वह माला में अविधवाकरण नामक औषध गूंथती है। वह सपत्नीमर्दन नाम का औषध नहीं गूंथती (पृ० ९२, ९३)। चतुर्थ अङ्क में वह पद्मावती को राजा से एकान्त में मिलने का अवसर देती है। जब पद्मावती अवसर पा कर कुञ्ज के बाहर खिसक जाने का प्रस्ताव करती है तो वासवदत्ता उसे मना करती है। वह उसे अकेले ही राजा से मिलने की सलाह देती है और स्वयं वहाँ से खिसक जाती है (पृ० १५०-१५२)। यद्यपि पद्मावती उसकी सौत है तथापि उसकी बीमारी का समाचार सुन कर वासवदत्ता उद्विग्न हो जाती है। वह उसका हाल जानने के लिये चेटी के साथ त्वरापूर्वक समुद्रगृह जाती है। वहाँ उसे अकेली पाकर मन में परिजनों पर नाराज होती है।

भारतीय दृष्टि से वासवदत्ता परिणीता होने के कारण राजा की स्त्री है। उसमें

'मध्या' और 'प्रगल्भा' के मिश्रित गुण दिखाई देते हैं वह स्वभाव से धीरा वर्ग की नायिका है।

पद्मावती

पद्मावती मगध के राजा दर्शक की बहिन है। यह एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री है। वासवदत्ता भी इसके रूप की प्रशंसा करती है। प्रथम अंक में पहिले पहिल इसे देखते ही वासवदत्ता कहती है—'नहि रूपमेव, वागपि खल्वस्या मधुरा' (पृ० १९)। चतुर्थ अंक में राजा भी पद्मावती के रूप की सराहना करता है। वह कहता है—'पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः' (पृ० १३९)। इतना ही नहीं विदूषक भी इसके सौंदर्य से प्रभावित हुआ है। चतुर्थ अंक में वह कहता है—'तत्र भवती पद्मावती तरुणी, दर्शनीया, अकोपना, अनहङ्कारा, मधुरवाक्, सदाक्षिण्या' (पृ० १४५)। यह मधुरभाषिणी भी है। वासवदत्ता, राजा और विदूषक सब इसके इस गुण की तारीफ करते हैं (पृ० १९, १३९, १४५)। कम उम्र की होने पर भी इसका सांसारिक व्यवहार का ज्ञान प्रौढ़ है। प्रथम अंक में ब्रह्मचारी के आने पर वासवदत्ता परपुरुष-दर्शन में अपनी अरुचि प्रकट करती है। इस पर पद्मावती कहती है—'अम्मो ! परपुरुपदर्शनं परिहरत्यार्या। भवतु, सुपरिपालनीयः खलु मन्न्यासः' आशय यह है कि जो स्त्रियां अपरिचित पुरुषों से उत्साहपूर्वक मिलती-जुलती हैं उनकी रक्षा करना कठिन होता है। जो स्त्रियां इस प्रवृत्ति की नहीं होतीं उनकी रक्षा आसानी से की जा सकती है। यह बात पद्मावती के प्रौढ़ व्यावहारिक ज्ञान का परिचय देती है।

पद्मावती की बुद्धि तीव्र है। वह बात के रहस्य को शीघ्र समझ लेती है। कोई कठिन प्रश्न उपस्थित होने पर उसका हल भी शीघ्र निकाल लेती है। चतुर्थ अंक में विदूषक राजा को यह बतलाने के लिये बाध्य करता है कि उसे पद्मावती और वासवदत्ता में से कौन अधिक प्रिय है। उस समय राजा बतलाने में हिचकिचाता है। उस पर पद्मावती कहती है—'एतावता भणितमार्यपुत्रेण' (पृ० १३६)। वह राजा की हिचकिचाहट से उसके मनोगत भाव को समझ लेती है। वह जान जाती है कि राजा के मन से वासवदत्ता का ध्यान अभी दूर नहीं हुआ है। यदि उसे पद्मावती अधिक प्रिय होती तो वह इस बात को स्पष्ट शब्दों में कह देता। वासवदत्ता तो जीवित है नहीं। उसके नाराज होने का कोई भय नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वह वासवदत्ता को अधिक प्रेम करता है। इस बात को वह स्पष्ट शब्दों में कह नहीं सकता। क्योंकि ऐसा करने पर पद्मावती के रुष्ट होने का भय है। इसीलिये राजा स्पष्ट बतलाने में हिचकिचाता है। यह सब पद्मावती समझ जाती है। इससे उसकी तीव्र बुद्धि का परिचय मिलता है। षष्ठ अङ्क में

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीभासप्रणीतं

स्वप्नवासवदत्तं

नाम

नाटकम्

'प्रबोधिनी' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतम् ।

[नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।]

श्रीमद्भिल्लीवेषं वर्हविभूषं करोल्लसद्धनुषम् ।
शरणं गुञ्जाहारं परं प्रकाशं प्रपद्यतां चेतः ॥ १ ॥
संविदानन्दजननं वन्दे किमपि तुन्दिलम् ।
प्रत्यूहव्यूहदमनं धाम सिन्दूरसुन्दरम् ॥ २ ॥

तत्रभवान् भासकविर्लोकानुरञ्जनाय 'स्वप्नवासवदत्ता'ख्यं नाटकं प्रारिप्सुर्भूमिकामारचयति—**नान्द्यन्ते तत** इत्यादिना । तत्र तावत् नाटकं नाम—'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् । विलासर्द्ध्यादिगुणवद् युक्तं नानाविभूतिभिः । सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।' इत्यादिसाहित्यदर्पणोक्तलक्षणलक्षितम् । प्रारम्भे हि विघ्नविघातैकप्रयोजनं मङ्गलं नितरामावश्यकं नाटकीयरचनानियमप्राप्तं च कर्तव्यं प्रथममुद्दिशन् कवि'र्नान्दी'ति समारब्धवान् । तत्र का नाम नान्दी ? नन्दयति हर्षयति देवादीनिति नान्दी स्तुतिरूपेत्यर्थः । तस्याश्च लक्षणमुक्तवान् दर्पणे विश्वनाथः—'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥' इति । तस्याः अन्ते समाप्तौ, नान्दी-

---

बन्दौं श्रीगणनाथ को प्रणतभक्तपरिपाल ।
सुसपनवासवदत्त की भाषा करहुँ रसाल ॥

(मङ्गल—गानवादन के बाद सूत्रधार आता है ।)

सूत्रधारः—

उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम् ।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम् ॥ १ ॥

विधानानन्तरमित्यर्थः । तत इति । नान्द्यां च नेपथ्य एवावसितायां, ततः तस्मात् स्थलात् नेपथ्यादिति यावत् । अथवा ततो नाम नान्दीविधानाऽव्यवहितोत्तरकाल इति । तसिल्प्रत्ययस्य सार्वविभक्तिकत्वात् सप्तम्यर्थाश्रयणम् । प्रविशति रङ्गमञ्चं समागच्छति । कस्यात्र प्रवेश इत्याकाङ्क्षायामाह—सूत्रधार इति । सूत्रधारस्तु नाटकीयपदार्थानुष्ठानसंविधानकादिकार्यनिर्वाहकुशलः । सूत्रं नाटकबीजं तद् धारयति वहति उपन्यस्यतीत्यर्थः । तथा च तल्लक्षणं केनाप्येवमभिहितम्—'नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत् सूत्रं स्यात् सबीजकम् । रङ्गदैवतपूजाकृत् सूत्रधार इहोदितः ॥' इति ।

नाटके सर्वत्रैव यस्योक्तिः प्रदर्शनीयत्वेनाभिमता भवति तदुल्लेखपुरःसरं केवलमेवं (—) वक्ररेखारूपं चिह्नं तत्पुरस्तात् प्रदीयत इति तेन तदुक्तिर्ज्ञेया । यथा सूत्रधारः—इति । सूत्रधारः कथयतीति तदर्थः ।

सूत्रधारेण स्थापकेन वा वस्त्वादिनिर्देशः कार्य इति नाटकनियमस्यावश्याभ्युपगम्यत्वेन 'सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा' इत्युक्तदिशा प्रधानपात्रनामधेयसूचनपुरःसरं मङ्गलं निबध्नन् निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामः कविः पदविन्यासकौशलेन सूत्रधारद्वारा पात्रोपक्षेपरूपं वस्त्वंशनिर्देशं समाचरति—उदयेति । उदयनवेन्दुसवर्णौ, उदये उदयकाले यो नवो नूतनो बाल इति यावत् इन्दुः चन्द्रमाः तेन समानो वर्णो ययोस्तौ औदयिकचन्द्रसदृशकान्तिमन्तौ, आसवदत्ताऽबलौ आसवेन मद्येन दत्तमुत्पादितमबलं बलाभावोऽलसता याभ्यामेवम्भूतौ मद्यपानजनितशैथिल्यभावभाजौ, पद्मावतीर्णपूर्णौ, पद्मस्य कमलस्य अवतीर्णमवतारः, भावे क्तः, तेन पूर्णौ परिपूर्णौ कमलरूपेण समुपस्थितौ कमलतुल्यौ कोमलावित्यर्थः, वसन्तकम्रौ, वसन्त इव कम्रौ मनोहरौ शोभावहत्वात्, बलस्य बलरामस्य, भुजौ बाहू, 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः, त्वां नाटकावलोकनकुतूहलेनोपस्थितं सामाजिकवर्गमित्यर्थः, पातां रक्षताम् । पातेर्लोटः प्रथमपुरुषद्विवचने रूपम् । कवेः पदरचनाचातुर्यविषया

सूत्रधार—तत्काल उदित होनेवाले चन्द्रमा के सदृश कान्तिवाली, मदिरापान से आलसी होनेवाली, साक्षात् कमल के समान भासमान, वसन्तकाल के सदृश सौन्दर्यपरिपूर्ण बलरमा

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये ! किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते ? अङ्ग ! पश्यामि ।

[नेपथ्ये]

(क) उस्सरह उस्सरह अय्या ! उस्सरह ।

(क) उत्सरतोत्सरतार्याः ! उत्सरत ।

उदयन-वासवदत्ता-पद्मावती-वसन्तकानां मुख्यपात्राणां सूचनादत्र मुद्रालङ्कारः । तल्लक्षणं च-'सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः' । इति । आर्यावृत्तमिदम् । तल्लक्षणं यथा **श्रुतबोधे**—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥' इति ॥ १ ॥

इदानीं सूत्रधारः प्रधानपात्रनामधेयसूचनसहचरितं मङ्गलं निवध्य प्रकृतनाटकीयकथावस्तुसूचनोपक्रमं प्रतिजानान आह—**एवमिति** । आर्यमिश्रान् कुलशीलाद्यार्यगुणसम्पन्नान् श्रेष्ठान् सामाजिकानित्यर्थः, एवं बुद्धिस्थेन वक्ष्यमाणेन वा प्रकारेण, विज्ञापयामि निवेदयामि । नाटकावलोकनकौतूहलेन समुपस्थितानां सामाजिकसहृदयानाम् अभिधास्यमानविधया मनोऽनुरञ्जयामीति भावः । तदानीमेव नेपथ्ये स्ववर्गीयजनोत्थापितं कमपि शब्दविशेषं निशम्य तदर्थं जानन्नप्ययमज्ञानमभिनयति—**अये** इति । आश्चर्याभिनयसूचकमव्ययमिदम् । किन्नु खलु किं नामेदं, किं कारणं वेत्यर्थः, मयि सूत्रधारे, विज्ञापनव्यग्रे निवेदनोन्मुखे सति, सामाजिकान् प्रति कथावस्तु विज्ञापयितुं मनसि कृतविचारे सतीत्यर्थः, शब्द इव श्रूयते कुतोऽपि कोऽपि ध्वनिरिवाकर्ण्यते । 'किमीयः कीदृशोऽय'मिति विशेषाकारेणाऽनिश्चितं कमपि शब्दमहं शृणोमीत्यर्थः । अङ्ग भोः, पश्यामि जानामि; दृशेर्ज्ञानार्थत्वादयमर्थः । कुतस्त्यः कीदृशोऽयं शब्द इति निश्चिनोमीत्यर्थः ।

नेपथ्ये तमेव शब्दाकारमाह—**उस्सरहेत्यादि** । त्रिरुक्तिस्त्वराविशेषं द्योतयति । उत्सरणमपसरणम् । 'ननु भोः ! इतः स्थानात्तूर्णमपसरत । मध्येमार्गं न

(दाऊ) जी की भुजायें आपका (दर्शकों का) रक्षण करें ॥ १ ॥

आप सज्जनों से मेरा यह विज्ञापन है । ऐं ! यह शब्द, जब कि मैं आप लोगों से कुछ कह रहा हूँ, इसी समय कहाँ से सुनाई पड़ रहा है ? अच्छा देखता हूँ ।

(नेपथ्य में)

हटो, हटो लोगो ! हटो ।

सूत्रधारः—भवतु, विज्ञातम् ।

भृत्यैर्मगधराजस्य स्निग्धैः कन्यानुगामिभिः ।
धृष्टमुत्सार्यते सर्वस्तपोवनगतो जनः ॥ २ ॥

स्थातव्य'मित्येवं लोकानामपसारणम् । नेपथ्यं च नाटकीयपात्राणां तत्तद्वेषभूमिकाग्रहणसाधनं स्थानम् ।

पूर्वोक्तं शब्दविशेषं श्रुत्वाह सूत्रधारः—**भवत्विति** । भवतु अस्तु, शब्द इति शेषः । नेपथ्यसमुत्थोऽयमपरोक्षोऽप्यस्तु नाम शब्दः, विज्ञातम् किंविधः कस्यायं शब्द इति मया तर्कितमित्यर्थः ।

तदेवाह—**भृत्यैरिति** । स्निग्धैः स्नेहपूर्णैः आप्तैर्विश्वस्तैरित्यर्थः, अत एव कन्यानुगामिभिः, अनुगन्तुं शीलमेषां तेऽनुगामिनः परिचारकाः, 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति ताच्छील्ये णिनिः, कन्यायाः कुमार्याः पद्मावत्या अनुगामिनस्तैः पद्मावतीपरिचारकैरित्यर्थः । उत्सारणाकारिणां भृत्यानां पुरोयायित्वस्यौचित्यादत्र पश्चाद्गमनकारितारूपलक्षणलक्षितेनाऽनुगामिपदेन परिचारकरूपोऽर्थो लक्ष्यते । तेनानुगामिशब्दोऽयं लाक्षणिको मन्तव्यः । अत एव 'कन्यामनुगन्तुं शीलमेषा'मिति नात्र विग्रहः कार्यः । मगधराजस्य मगधदेशाधीश्वरस्य दर्शकस्य, 'मगधानां राजे'ति राजान्तात्तत्पुरुषाट्टच्, भृत्यैः सेवकैः भटैरिति यावत्, तपोवनगतः आश्रमस्थः, सर्वः सकलो बालवृद्धादिः, जनस्तापसलोकः, धृष्टं निःशङ्कं यथा तथेति क्रियाविशेषणम्, उत्सार्यते दूरीक्रियते मार्गमध्यादपसार्यत इत्यर्थः । कर्मणि प्रयोगोऽयम् । उत्सारणायां धृष्टत्वं चात्र भृत्यानां प्रभुनिर्देशवशवर्तिनामस्वतन्त्राणां युज्यत एव । पद्मावतीप्रवेशसौकर्योपयोगिनीयं तापसजनोत्सारणा भटैराचर्यमाणा नेपथ्ये प्रवर्तते, तस्या एव शब्दोऽयं श्रूयमाणोऽस्तीति सूत्रधारस्योक्तेराशयः । अनुष्टुब् वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा **श्रुतबोधे**—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥' इति ॥ २ ॥

सूत्र०—अच्छा, मालूम हुआ ।

कन्या का अनुयायी मगधराज का प्रिय सेवकवर्ग तपोवन में रहनेवाले सभी लोगों को ढिठाई से हटा रहा है ॥ २ ॥

[निष्क्रान्तः।]

स्थापना।

[प्रविश्य]

भटौ—(क) उस्सरह उस्सरह अय्या ! उस्सरह।

[ततः प्रविशति परिव्राजकवेषो यौगन्धरायण आवन्तिकावेषधारिणी वासवदत्ता च।]

(क) उत्सरतोत्सरतार्याः ! उत्सरत।

निष्क्रान्त इति। एवं भाविनं पात्रप्रवेशं संसूच्य कृतकार्यः सूत्रधारो रङ्गान्निर्गतोऽभूदित्यर्थः।

स्थापनेति। सूत्रधारकृतः प्रस्तावोऽयं, प्रारप्स्यमानस्य कथावस्तुनः स्थापनात्, प्रस्तावनापरपर्याया स्थापनेत्यभिधीयते **नाट्यशास्त्रकारैः**। आमुखमप्येतस्या एव नामान्तरम्। तथा च **साहित्यदर्पणे विश्वनाथकविराजः**—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते। चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥' इति। अन्यत्र च प्रस्तावनास्वरूपमित्थमुपवर्णितम्—'विधेर्यथैव सङ्कल्पो मुखतां प्रतिपद्यते। प्रधानस्य प्रबन्धस्य तथा प्रस्तावना मता॥' इति। पञ्चविधासु प्रस्तावनाभिदासु प्रवर्तकाभिधाऽत्र प्रस्तावना। तथा च तल्लक्षणमपि **साहित्यदर्पणे**—'कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग् यत्र वर्णयेत्। तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम्॥' इति।

साम्प्रतं सूत्रधारसूचनानुसारम् उत्सारयतो भटद्वयस्य प्रवेशमाह कविः—**प्रविश्येति**। उस्सरहेत्यादि नेपथ्यसमुद्भूतस्य तस्यैव शब्दस्याम्रेडनम्।

तत इति। परिव्राजकवेषः, परिव्राजकस्येव वेषो यस्य सः, काषायवस्त्रधारिसंन्यासिसदृशवेषवानित्यर्थः। आवन्तिकावेषधारिणी, अवन्तिदेशोद्भवया स्त्रिया सदृशं वेषं गृहीतवतीत्यर्थः। 'तत्र भवः' इत्यर्थे 'काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठा'वित्यनेन काश्यादेराकृतिगणत्वकल्पनया अवन्तीशब्दाद् ञिठप्रत्यये ठस्येकादेशे ञित्वादादिवृद्धौ स्त्रीत्वे टापि 'आवन्तिके'ति रूपसिद्धिः।

(सूत्रधार जाता है।)

प्रस्तावना समाप्त।

(दो सिपाहियों का प्रवेश)

दोनों सिपाही—हटो, हटो भाइयो ! हटो।

(तब संन्यासी के वेष में यौगन्धरायण तथा अवन्तीदेश के लोगोंके वेपमें वासवदत्ता का प्रवेश)

यौगन्धरायणः—[कर्णं दत्त्वा] कथमिहाप्युत्सार्यते ? कुतः—
धीरस्याश्रमसंश्रितस्य वसतस्तुष्टस्य वन्यैः फलै-
र्मानार्हस्य जनस्य वल्कलवतस्त्रासः समुत्पाद्यते ।

कर्णं दत्त्वेति । श्रोत्रं शब्दानुसारिण्या दिशोऽभिमुखं कृत्वा, तच्छब्दश्रवणमभिनीयेत्यर्थः । **कथमिति** । हन्त ! शान्तेऽस्मिन्नाश्रमेऽपि तपस्विनामनुचितमिदमुत्सारणं क्रियत इत्यर्थः ।

'कुत' इति तस्यैव स्वरूपमुपदर्शयति—**धीरस्येति** । धीरस्य गम्भीरस्य स्थिरचित्तस्य इन्द्रियार्थसुखोपभोगनिरपेक्षस्येत्यर्थः, आश्रमसंश्रितस्य, आश्रमं तपोवनं संश्रितस्तस्य 'द्वितीयाश्रिते'ति समासः, वसतः निवासं कुर्वतः तपोवनस्थस्येत्यर्थः, वन्यैः वने भवैरुत्पन्नैः, वनशब्दाद् भवार्थे यत्, फलैः, फलपदं चात्र साहचर्यात्, कन्दमूले अप्युपलक्षयति, तथा च फलशब्दस्य कन्दमूलफलैरित्यर्थः, तुष्टस्य सन्तोषं प्राप्तस्य, मानार्हस्य, मानः सत्कारः तदर्हस्य तद्योग्यस्य आदरणीयस्येति यावत्, वल्कलवतः, वल्कलमस्यास्तीति वल्कलवान् तस्य, 'तदस्यास्ती'ति मतुप्, वल्कलं वृक्षत्वक्, तां वसानस्येत्यर्थः । तपस्विनो हि वने सुलभैर्वल्कलैरेव स्वां तनूमाच्छादयन्ति । एतादृक्पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टस्य जनस्य तापसलोकस्य, त्रासः समुत्सारणासमुत्थं कष्टं, समुत्पाद्यते उद्भाव्यते, भृत्यैरिति शेषः । तपोवनस्थास्त्यक्तसंसारास्तापसाः समुत्सारणपरैर्भृत्यैर्व्यर्थमेव क्लेश्यन्त इति भावः । अथवा प्रभुनिदेशपरतन्त्रैर्भृत्यैः किमपराद्धम्, सर्वोऽयमपराधः प्रभोरेवेति स एव वाच्य इत्याशयेनोत्तरार्धमाह—**उत्सिक्त इति** । भोः रे इत्यनादरसूचनम्, उत्सिक्तः अतिक्रान्तमर्यादः, विनयात् अपेतपुरुषः, अत्र विनयपदं समस्तं युज्यते, विनयात् नम्रतायाः अपेता अपगता भ्रष्टाः पुरुषा भृत्यरूपा यस्य स उद्धतभृत्य इत्यर्थः, चलैरस्थिरैः परिवर्तिभिः, भाग्यैरैश्वर्यशालित्वरूपैः, विस्मितो विशेषेण स्मितः अतिगर्वितः, 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्' इति कोषाद्विस्मयशब्दस्याश्चर्यार्थकत्वमिव 'दर्पोवऽलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' इति कोषप्रामाण्यात् स्मयतेर्दर्पार्थकत्वमपि युज्यते । कोऽयं को नाम प्रभुः, अयमिति सामान्यतो निर्देशात्तत्प्रभुनाम्नोऽनुपादानमत्राऽनादरमेव

यौगन्धरायण—(कान लगाकर) क्यों ? यहाँ भी हटाया जा रहा है । क्योंकि—

धीर, आश्रमनिवासी, वन के फलों से संतुष्ट, वल्कलधारी, सम्मान तथा पूजा के योग्य जनों में भी त्रास उत्पन्न किया जा रहा है । कौन ऐसा है, जिसके सेवक उद्धत हैं और जो स्वयं अभिमानी तथा अस्थिर भाग्यों पर घमण्ड करता है और शान्त इस तपोवन को

उत्सिक्तो विनयादपेतपुरुषो भाग्यैश्चलैर्विस्मितः
कोऽयं भो ! निभृतं तपोवनमिदं ग्रामीकरोत्याज्ञया ॥ ३ ॥

वासवदत्ता—(क) अय्य ! को एसो उस्सारेदि ?

यौगन्धरायणः—भवति ! यो धर्मादात्मानमुत्सारयति ।

(क) आर्ये ! क एष उत्सारयति ?

द्योतयति तस्य । आज्ञया 'उत्सारणां कुरुते'त्येवंरूपेण स्वकीयादेशेन, निभृतं शान्तम्, इदं तपोवनं तापसाश्रममिमम्, ग्रामीकरोति अग्रामं ग्रामं करोति, अभूततद्भावे च्विः, अग्रामरूपमपि ग्रामरूपतां नयतीत्यर्थः। समुत्सारणाऽऽज्ञया विरक्तांस्तापसान् भृशं क्षोभयन् स्वभावतः शान्तमिदं तपोवनमशान्तेनोद्धतग्राम्यजनप्रायेण ग्रामेण समानतां प्रापयन् क एष मदान्धोऽनुचितमाज्ञापयतीति स्पष्टोऽर्थः। अत्र च भाग्यविशेषणीभूतेन 'चलै'रिति पदेन समम् अर्थौचित्याक्षिप्तः अपिशब्दः सङ्गमनीयः। ततश्चायमर्थो ध्वन्यते—भाग्यानि सदा कस्याप्येकरूपाणि नावतिष्ठन्ते, चक्रवत् तानि परिवर्तन्ते क्रमेण। एष तु किम्प्रभुः साम्प्रतमैश्वर्यमदेनात्मानं विस्मृत्य 'अस्थिरमिदमैश्वर्य'मित्यनवधारयन्नस्थिरैरप्यैश्वर्यसूचकैः स्वीयैर्भाग्यैरित्थमवलिप्त इति महीयानस्य बुद्धेर्व्यामोह इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा **वृत्तरत्नाकरे**—'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ॥' इति ॥ ३ ॥

ईदृगनुचितं तपस्विनामुत्सारणं सोढुमशक्नुवती 'उत्सारणकारी कस्तावदेष पुरुष' इति जिज्ञासया वासवदत्ता ब्रूते-**अय्येति**।

भवतीति। पूजनीये ! इत्यर्थः। त्यदादिगणपठितस्य भवतुशब्दस्य स्त्रियां सम्बुद्धिरियम्। भाधातोर्डवतुप्रत्यये स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'उगितश्च' इति ङीप् प्रत्ययेन तत्सिद्धिः। शत्रन्तस्य भूधातोर्नेदं रूपम्, ततः स्त्रियां 'भवन्ती'ति प्रयोगापत्तेः। 'त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः' इति तु प्रायोवादः। बीजं चात्र तत्सम्बोधनाभावे तादृशप्रयोगप्राचुर्याऽनुपलम्भ एव। भाष्ये तु 'हे सः, हे असौ' इति सम्बोध-

---

अपनी आज्ञा से गाँव बना रहा है ॥ ३ ॥

वासव०—आर्ये ! यह कौन हटा रहा है ?

यौग०—आर्ये ! जो अपने को धर्म से हटाता है ।

वासवदत्ता—(क) अय्य ! ण हि एव्वं वत्तुकामा, अहं वि णाम उस्सारइदव्वा होमि त्ति ।

यौगन्धरायणः—भवति ! एवमनिर्ज्ञातानि दैवतान्यवधूयन्ते ।

वासवदत्ता—(ख) अय्य ! तह परिस्समो परिखेदं ण उप्पादेदि, जह अअं परिभवो ।

(क) आर्य ! नह्येवं वक्तुकामा, अहमपि नामोत्सारयितव्या भवामीति।
(ख) आर्य ! तथा परिश्रमः परिखेदं नोत्पादयति, यथायं परिभवः ।

नान्तं पदं दृश्यते प्रयुक्तम् । अतो 'भवतुशब्दस्य त्यदादिगणपठितत्वेन ततः सम्बुद्धिरियमसङ्गते'ति न भ्रमितव्यम् । य इति । उचितकारितारूपाद्धर्मादात्मानमधःपातयन्नेवाऽनुचितोत्सारणकारी पुरुषो विज्ञेय इत्यर्थः । तपस्विनामपसारणं नाम धर्मविरुद्धं कार्यम्, अतोऽस्थानेऽस्यायमुद्योगः पापैकफल एवेति तात्पर्यम् ।

अय्येति । एवं वक्तुकामा नास्मि, 'अहमप्युत्सारयितव्या भवामी'त्यस्मि वक्तुकामाऽहम्' इति सङ्गतिः । वक्तुकामेत्युभयान्वयि । वक्तुं कामोऽभिलाषो यस्याः सेति तदर्थः । 'तुं काममनसोरपी'ति मकारलोपः । नामशब्दः प्रश्नार्थः । 'यः किल धर्माच्च्युतः स एवोत्सारणकारी'ति वक्तुं नोत्सहे, किन्तु 'कदाचिन्मामपि नायमुत्सारये'दिति शङ्कयैव तद्विषयिणी पृच्छाऽस्ति ममेति वाक्यार्थः । 'भृत्यैर्लोकमुत्सारयन्ती पथि याऽहं पुरा गमनसुखमन्वभूवम्, सैवाहमन्येनोत्सारिता कथमीदृशीं तिरस्क्रियां सहिष्ये' इतीदम् अपिशब्देन सूच्यते ।

भवतीति । अनिर्ज्ञातानि स्वरूपतोऽनवगतानि, दैवतानि देवाः, देव एव देवता देवतैव दैवतम्, स्वार्थिकतल्प्रत्ययान्तदेवताशब्दात् स्वार्थेऽण् । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, अवधूयन्ते तिरस्क्रियन्ते । दैवतशब्देन सहाऽपिशब्दो योजनीय आक्षेपलभ्यः । अपरिचितानां देवानामप्येवमनादरो भवति भवत्याः का कथेत्यर्थः । अनादरश्चायं गृहीतवेषान्तराया भवत्याः स्वरूपस्याऽज्ञानादेवेति भावः ।

अय्येति । गमनपरिश्रमादधिकं परिखिद्येऽधुनाऽमुनाऽपमानेनेत्यर्थः ।

वासव०—आर्य ! मैं ऐसा कहना नहीं चाहती, क्या मैं भी हटाई जाऊँगी ?
यौग०—आर्ये ! पहिचान न होने से देवता भी तिरस्कृत होते हैं ।
वासव०—आर्य ! थकावट मुझे वैसा खेद उत्पन्न नहीं करती है जैसा कि अपमान ।

यौगन्धरायणः—भुक्तोज्झित एव विषयोऽत्रभवत्या, नात्र चिन्ता कार्या । कुतः—

पूर्वं त्वयाप्यभिमतं गतमेवमासी-
च्छ्लाघ्यं गमिष्यसि पुनर्विजयेन भर्तुः ।

भुक्तोज्झित इति । अत्रभवतीशब्दः पूज्यार्थवाचकः । एष विषयः, भृत्याचरितलोकोत्सारणपूर्वं गमनमित्यर्थः । भुक्तोज्झितः, 'पूर्वं भुक्तः पश्चादुज्झित' इति मयूरव्यंसकादिसमासः । पूज्यया भवत्याऽनुभूतपूर्वोऽयमुत्सारणाज्ञाप्रदानरूपो विषयः साम्प्रतं कार्यविशेषप्रच्छादितस्वस्वरूपया परित्यक्तः, अतोऽनादरपात्रं जाता भवती । अत्र विषये चिन्तयाऽनया नात्माऽवमाननीयो भवत्येति ।

'कुत' इति चिन्ताया अनवसरत्वमेवाह—**पूर्वमिति** । पूर्वं पूर्वस्मिन् काले नगरावस्थानसमय इत्यर्थः, त्वयापि भवत्यापि, अनया पद्मावत्येवेत्यपिशब्दार्थः, एवमेतादृशम्, एतादृशत्वं चात्र परिजनकर्तृकश्लाघापूर्वकत्वं बोध्यम्, अभिमतमभीष्टम् इच्छानुरूपमिति यावत्, क्रियाविशेषणमिदम्, गतमासीत् प्रस्थितमासीत् । गमेः कर्मणि क्तः, मार्गरूपं कर्म चात्र प्रसिद्धत्वान्नोक्तम्, कर्तुरनुक्तत्वात् 'त्वये'ति कर्तरि तृतीया । पुनः भूयः, भर्तुः विपक्षापहृतराज्यस्योदयनस्य पत्युः, विजयेन सम्पत्स्यमानेन राज्यप्राप्तिलक्षणेन जयेन, श्लाघ्यं परिजनैः प्रशंसनीयं यथा स्यात्तथा, गमिष्यसि यास्यसि । पद्मावतीयं सम्प्रति 'इत इतो गच्छतु भवती'ति मार्गस्थलोकोत्सारणपुरःसरं परिजनैः कृतप्रशंसा यथा यदृच्छया गच्छति, तथा पूर्वं नगरे वसन्ती राज्यसुखमनुभवन्ती परिजनाचरितसमुचितसमुदाचारा त्वमपि स्वेच्छया गताऽऽसीः । अग्रेऽपि पत्यौ विजयश्रिया समलङ्कृते सतीत्थमेव गमनसुखमनुभविष्यस्येव । अतः कार्यगौरवादभ्युपगतमाधुनिकमीदृशं वेषान्तरस्वीकृतिरूपं दशाविशेषमधिजग्मुषी परिभवमात्मनः सम्भाव्य मा तावदिदानीं विमनायस्वेति भावः । उक्तमर्थं समर्थयते—**कालक्रमेणेति** । कालक्रमेण समयानुसारं, परिवर्तमाना विभिन्नरूपतां गच्छन्ती, एकरूपतया सर्वदाऽनवतिष्ठमानेत्यर्थः, जगतो लोकस्य, भाग्यपङ्क्तिः अदृष्टपरम्परा, चक्रारपङ्क्तिरिव चक्रस्य रथाङ्गस्य अराणां पङ्क्तिः श्रेणि-

---

यौग०—आपको तो इसका पहले ही से अनुभव है । किन्तु आजकल छूटा हुआ है । इसमें चिन्ता न करनी चाहिये । क्योंकि—

पहले आप भी इस प्रकार इच्छानुसार जाया करती थीं और फिर भी अपने पति की

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः ॥ ४ ॥

भटौ—(क) उस्सरह अय्या ! उस्सरह ।

[ततः प्रविशति काञ्चुकीयः ।]

(क) उत्सरतार्याः ! उत्सरत ।

रिव, गच्छति व्रजति । चक्रस्यनाभिनेम्योरन्तः सङ्घटिताः काष्टखण्डविशेषा अराण्युच्यन्ते । यथा चक्रगतान्यराणि क्रमेणोपर्यधो गच्छन्ति दृश्यन्ते, तथा शुभान्यशुभानि च जनस्य भागधेयान्यपि समयगत्यनुसारं विपरिवर्तन्त एवेत्यथ समयमहिमोद्भवं क्लेशमनुभवन्त्यापि समयगतिं प्रतीक्षमाणया त्वया न मनः खेदनीयमिति श्लोकार्थः । अमुमेवार्थमुद्घाटितवान् **मेघदूते**—'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेणे'त्यनेन महाकविः **श्रीकालिदासः** । अत्र पूर्वार्धप्रतिपादितस्य विशेषस्योत्तरार्धप्रतिपादितेन सामान्येनार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् । तल्लक्षणं यथा **वृत्तरत्नाकरे**—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥' इति । कतिचिन्महाशयास्तावदत्र भावार्थे विहितेन क्तप्रत्ययेन साधितस्य गतमित्यस्य गमनमित्यर्थम् अभिमतमिति च क्रियाशब्दं स्वीकृत्य 'गमनं त्वयाऽप्यभिमतमासी'दित्यर्थमाविष्कुर्वन्ति । गमिष्यसीति भविष्यत्कालिकक्रियानुरोधेन गतमिति भूतकालिकीं क्रियामाश्रित्य तत्रैवार्थे स्वारस्यमौचित्यं च पश्यद्भिरस्माभिर्यथा व्याख्यातं तथा स्पष्टमेवोपरिष्टादिति ॥ ४ ॥

उस्सरहेति । पूर्ववद् भूयोऽपि तदेवोद्घोषणम् ।

अनुचितं तपस्विजनोत्सारणं वारंवारमाचरन्तौ विवेकाभाववन्तौ भटौ वारयिष्यतो विवेकशालिनः काञ्चुकीयस्य प्रवेशमाह—**तत** इति । राज्ञो भृत्यविशेषः काञ्चुकीयश्च—'ये नित्यं सत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः । ज्ञानविज्ञानकुशलाः

विजय होने पर सेवकों से प्रशंसित होकर जाएँगी । क्योंकि समय के फेर से बदलने वाली जगत् की भाग्यदशा पहिये की अरों की भाँति (ऊपर, नीचे) होती रहती हैं ॥ ४ ॥

दोनों सिपाही—हटो, लोगों ! हटो ।

(कञ्चुकी आता है ।)

काञ्चुकीयः—सम्भषक! न खलु न खलूत्सारणा कार्या। पश्य—

परिहरतु भवान् नृपापवादं न परुषमाश्रमवासिषु प्रयोज्यम्।
नगरपरिभवान् विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति ॥५॥

काञ्चुकीयास्तु ते मताः ॥' इत्युक्तलक्षणलक्षितः 'कञ्चुकी'ति प्रसिद्धः। एष च राज्ञः सन्निधावन्तःपुरे वा वर्तमानो वेत्रधरः प्रायो यत्र तत्र नाटकेषु वृद्ध एवोपवर्ण्यते। काञ्चुकीयशब्दश्चायं कञ्चुकशब्दात् छण्प्रत्ययेन सिद्धो वेदितव्यः। छस्य 'आयनेयी नीयियः' इत्यादिना ईयादेशो णित्त्वादादिवृद्धिश्च। छण्प्रत्ययस्तु 'भक्तिः' इत्यर्थे 'वेणुकादिभ्यश्छण् वाच्य' इति गहादिगणपठितवार्तिकेन वेणुकादेराकृतिगणत्वान्निष्पद्यते। कञ्चुको भक्तिः भज्यः सेव्योऽस्येति तदर्थः।

सम्भषकेति। इदञ्च पूर्वोक्तयोरुत्सारयतोरेकतरस्य भटस्य नामधेयम्। **न खल्विति**। खलुपदं निश्चयार्थकम्, द्वौ नञौ निषेधदार्ढ्यं गमयतः। उत्सारणमिदं सर्वथाऽनुचितम्। अकार्यादस्मात्कार्याद्विरमेति भावः। पश्य विचारयेत्यर्थः।

किं तद्विचारणीयमित्याकाङ्क्षायामाह—**परिहरत्विति**। भवान् त्वं, नृपापवादं, नृपस्य राज्ञो दर्शकस्य अपवादो निन्दा तम्, सा च निन्दा नगरनिर्विशेषमत्रापि तपोवने प्रवर्तितयाऽनुचितोत्सारणाज्ञया परैरारोप्यमाणैव। परिहरतु दूरीकरोतु, प्राप्तकाले लोट्, मदुक्तस्यैतस्य चायं कालः प्राप्तः। राज्ञो निन्दाया अवसरो भवदीयैतत्कार्येण समुपस्थितोऽयमिदानीमित्यर्थः। राज्ञि कलङ्कमुत्पादयितुं न नाम चेष्टनीयं भवता। अतोऽनुचितं प्रवर्तमानमुत्सारणाकार्यमिदं निरुध्य सोऽयं राजापवादः परिहरणीय इति भावः। एतत्कार्यस्यानौचितीमेवाह-**नेति**। आश्रमवासिषु, तपोवनाश्रयेषु मुनिषु, परुषं रूक्षं क्रूरमिति यावत्, वाक्यमिति शेषः, परुषमिति भावप्रधानं वा, परुषत्वं कठोरतेत्यर्थः, न प्रयोज्यं न प्रयोक्तुं युक्तम्। यतः, मनस्विनः प्रशस्तं मनो येषां ते प्रशस्तमानसाः, प्रशंसायां विनिः, विषयवैतृष्ण्यादिनिबन्धनमेव मनसः प्राशस्त्यं तेषाम्। एते तपोवनस्थास्तपस्विनः, नगरपरिभवान् नगरे सम्भावितानपमानान्, विमोक्तुं परिहर्तुं, वनमभिगम्य तपश्चरणोचित-

---

कञ्चुकी—संभषक! मत हटाओ, मत हटाओ, देखो—

तुम राजा की निन्दा को दूर करो, आश्रमवासियों से इस प्रकार रूखा वर्ताव करना उचित नहीं। क्योंकि, ये मानी शहर की आपदाओं को त्यागने के हेतु वन में आकर रहते हैं॥५॥

उभौ–(क) अय्य ! तह ।

[निष्क्रान्तौ ।]

यौगन्धरायणः–हन्त ! सविज्ञानमस्य दर्शनम् । वत्से ! उपसर्पावस्तावदेनम् ।

(क) आर्य ! तथा ।

माश्रमं गत्वा, वसन्ति निवासं कुर्वन्ति । तापसाश्चैते शान्तचित्ता नगरे सम्भाव्यमानेभ्योऽपमानेभ्य आत्मानं मोचयितुमिच्छयैवाऽसम्भाविततद्दोषं तपोवनमधिवसन्ति । अत्रापि यद्येतादृशी तिरस्क्रिया लभ्या तर्हि तैः क्व गन्तव्यमिति क्रूरवाचा क्रूरतया वा तपस्विनो नोत्सार्य कदर्थनीया इति भावः । तपस्विनामनादरेण समुदाचारविरोधोऽनर्थापत्तिश्चेत्येवंविधानुचितकार्याचरणं न श्रेयस्करमिति गूढोऽर्थः । काव्यलिङ्गमलङ्कृतिः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा **वृत्तरत्नाकरे**—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।' इति ॥ ५ ॥

अय्य तहेति । युक्तियुक्तं यथा भवद्भिरुक्तं तथाङ्गीकृतमावाभ्याम् , गम्यतेऽधुनेत्यर्थः ।

निष्क्रान्ताविति । एतेन तयोर्निर्गमनमुक्तम् ।

काञ्चुकीयोपदेशं गृहीत्वा ताभ्यां निर्गतमिति यौगन्धरायणः काञ्चुकीयस्य वैदुष्यं प्रशंसति–**हन्तेति** । हन्तशब्दस्य हर्षोऽर्थः, 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयो'रित्यमरः, उत्सारणभयनिवृत्त्यैव हर्षः । सविज्ञानं विज्ञानेन सहितम् , अस्य काञ्चुकीयस्येत्यर्थः, दर्शनं ज्ञानं बुद्धिर्वा । वत्से ! इति वासवदत्तायाः सम्बोधनम् , बालिके ! इति तदर्थः । उपसर्पणं समीपे गमनम् । तावदिति वाक्यालङ्कारे । एनमिति काञ्चुकीयमुद्दिशति । 'उत्सारयन्तौ भटौ स्ववचःप्रभावेण ततोऽनुचितादुत्सारणकार्यान्निवारितवान् ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः काञ्चुकीयोऽयमुपसर्पणयोग्य' इति वाक्यार्थः । अत्र च राज्ञः प्रधानमन्त्रिणो वृद्धस्य यौगन्धरायणस्याऽऽदरणीयस्य वासवदत्तां राजमहिषीमप्युद्दिश्य 'वत्से' इति सम्बुद्धिः स्थान एव ।

दोनों—आर्य ! अच्छा ।

(चले गये ।)

यौग०—अहा ! इसकी बुद्धि विज्ञान से पूर्ण है । बेटी ! हम लोग इसके पास चलें ।

वासवदत्ता—(क) अय्य ! तह ।

यौगन्धरायणः—[उपसृत्य] भोः ! किङ्कृतेयमुत्सारणा ?

काञ्चुकीयः—भोस्तपस्विन् !

यौगन्धरायणः—[आत्मगतम्] तपस्विन्निति गुणवान् खल्वयमालापः । अपरिचयात्तु न श्लिष्यते मे मनसि ।

(क) आर्य ! तथा ।

यौगन्धरायणसूचितं तदुपसर्पणं स्वीकुर्वती वासवदत्ताऽऽह—**अय्येति** । तथा, उपसर्पणं कर्तुमहमधुना सन्नद्धैवास्मीति ।

'उत्सारणायां किं कारण'मिति यौगन्धरायणस्य काञ्चुकीयं प्रति प्रश्नः—**किङ्कृतेयमिति** । किंकृता किमिति कृता, किमर्थमिदमुत्सारणं कृतमिति यावत् ।

तत्कारणं सूचयितुमिच्छता काञ्चुकीयेन प्रयुक्तं 'भोस्तपस्विन्' इति सम्बोधनमात्मनः श्रुत्वा तत्र परिव्राजकवेषधारी यौगन्धरायणश्चित्ते किञ्चिद्विचारयति स्म । तदेवाह—**(आत्मगतम्) तपस्विन्नितीत्यादिना** । आत्मगतं स्वगतम्, मनसीति यावत् । तथा च तल्लक्षणं **साहित्यदर्पणे**—'अश्राव्यं स्वगतं मतम्' इति । अश्रावणीयो मानसस्तस्यायं विचार इत्यर्थः । खलुपदं निश्चये । गुणवान् प्रशस्तगुणः, प्रशंसायां मतुप्, आलाप आभाषणं, सम्बोधनमिति यावत्, श्लिष्यते सम्बध्यते । सम्बोधनेऽस्मिन्नूनं प्रशस्तो गुणोऽस्ति, मदीयं वेषमिमं दृष्ट्वा प्रयुक्तं चेदं मत्सम्मानमेव द्योतयति । किन्तु तादृशेन गुणेन परिचयाभावादयथार्थसंन्यासिनो मनसि मे नैतत्सम्बोधनमवकाशं लभते । प्रशंसासूचकस्याप्यस्योपचारस्य लक्ष्यीभवितुमयोग्योऽस्मीति मनसि मन्येऽहमित्याशयः । श्लिष्यतेः परस्मैपदित्वात् 'श्लिष्यते' इत्यात्मनेपदप्रयोगोऽयं 'च्युतसंस्कृति'नामानं काव्यदोषमुद्भावयति । यद्वा—कर्तुः कर्मवद्भावेन कर्मकर्तरि तत्प्रयोभात् कथमपीदं समर्थनीयमिति क्वापि स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया ।

वासव०—आर्य ! अच्छा ।

यौग०—(पास जाकर) अजी ! यह हटाना किसलिये है ?

कंचुकी—हे तपस्वी !

यौग०—(आप ही आप) इसका 'तपस्वी' कहकर बातचीत करना आदर प्रकट करता है, किन्तु अभ्यास न होने से मुझे अच्छा नहीं लगता ।

काञ्चुकीयः—भोः ! श्रूयताम् । एषा खलु गुरुभिरभिहितनामधेयस्यास्माकं महाराजदर्शकस्य भगिनी पद्मावती नाम । सैषा नो महाराजमातरं महादेवीमाश्रमस्थामभिगम्यानुज्ञाता तत्रभवत्या राजगृहमेव यास्यति । तदद्यास्मिन्नाश्रमपदे वासोऽभिप्रेतोऽस्याः । तद् भवन्तः—

तीर्थोदकानि समिधः कुसुमानि दर्भान्
स्वैरं वनादुपनयन्तु तपोधनानि ।

'भोः श्रूयताम्' इत्यादि तदेव पूर्वाविशिष्टं काञ्चुकीयस्य वाक्यम् । 'भोः' इति यौगन्धरायणस्य सम्बोधनम् । उत्सारणाकारणं नाम कर्मपदं चार्थानुगतम्, श्रूयतामिति श्रवणोन्मुखीकरणम् । यदिदमुत्सारणं क्रियते स्म, तत्कारणेऽस्मिन्मया प्रतिपाद्यमानेऽवधानं दीयतां भवतेत्यर्थः । गुरुभिरभिहितनामधेयस्य, गुरुभिः पूज्यैर्महद्भिः अभिहितं कथितं कृतमिति यावत् नामधेयं नाम यस्य तादृशस्य, 'नामधेयं च नाम चे'त्यमरः, गुरुकृतनामकरणस्येत्यर्थः । इदं च 'महाराजदर्शकस्ये'त्यस्य विशेषणम् । 'आश्रमस्थां महादेवीमभिगम्य तत्रभवत्याऽनुज्ञाते'त्यन्वयः । आश्रमस्थामाश्रमवासिनीम्, वार्द्धके मुनिवृत्तिं स्वीकृत्य महादेव्या आश्रमे निवासः । अभिगम्य समीपं गत्वा, अनुज्ञाता लब्धानुज्ञा, आश्रमपदमाश्रमस्थानम् । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु' इति कोषात् पदशब्दस्य स्थानमर्थः । अभिप्रेतः अभीष्टः । 'तद्भवन्त' इत्यग्रिमश्लोके योजनीयम् । दर्शकनाम्नोऽस्माकं महाराजस्य भगिनीयं पद्मावती तपोवनमधिवसन्त्या महाराजस्य मातुर्महादेव्याः समीपं गत्वा दर्शनं कृत्वा ततोऽनुज्ञां च लब्ध्वा राजभवनं राजगृहनामकं स्थानं वा गमिष्यति, तेन हेतुना राजभगिनी सेयमद्याश्रमे निवासं कर्तुमिच्छतीत्यर्थः । अत्र 'गुरुभिरभिहितनामधेयस्ये'ति महाराजदर्शकविशेषणं 'पूज्यानां नाम न ग्राह्य'मित्यभियुक्तोक्तसदाचारमर्यादाऽनतिक्रमकारितां द्योतयति काञ्चुकीयस्य । 'गुरवो नामकरणं कुर्वन्ती'त्याचारपरिपाटीमपि प्रकटयत्येतत् ।

तीर्थोदकानीति । तत् तस्मात्कारणात्, राजभगिन्याः पद्मावत्या आश्रम-

---

कंचुकी—अजी ! सुनिये । ये हमारे महाराज की-जिनका नाम बड़ों ने 'दर्शक' रक्खा है-बहिन पद्मावती हैं ? वे आश्रम में रहनेवाली हमारे महाराज की माता महादेवी से मिलकर उनकी आज्ञा पाकर फिर राजगृह को ही लौट जायँगी । तो आज उनका निवास इसी आश्रम में माना गया है । अत एव आप—

धर्मप्रिया नृपसुता न हि धर्मपीडा-
मिच्छेत् तपस्विषु कुलव्रतमेतदस्याः ॥ ६ ॥

यौगन्धरायणः—[स्वगतम्] एवम् ! एषा सा मगधराजपुत्री

निवासेन हेतुनेत्यर्थः, भवन्तः वासवदत्तायौगन्धरायणावुद्दिश्य पूज्यत्वेन बहुत्वोक्तिर्जनान्तराभिप्रायेण वा, तपोधनानि तपसे तपश्चर्यार्थं धनानि, द्रव्याणि तपःसाधनीभूतान् पदार्थानित्यर्थः, स्वैरं स्वच्छन्दं, वनात् अरण्यात्, उपनयन्तु आनयन्तु । कानि तानि द्रव्याणीत्याह—तीर्थोदकानि, तीर्थस्य पवित्रस्य नद्यादेर्जलाशयस्य उदकानि जलानि, समिधः पलाशतरोः काष्ठखण्डानि, कुसुमानि पुष्पाणि, दर्भान् कुशान् । तीर्थोदकसमित्कुसुमदर्भाणां चैतेषां यथाक्रमं सकलधर्म्यकार्यहोमदेवार्चनव्रतादिक्रियासूपयुक्तत्वमवगन्तव्यम् । हि यस्मात्कारणात्, धर्मप्रिया, धर्मः प्रियो यस्याः सा धर्मानुरागिणी, नृपसुता राजपुत्री पद्मावती, तपस्विषु तापसजनेषु विषये, धर्मपीडां, धर्मस्य तपोरूपस्य पीडा बाधा, विघ्न इति यावत् तां, 'पीडा बाधे'त्यमरः, न इच्छेत् न वाञ्छेत्, एतत् इदं तपोविघ्नस्पृहाराहित्यम्, अस्याः पद्मावत्याः, कुलव्रतं वंशव्रतम्, अस्तीति सामान्यक्रियाक्षेपः, कुलपरम्पराचरितो धर्मोऽस्तीत्यर्थः । कुलक्रमागतं मुनिजनतपश्चरणाऽभिरक्षणव्रतं पालयन्त्या धर्मेऽनुरागं वहन्त्याः पद्मावत्यास्तापसजनतपोविघ्नोपरोधरूपोऽभिलाषः पूरणीयो भवद्भिस्तीर्थादिपदार्थाहरणेनेति तात्पर्यम् । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम्, लक्षणमुक्तं प्राक् ॥ ६ ॥

काञ्चुकीयसूचितस्वरूपां पद्मावतीमालोच्य यौगन्धरायणोऽपि तत्स्वरूपं मनसा निर्दिशति—**एवमिति** । एवम् इत्थम्, इदमेवोत्सारणकारणं काञ्चुकीयः प्रतिपादयति । तदेतत् सम्भाव्यत इत्यर्थः । **एषा सेति** । स्वामिनो भर्तुरुदयनस्य, देवी भार्या, भविष्यति सम्पत्स्यते, इतीत्थं, पुष्पकभद्रादिभिः 'पुष्पकभद्रे'त्येतदादिनामधारिभिः, आदेशिकैः, आदेश आज्ञा स्वेच्छानुसारिभाविफलसूचनमिति यावत्, आदेशः शीलमेषामित्यादेशिकास्तैः, 'शीलम्' इत्यनेन ठक् । 'इदमित्थं जायता'मिति यदृच्छयाऽनुग्रहबुद्ध्या शुभाशुभलक्षणफलसूचनशीलैस्त्रैकालिकसकलविषयाऽभिज्ञैः

तपस्या के साधन तीर्थ-जल, समिधा, पुष्प तथा कुश—आदि जङ्गल से अपने इच्छानुसार ले आवें । धर्मात्मा वे राजा की बेटी, तपस्वियों के धर्म में बाधा डालना नहीं चाहतीं, क्योंकि यह उनका वंशपरम्परागत व्रत है ॥ ६ ॥

यौग०—(आप ही आप) ऐसा ? यह तो वही मगधराज की कुमारी पद्मावती है, जो पुष्पक-

पद्मावती नाम, या पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिनो देवी भविष्यतीति । ततः—

प्रद्वेषो बहुमानो वा सङ्कल्पादुपजायते ।
भर्तृदाराभिलाषित्वादस्यां मे महती स्वता ॥ ७ ॥

सिद्धपुरुषैरित्यर्थः । यद्वा—'ज्योतिःशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते' इति **सिद्धान्तशिरोमणौ** प्रतिपादितत्वाद् आदेशो नाम ज्योतिःशास्त्रफलम् । अत्रार्थे 'आदेशेन दीव्यति, आदेशः शिल्पमेषा'मित्युभयथापि विग्रहः । उभयत्र यथाक्रमं 'तेन दीव्यति' 'शिल्पम्' इत्याभ्यां ठक् । 'दैवगतिरीदृशी'ति जन्मस्थग्रहानुगत-ज्यौतिषसिद्धान्तानुसारियथोचितफलसूचनचतुरैर्ज्यौतिषिकैरिति यावत् । या आदिष्टा यदीयं भविष्यत् स्वरूपं पूर्वमेव सूचितमित्यर्थः, सेयं मगधराजस्य पुत्री पद्मावतीनामधेयाऽस्तीति । सिद्धदैवज्ञसूचनानुसारं राजमहिष्याः पदमनुभविष्यन्ती सेयमेव पद्मावती विद्यत इति सङ्क्षिप्तोऽर्थः । ततः तस्मात्कारणात्, राजमहिषीत्वेनैव निमित्तेनेत्यर्थः ।

प्रद्वेष इति । सर्वत्र पुरुषस्य, प्रद्वेषो द्वेषातिशयः, बहुमानोऽत्यादरो वा, सङ्कल्पात् मानसात्कर्मणः, 'सङ्कल्पः कर्म मानसम्' इत्यमरः, चित्तवृत्तिविशेषादित्यर्थः, उपजायते उद्भवति । यस्य चित्ते यादृशो भाव उत्पद्यते यद्विषये, स तद्भावानुसारेणैव तं प्रद्वेष्टि बहु मन्यते वा । चित्तगतं भावमन्तरेण किमपि कारणान्तरं न सम्भवति प्रद्वेषादरयोरिति भावः । भर्तृदाराभिलाषित्वात्, भर्तुः स्वामिन उदयनस्य दाराः भार्येति भर्तृदाराः । पुंसि बहुवचने च केवलं दारशब्दः प्रयुज्यते, तथा चामरः—'अथ पुम्भूम्नि दाराः' इति । भर्तृदारा इत्यभिलाषः स्पृहा अस्यास्तीति भर्तृदाराभिलाषी तस्य भावो भर्तृदाराभिलाषित्वं तस्मात्, 'स्वामिनो भार्येयं भूया'-दिति स्पृहाशालित्वादित्यर्थः । मत्वर्थीयेनिप्रत्ययान्ताभिलाषिन्शब्दात् 'तस्य भावस्त्वतला'विति भावार्थे त्वप्रत्ययः । मे मम यौगन्धरायणस्येत्यर्थः, अस्यां पुरो दृश्यमानायां पद्मावत्यां, महती अलघ्वी, स्वता स्वस्य भावः, आत्मीयवाचिस्वशब्दात्तल् भावार्थे, 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये' इति कोषात् स्वशब्दस्या-

---

भद्र–प्रभृति सिद्ध या ज्योतिषियों के कथनानुसार महाराज उदयन की रानी होगी । इसीसे–

वैर या आदर मन की भावना से होता है । यह स्वामी की स्त्री हो इस इच्छा से इस पर मुझे बड़ी आत्मीयता (अपनापन) हो रही है ॥ ७ ॥

वासवदत्ता—[स्वगतम्] (क) राअदारिअत्ति सुणिअ भइणिआसिणेहो वि मे एत्थ सम्पज्जइ।

[ततः प्रविशति पद्मावती सपरिवारा चेटी च।]

चेटी—(ख) एदु एदु भट्टिदारिआ इदं अस्समपदं पविसदु।

(क) राजदारिकेति श्रुत्वा भगिनिकास्नेहोऽपि मेऽत्र सम्पद्यते।
(ख) एत्वेतु भर्तृदारिका इदमाश्रमपदं प्रविशतु।

त्मीयार्थबोधकता। स्वात्मीयताबुद्धिरस्तीत्यर्थः। पूर्वम् 'अनुचितोत्सारणाज्ञाप्रवर्तिकेय'-मिति सङ्कल्पात् पद्मावत्यां द्वेषो ममासीत्, इदानीं तु 'भूयादियं मे महिषी'ति सङ्कल्पो मयि महतीं पद्मावतीविषयिणीं स्वात्मीयताबुद्धिं बलादुत्पादयतीति भावः। अनुष्टुब् वृत्तं प्रागुक्तलक्षणम् ॥ ७ ॥

राअदारिअत्तीति। काञ्चुकीयप्रदर्शितं पद्मावत्याः परिचयं प्राप्य वासवदत्तायास्तद्विषये मानसोद्गारोऽयम्। अत्र पद्मावत्याम्, भगिनिकास्नेहः, भगिन्येव भगिनिका, स्वार्थे कः, तस्याः स्नेहः, भगिनीतुल्यः स्नेह इति यावत्। सेयं पद्मावती 'राजकन्या'स्तीति काञ्चुकीयमुखान्निशम्य भगिनीतुल्यं स्नेहमप्यस्यां वहामीत्यर्थः। राजकुमार्या वासवदत्तायाः पद्मावत्यां राजकुमार्यां भगिनीप्रेम सम्भवत्येव। अपिशब्देनात्र बहुमानः सूच्यते। स च कुलीनाया वासवदत्तायास्तादृश्यां पद्मावत्यां युज्यत एव। तथा च 'आदरविशेष इव भगिनीप्रेमापि वर्ततेऽस्यां पद्मावत्यां ममे'ति वासवदत्तोक्तेराशयः।

साम्प्रतं पद्मावत्या आश्रमप्रवेशमाह—**ततः प्रविशतीति**। परिवारेण सहिता सपरिवारेति पद्मावत्या विशेषणम्। 'परिवारः सखीवर्गः, चेटी दासी' इत्यनयोर्भेदमाकलय्य चेट्याः पृथङ् निर्देशः। वस्तुतस्तु-चेट्या अपि परिवारान्तःपातात् परिवारशब्दादेव तदुपस्थितेः सिद्धौ पुनः प्रयुक्तं चेटीपदं प्रधानपरिचारिकारूपमर्थं बोधयति।

मार्गप्रदर्शनरूपं स्वामिन्युपचारात्मकं चेट्याः स्वकर्तव्यं निर्दिशति-**एदुएदिति**।

वासव०—(आप ही आप) 'राजा की कन्या' यह सुनकर इस पर बहिन का सा स्नेह भी मुझे होता है।

(अपनी सहेलियों और दासी के साथ पद्मावती आती है।)

दासी—आइये, राजकुमारी जी ! आइये। इस आश्रम में प्रवेश करिये।

[ततः प्रविशत्युपविष्टा तापसी ।]

तापसी—(क) साअदं राअदारिआए ।

वासवदत्ता—[स्वगतम्] (ख) इअं सा राअदारिआ । अभिजणाणुरूवं खु से रूवं ।

पद्मावती—(ग) अय्ये ! वन्दामि ।

(क) स्वागतं राजदारिकायाः ।
(ख) इयं सा राजदारिका । अभिजनानुरूपं खल्वस्या रूपम् ।
(ग) आर्ये ! वन्दे ।

'एतु एतु' इत्यादरे वीप्सा, अधीष्टे लोट्, अधीष्टश्च आदरपूर्वको व्यापारः । भर्तृदारिका राज्ञः सुता, 'राजा भट्टारको देवस्तत्सुता भर्तृदारिका' इत्यमरः । आगम्यतां राज्ञः कुमार्या पुरो दृश्यमानेऽस्मिन्नाश्रमे प्रविश्यतामित्यर्थः ।

तत इति । प्रविशतीति प्रकृतोपयोगिनमुपविष्टायास्तापस्याः प्रवेशं सूचयति । राजकुमार्याः पद्मावत्या आगमने तापस्या अभ्युत्थानपूर्वकप्रवेशस्यौचित्ये सुखतः प्रतीयमानेऽपि, वृद्धायास्तपोविभूतिशालिन्यास्तस्यास्तादृशाचारप्रदर्शनं नितरामनौचितीमेव पुष्णातीत्युपविष्टाया एव तापस्याः प्रवेशोऽत्र सूचितः ।

तपोवनं प्रविष्टाया राजकुमार्याः पद्मावत्याः शुभागमनमभिनन्दन्ती तापस्याह—**साअदमिति** । स्वागतं शुभागमनम् ।

रूपवतीं पद्मावतीमवलोक्य हृद्गतं भावं सूचयति वासवदत्तायाः कविः—**इअमिति** । इयमेषा पुरो दृश्यमानेत्यर्थः, सा काञ्चुकीयसूचिता । अभिजनानुरूपम् अभिजनयोग्यम् कुलोचितमिति यावत्, 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इत्यमरः । यथास्या राजकुमार्याः कुलं प्रशंसनीयं, तथा रूपमपि प्रशंसामर्हतीत्यर्थः ।

अय्ये इति । तापसीमुद्दिश्य सम्बुद्धिरियम् । आर्ये ! पूज्ये ! वन्दनं नमस्कारः । नमस्करोतीयं पद्मावती तत्रभवतीं तापसीमित्यर्थः ।

(बैठी हुई तपस्विनी का प्रवेश ।)

तापसी—राजकुमारी ! तुम्हारा स्वागत है ।

वासव०—(आप ही आप) यह वही राजकुमारी है । इसका रूप भी कुल के अनुकूल ही है ।

पद्मावती—आर्ये ! प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—(क) चिरं जीव । पविस जादे ! पविस । तवोवणाणि णाम अदिहिजणस्स सअगेहं ।

पद्मावती—(ख) भोदु भोदु । अय्ये ! विस्सत्थह्मि । इमिणा बहुमाणवअणेण अणुग्गहिदह्मि ।

वासवदत्ता—[स्वगतम्] (ग) ण हि रूवं एव्व, वाआ वि खु से महुरा ।

(क) चिरं जीव । प्रविश जाते ! प्रविश । तपोवनानि नामाऽतिथिजनस्य स्वकगेहम् ।

(ख) भवतु भवतु । आर्ये ! विश्वस्तास्मि । अनेन बहुमानवचनेनानुगृहीतास्मि ।

(ग) न हि रूपमेव, वागपि खल्वस्या मधुरा ।

चिरमिति । चिरं जीव दीर्घायुर्भवेति कृतप्रणामां पद्मावतीं प्रत्याशीर्वचनं तापस्याः । अतिथियोग्योपचारं दर्शयति—पविसेति । हर्षार्थे प्रविशेति द्विःप्रयोगः । हर्षश्च तापस्या राजकन्यारूपातिथिविशेषलाभेनैव । जाते ! वत्से इत्यर्थः । सम्बोधनं चेदं पद्मावतीविषयकं पुत्रीभावौपयिकं वात्सल्यभावनाविष्करोति वृद्धायास्तापस्याः । तवोवणाणीति । तपोवनानि किलाभ्यागतानां स्वीयगृहसदृशानि सन्तीत्यर्थः । वत्से ! चिरायुर्भव, स्वगृहनिर्विशेषे तपोवनेऽस्मिन्निःशङ्कं कुरु प्रवेशमिति वाक्यार्थः ।

भोदु भोद्विति । स्वागतोपचारादमुष्मात् सङ्कुचन्त्याः पद्मावत्याः 'पुनरपि पूज्यायास्तापस्या उपचारप्रदर्शनं मयि मा भू'दिति तन्निवारणे त्वराविशेषं सूचयति द्विरुक्तिरियम् । आस्तां तावदिदमुपचारप्रदर्शनम् , पर्याप्तोऽयमुपचार इत्यर्थः । विश्वस्ता जातविश्वासा, शङ्काविरहितेति यावत् । बहुमानवचनेन बहुलादरसूचकःवाक्येन । स्वागतपरिप्रश्नान्निःशङ्काऽहं भवदीयमेतादृक्सुबहुसत्कारप्रदर्शनानुग्रहं शिरसा वहामीत्यर्थः ।

पूज्यया तापस्या कृतं तादृशं स्वागताभिनन्दनं विलोक्य वैलक्ष्यं वहन्तीं विनयवतीं पद्मावतीं प्रशंसति स्वान्ते वासवदत्ता—णहीति । न केवलं रूपमिदं मनोहरं,

---

तापसी—चिरं जीव, आओ बेटी ! आओ । तपोवन तो अतिथियों का अपना घर है ।

पद्मावती—अच्छा, अच्छा । आर्ये ! निश्चिन्त हूँ । इस आदर के भाषण से अनुगृहीत हुई हूँ ।

वासव०—(आप ही आप) केवल रूप ही नहीं, इसकी वाणी भी मधुर है ।

तापसी—(क) भद्दे ! इमं दाव भद्दमुहस्स भइणिअं कोच्चि राआ ण वरेदि ?

चेटी—(ख) अत्थि राआ पज्जोदो णाम उज्जणीए । सो दारअस्स कारणादो दूदसम्पादं करेदि ।

(क) भद्रे ! इमां तावद् भद्रमुखस्य भगिनिकां कश्चिद् राजा न वरयति ?

(ख) अस्ति राजा प्रद्योतो नामोज्जयिन्याः । स दारकस्य कारणाद् दूतसम्पातं करोति ।

वचनमप्येतदीयं तथेति सर्वथेयं प्रशंसनीयेत्यर्थः । पूर्वप्रदर्शिता विनयोक्तिरेव पद्मावतीवचसो माधुर्यं व्यनक्ति । मधुरवचनेयं कथं नाम नाभिनन्दनीयेति भावः ।

इदानीं पद्मावतीविवाहौपयिकं प्रकृतमर्थमवतारयितुमिच्छन् कविस्तापसीमुखेन चेटीं प्रति प्रश्नमाह—**भद्द इति** । भद्रे ! कल्याणि ! इमां पुरो दृश्यमानामित्यर्थः । तावदिति वाक्यालङ्कारे । भद्रमुखस्य भद्रं मुखं यस्येति विग्रहः, कल्याणसूचकवदनस्य प्रियदर्शनस्येति यावत्, महाराजदर्शकस्येत्यर्थः । भद्रमुखशब्दोऽयं तत्प्रतिपाद्यमहाराजदर्शकविषयिणीं द्योतयति वत्सलतां तापस्याः । भगिनिकाम् अनुकम्पनीयां भगिनीं पद्मावतीमिति यावत्, अनुकम्पायां कन् । न वरयति ? न ईप्सति ? पत्नीत्वेन किं न प्राप्तुमिच्छतीति काकुः । केनचिद्राज्ञा सह पद्मावत्याः प्रियदर्शकभगिन्या विवाहसम्बन्धविषयको वार्तालापो न तावदुपक्षिप्तः किमिति वाक्यार्थः । ईप्सार्थकवरधातोश्चौरादिकाण्णिचि वरयतीति रूपम् । पद्मावतीविवाहसम्बद्धोऽयमर्थः पद्मावतीं प्रष्टुं न साम्प्रतमिति तत्परिचारिकां चेटीं प्रति प्रश्नोऽयं युज्यते तापस्याः ।

चेट्या उत्तरमाह—**अत्थीति** । दारकस्य पुत्रस्य, कारणाद्धेतोः, स्वपुत्रार्थमित्यर्थः । दूतसम्पातं, दूतः सन्देशहरः, 'स्यात्सन्देशहरो दूतः' इत्यमरः, तस्य सम्पातः प्रेषणमिति यावत् तं, करोति कुरुते । दूतं सम्प्रेषयतीत्यर्थः । उज्जयिन्याः प्रद्योतनामा राजा स्वपुत्रेण सह पद्मावत्या विवाहसम्बन्धं घटयितुमिच्छतीति भावः ।

प्रद्योतराजपुत्रेण सह पद्मावत्याः सम्पत्स्यमानं विवाहसम्बन्धं स्वात्मसम्बन्धेन

तापसी—कल्याणी ! क्या कोई राजा इस दर्शक महाराज की बहिन को नहीं वरता ?
दासी—उज्जैन का प्रद्योत नामक राजा है, उसने लड़के के वास्ते दूत भेजा है ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) भोदु भोदु। एसा अ अत्तणीआ दाणिं संवुत्ता।

तापसी—(ख) अर्हा खु इअं आइदी इमस्स बहुमाणस्स। उभआणि राअउलाणि महत्तराणि त्ति सुणीअदि।

पद्मावती—(ग) अय्य ! किं दिट्ठो मुणिजणो अत्ताणं अणुग्ग-

(क) भवतु भवतु। एषा चात्मीयेदानीं संवृत्ता।

(ख) अर्हा खल्वियमाकृतिरस्य बहुमानस्य। उभे राजकुले महत्तरे इति श्रूयते।

(ग) आर्य ! किं दृष्टो मुनिजन आत्मानमनुग्रहीतुम् ? अभिप्रेतप्रदा-

---

सानन्दमनुमोदमाना मानसं वासवदत्ताह—**भोदु भोदु**ित। भवतु भवत्विति द्विः प्रयोगस्तावद् 'दूतसम्प्रेषणपुरःसरोऽसौ विवाहसम्बन्धः शीघ्रं सङ्घटता'मिति त्वराभिप्रायकः। **एसेति**। पद्मावती चेयमधुनाऽमुना भविष्यता विवाहसम्बन्धेनात्मीयजनान्तःपातिनी सञ्जाता। भ्रातुर्विवाहसम्बन्धार्थं प्रयुक्तां दूतसम्प्रेषणरूपां वार्ता चेटीमुखतः श्रुत्वा 'पद्मावत्या साम्प्रतमात्मीयया सञ्जात'मित्येवं प्रद्योतराजकुमार्या वासवदत्तायाः सानन्दं मानसोद्गारोऽयम्।

पूर्वोक्तं चेटीवचो निशम्य श्लाघ्यसम्बन्धघटनाकर्णनादानन्दितायास्तापस्या वचनम्—**अर्हेति**। अर्हा पूज्या, योग्येत्यर्थः। 'अर्ह पूजायाम्' इत्यतः पचाद्यचि स्त्रीत्वाट्टाप्, खल्विति निश्चये, आकृतिराकारोऽवयवसंस्थानविशेषः पद्मावतीविषयकः, अस्य बहुमानस्य विवाहसम्बन्धसङ्घटनरूपस्य पूर्वोक्तस्य सम्मानस्य। स्वरूपसौन्दर्यसमन्वितेयं पद्मावती पूर्वोक्तविवाहसम्बन्धसत्कारयोग्यैवेति भावः। उभे राजकुले दर्शकराजकुलं प्रद्योतराजकुलं चेति यावत्। महत्तरे अतिमहती, अतिशये तरप्, महत्त्वं चात्र प्रसिद्धिमत्त्वेन प्रशंसनीयत्वेन च बोध्यम्। श्रूयते आकर्ण्यते, श्रवणपथं गच्छति। कुलद्वयस्याप्यस्य राजकुलान्तरतो महत्त्वातिशयेन प्रसिद्धिरस्तीति भावः।

निजोद्वाहसम्बन्धश्रवणेन सञ्जातलज्जा पद्मावती तापसीचेट्योः प्रचलितं वैवाहिकं वार्तालापमपवार्य निजागमनप्रयोजनं प्रस्तुत्याह काञ्चुकीयम्—**अय्येति**।

वासव०—(स्वगत) अच्छा अच्छा। यह तो अब आत्मीय हुई।

तापसी—इसकी यह आकृति इस आदर के योग्य ही है। दोनों राजकुल बड़े हैं ऐसा सुना जाता है।

पद्मावती—आर्य ! क्या आपने किसी ऐसे ऋषि मुनिको देखा है जो (कुछ लेकर) मुझे

हीदुं ? अभिप्पेदप्पदाणेण तवस्सिजणो उवणिमन्तीअदु दाव को किं एत्थ इच्छदित्ति ।

काञ्चुकीयः—यदभिप्रेतं भवत्या । भो भोः आश्रमवासिनस्तपस्विनः ! शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः, इहात्रभवती मगधराजपुत्री अनेन विस्रम्भेणोत्पादितविस्रम्भा धर्मार्थमर्थेनोपनिमन्त्रयते ।

नेन तपस्विजन उपनिमन्त्र्यतां तावत् कः किमत्रेच्छतीति ।

आत्मानं मामिति यावत् । अनुग्रहीतुम् अनुगृहीतां कर्तुं, मयि प्रसादं दर्शयितुमिति यावत् । अभिप्रेतप्रदानेन अभीष्टार्थस्य वितरणेन हेतुना, हेतौ तृतीया । उपनिमन्त्र्यतां निमन्त्र्यताम्, निमन्त्रणं च नियोगकरणम्, नियोज्यतां प्रवर्त्यतामित्यर्थः । तपस्विजनं मयि सानुग्रहं कर्तुं कोऽपि कुत्राप्यत्र तपस्विजनो विलोकितः किम् ? विलोकितश्चेत्, अहमभीष्टं तस्य पूरयितुमिच्छामीत्यतस्तं तपस्विजनं स्वस्वाभीप्सितार्थकथने प्रवर्तयतु भवानिति स्पष्टोऽर्थः । मुनिजनाभिलाषपूरणादनुगृहीता भवेयमिति स्वस्वार्थकथने मुनिजनो भवता प्रवर्तनीय इति भावः । तपस्विनो यथा निजाभिलाषं प्रकटयेयुस्तथा चेष्टतां भवानिति सारांशः ।

पद्मावतीवचोऽनुसारं तत्र कर्तव्ये काञ्चुकीयस्य प्रवृत्तिं तथोद्योगं च दर्शयति कविः—**यदभिप्रेतमित्यादिना** । भवत्या श्रीमत्या, यदभिप्रेतं यदभिलषितम् । यच्छब्दघटितवाक्यस्य तच्छब्दघटितवाक्यान्तरसाकाङ्क्षतया 'तद्विधीयते मये'—त्यत्र प्रकरणानुरोधाल्लभ्यते । भवत्या इच्छानुरूपं मया सम्पाद्यत इत्यर्थः । तदेवाह—**भो भो इति** । शृण्वन्तु शृण्वन्तु इति वीप्सा आदरे त्वरायां च । तपोवनस्थैः श्रीमद्भिस्तपोधनैर्मया वक्ष्यमाणमिदं श्रोतव्यं श्रोतव्यमिति तेषां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणम् । इह अस्मिन्स्थाने आश्रमेऽस्मिन्नित्यर्थः । अनेन तापस्या प्रदर्शितेनेति यावत्, विस्रम्भेण, स्वागतोपचाररूपेण विश्वासेन,' समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः, उत्पादितविस्रम्भा, उत्पादित उद्भावितो विस्रम्भः शङ्काराहित्यं यस्याः तथाभूता, कृतपूर्वेण

अनुगृहीत करे । कौन क्या चाहता है ? वह अपना अभीष्ट इससे प्राप्त करने के लिये हमारे समीप उपस्थित किया जाय ।

कञ्चुकी—जैसी आपकी इच्छा । हे आश्रमनिवासी तपस्वियो ! आप लोग अच्छी तरह सुन लें कि यहाँ यह मगधराजकुमारी आपके किये हुए स्वागत से निःशङ्क होती हुई धर्म करने के लिये दान देने को बुला रही है ।

कस्यार्थः कलशेन को मृगयते वासो यथानिश्चितं
दीक्षां पारितवान् किमिच्छति पुनर्देयं गुरोर्यद् भवेत्।

तापस्याः सत्कारेण या किल निःशङ्काऽभवत्, सेत्यर्थः। अत्रभवती पूजनीया, मगधराजपुत्री महाराजदर्शकस्य कुमारी पद्मावतीति यावत्, धर्मार्थं धर्मायेति क्रियाविशेषणम्, धर्माचरणार्थमित्यर्थः। अर्थेन वितरणीयेन द्रव्येण हेतुना, भवदर्थ-साधनरूपेण प्रयोजनेन वा, 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः, उपनि-मन्त्रयते नियोजयति, अत्र 'भवत' इति कर्मपदमर्थादाक्षेप्यम्। आश्रमप्रवेशसमये तापस्या समाचरितपूर्वेण सत्कारेण लब्धविश्वासा श्रीमती पद्मावती भवन्मनोरथान् पूरयितुं धर्माचरणबुद्ध्या भवतस्तपोधनान् निजाभिलषितार्थप्रकाशनाय प्रवर्तयति। अतः स्वस्वाभिलाषं प्रकटयितुं प्रसीदन्तु भवन्त इति भावः।

तथाहि—**कस्यार्थ** इति। कस्य तपस्विजनस्य, कलशेन कमण्डलुनेति यावत्, अर्थः प्रयोजनं विद्यते, कः कलशाभिलाषीत्यर्थः। फलस्यापि हेतुत्वोक्त्या 'अध्ययनेन वसती'तिवत् 'हेतौ' इत्यनेन 'कलशेने'ति तृतीया। कः वासो वस्त्रं, मृगयते गवेष-यति वाञ्छतीति यावत्, को वा वस्त्रान्वेषक इत्यर्थः। यथानिश्चितं निश्चय एव निश्चितं, भावे क्तः, निश्चयो निर्धारणं सङ्कल्पो वा, निश्चितमनतिक्रम्येति याथार्थ्येऽव्य-यीभावः। 'श्रुत्युक्तं पूर्णमध्येष्ये' इति निर्धारणानुसारं सङ्कल्पानुसारं वेत्यर्थः। दीक्षां गुरुगृहवासपूर्वकमध्ययनव्रतं, पारितवान् समापितवान्, 'पार तीर कर्मसमाप्तौ' इति धातुपाठात् पारयतेः समापनमर्थः। एतादृशः, क इति शेषः, किं पुनरिच्छति किं तावद्वस्तु कामयते, पुनरिति वाक्यालङ्कारे। यद्वस्तु, गुरोः गुरवे इति यावत्, सम्ब-न्धसामान्यविवक्षायां षष्ठी, देयं भवेत् दातव्यं स्यात्। दृढसङ्कल्पो गुरोरधीत्य समापिताध्ययनकृत्यः कस्तपस्वी गुरवे निवेदनीयं गुरुदक्षिणारूपं कियद् द्रव्यमभि-लषतीत्यर्थः। 'उत्तरवाक्यघटितो यच्छब्दः पूर्ववाक्ये तच्छब्दोपादानं नापेक्षत' इति काव्यसिद्धान्तानुरोधात् 'किमिच्छति पुनः, देयं गुरोर्यद्भवेत्' इत्यत्र पूर्ववाक्ये इच्छतेः कर्मणः 'तत्' इति शब्दस्यानुपादानं न दोषाय। तपस्विनां याचनार्थे प्रव-

---

कौन कमण्डल चाहता है? किसको वस्त्र की आवश्यकता है? ऐसा कौन है—जिसने विधिवत् अपनी शिक्षा समाप्त की है–वह क्या चाहता है? जो उसे गुरुजी को (दक्षिणा के रूप में) देना है। धर्मात्माओं को माननेवाली राजकुमारी अपने ऊपर यहाँ उनका अनुग्रह चाहती

आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा धर्माभिरामप्रिया
यद् यस्यास्ति समीप्सितं वदतु तत् कस्याद्य किं दीयताम् ॥८॥

यौगन्धरायणः—हन्त ! दृष्ट उपायः। [प्रकाशम्] भोः ! अहमर्थी।

तेनार्थमुत्तरार्धमाह–**आत्मानुग्रहमिति**। इह अस्मिन्नाश्रमे, धर्माभिरामप्रिया, धर्मे अभिरामोऽभिरतिः रुचिर्येषां ते धर्माभिरामाः धर्मानुरागिणः, ते प्रियाः प्रीतिपात्रं यस्याः सा धार्मिकेषु जनेषु प्रीतिं कुर्वाणेत्यर्थः। धर्माभिरामाणां प्रिया इति वा विग्रहः, एतेन धार्मिकजनस्य प्रीतिपात्रमित्यर्थः। दातृप्रतिग्रहीत्रोः परस्परप्रीतेरावश्यकतयाऽत्रोभयविधः समासो युज्यते। नृपजा, नृपात् जाता राजकुमारी पद्मावती, आत्मानुग्रहमिच्छति भवत्कर्तृकमात्मन्यनुग्रहं वाञ्छति। अतः यस्य जनस्य, यद्वस्तु समीप्सितमस्ति प्राप्तुमिष्टं वर्तते। सम्पूर्वकात्सन्नन्तादाप्नोतेः! क्तः, 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति सूत्रेण यस्येति षष्ठी। अर्थानुरोधात्प्रकरणवलाच्च 'स' इतिकर्तृपदमध्याहरणीयम्। स जनः, तद्वदतु स्वेप्सितं कथयतु, अधीष्टे लोट्। अद्य अद्यतने दिवसे न तु विलम्बेनेत्यर्थः, कस्य कस्मै, पूर्ववत् शेषत्वविवक्षायां षष्ठी, किं दीयताम् किं वितीर्यताम्। भवत्सु कः कं पदार्थमनया दीयमानं प्राप्तुमिच्छति ? किमनया च कस्मै देयम् ? भवन्तः स्वाभिलषितं निःशङ्कं प्रकाशयन्तु। भवदर्थश्रवणादेवेयमनुगृहीतामात्मानं मंस्यते इति श्लोकार्थः। शार्दूलविक्रिडितं छन्दः, पूर्वमुक्तं लक्षणम् ॥ ८ ॥

उपरिष्टात्प्रपञ्चितायाः प्रदानोद्घोषणायाः श्रवणेन लब्धहर्षस्य यौगन्धरायणस्य स्वगतोक्तिरियम्—**हन्तेति**। 'प्रकाश'मित्यनन्तरोक्तेर्वाक्यमिदमात्मगतत्वेनैव प्रत्युक्तमवगन्तव्यम्। हन्त हर्षे, उपायो युक्तिः मार्ग इति यावत्, दृष्टोऽवलोकितः, अर्थान्मयेति। उपस्थितोऽसौ वासवदत्तानिक्षेपयोग्योऽवसर इत्यर्थः। उपाय्यतेऽनेनेत्युपायः, उपपूर्वाद् अयधातो 'हलश्चे'ति घञ्। प्रकाशं सर्वजनश्रवणीयमित्यर्थः। तथा च तल्लक्षणं **दर्पणे**–'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्' इति। **भोः** इति काञ्चुकीयसम्बुद्धिः, अहमर्थी अहमस्मि याचकः इत्यात्मनोऽर्थित्वाविष्करणं यौगन्धरायणस्य।

है। अतः जिसको अभीष्ट हो वह कहे, किसे आज क्या दिया जाय ? ॥ ८ ॥

यौग०—(मन में) अहा ! मुझे अच्छी युक्ति सूझी (प्रकाश) अजी ! मैं अर्थी हूँ।

पद्मावती—(क) दिट्ठिआ सहलं मे तपोवणाभिगमणं।

तापसी—(ख) संतुट्ठतवस्सिजणं इदं अस्समपदं। आअन्तुएण इमिणा होदव्वं।

काञ्चुकीयः—भोः किं क्रियताम् ?

यौगन्धरायणः-इयं मे स्वसा। प्रोषितभर्तृकामिमामिच्छाम्यत्र-

(क) दिष्ट्या सफलं मे तपोवनाभिगमनम।

(ख) सन्तुष्टतपस्विजनमिदमाश्रमदपदम्। आगन्तुकेनानेन भवितव्यम्।

सौभाग्यादुपस्थितमर्थिनं दृष्ट्वा पद्मावत्याह-**दिट्ठिएति**। दिष्ट्येत्यन्ययम्, भाग्येनेत्यर्थः। **सहलमित्यादि**। अर्थिनः प्राप्त्या तपोवनेऽस्मिन्ममागमनमिदमिदानीं सार्थकमभूदित्यर्थः।

संतुट्ठेति। तपोवनाश्रयेषु तापसेषु कमप्यर्थिनमनुपलभमानायास्तापस्या वचनमिदम्। इदमाश्रमपदम् एतत्तपोवनं, सन्तुष्टतपस्विजनम्, सन्तुष्टस्तपस्विजनो यत्रेत्येतादृशं, वर्तते। आश्रमस्थाः केऽपि किमपि नार्थयन्ते, अतोऽत्रस्यास्तपस्विनः सन्तुष्टाः सन्तीति भावः। अनेन याचकेन, आगन्तुकेन देशान्तरादागतेन। अर्थित्वमाविष्कुर्वाणः स्थानान्तरादागतोऽयं भवेदित्यर्थः। आगच्छतीत्यागन्तुः। आङ्पूर्वाद् गमेः 'सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्कुशिभ्यस्तुन्' इत्युणादिसूत्रेण तुन्प्रत्ययः। आगन्तुरेव आगन्तुकः, स्वार्थे कः। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति नियमात् 'भवितव्यमिति भावार्थे तव्यप्रत्ययः। तदनुरोधादेव 'अनेने'ति कर्तुस्तृतीया।

भोः इति। किं क्रियतां 'किं विधीयताम् किं तावद्भवतोऽभिमतमस्माभिः साध्यता'मिति प्रश्नोऽयमर्थिनं यौगन्धरायणं प्रति काञ्चुकीयस्य।

स्वार्थमुपक्षिपति यौगन्धरायणः-**इयमिति**। इयं मत्समीपवर्तिनीति यावत्, 'इदमस्तु सन्निकृष्टे' इति सिद्धान्तादीदृशार्थता, इदंपदबोध्या च आवन्तिकावेषधारिणी वासवदत्तैव। मे स्वसा भगिनी मे वर्तते। **प्रोषितभर्तृकामिति**। प्रोषित-

पद्मा०—अहो भाग्य! आश्रम में मेरा आना सफल हुआ।

तापसी—इस आश्रम के तो सभी मनुष्य सन्तुष्ट हैं, यह कोई आगन्तुक होगा।

कञ्चुकी—अजी! क्या किया जाय?

यौग०—यह मेरी बहिन है। इसके पति परदेश गये हुए हैं, इसलिये आपकी देख-

भवत्या कञ्चित् कालं परिपाल्यमानाम् । कुतः—

कार्यं नैवार्थैर्नापि भोगैर्न वस्त्रै-

र्नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः ।

भर्तृकामिमाम् अत्रभवत्या कञ्चित् कालं परिपाल्यमानामिच्छामीत्यन्वयः । अत्रभवत्या पद्मावत्या । देशान्तरगतस्य पत्युर्वियोगमनुभवन्तीं दीनां ममैतां भगिनीं परिपालयतु साम्प्रतं किञ्चित्कालपर्यन्तं पूज्या पद्मावतीत्येष एवार्थो ममेत्यर्थः । पद्मावत्याः समीपे न्यासरूपेण स्थापयितुमेनामहमिच्छामीति भावः । प्रोषितो भर्ता यस्यास्तां प्रोषितभर्तृकाम्, 'नद्यृतश्च' इति कप्, स्त्रीत्वाट्टाप् । प्रोषितेति प्रपूर्वाद् वसधातोः कर्तरि क्ते 'वसतिक्षुधोरिट्' इतीडागमे यजादित्वात्सम्प्रसारणे च रूपम् । कञ्चित्कालमिति 'कालाध्वनो'रित्यनेन अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । यावता कालेन पुनः प्रत्यागमिष्यामि तावत्कालपर्यन्तमिति तदर्थः । अत्र च शत्रुकृतराज्यापहारलक्षणे व्यसने पतितस्य स्वामिनोऽर्थं राज्यप्राप्तिलक्षणं साधयितुं चेष्टमानस्य कार्यगौरवमाकलयतो मन्त्रिणो यौगन्धरायणस्य राज्ञः प्रियां वासवदत्तां प्रोषितभर्तृकामात्मभगिनीं निर्दिशतस्तादृशमसत्यभाषणमपि सञ्चच्छमानं न कल्पते दूषणाय । विपदि मृषाभाषणस्य शास्त्रसम्मतत्वेन भूषणास्पदत्वात्तत्र प्रत्युत सत्यभाषणस्यैव दोषावहत्वादसत्यभाषणस्य सर्वथौचित्यादपरिहेयत्वमिति । पूर्वोक्तमर्थं द्रढयति—**कुत** इति । यतः कारणादित्यर्थः ।

तदेवाह—**कार्यमिति** । ममेति औचित्यादध्याहरणीयम्, मम यौगन्धरायणस्येत्यर्थः । अर्थैर्द्रव्यैः हिरण्यप्रभृतिभिः, नैव कार्यं नैव प्रयोजनमस्ति, भोगैः कलशादिभिर्भोग्यपदार्थैरपि न, कार्यमित्यत्रापि योज्यम्, वस्त्रैर्वसनैः परिधानयोग्यैः न, कार्यमिति यावत् । न नाम सन्ति मत्प्रयोजनविषया अर्थभोगवस्त्राणीति नाभिलाषस्तेषु ममेति भावः । फलस्यापि हेतुत्वादर्थादिषु 'हेतौ' इति तृतीया । अहं वृत्तिहेतोः जीविकार्थम्, काषायं कषायेण रक्तं वस्त्रं, 'तेन रक्तं रागात्' इत्यण्, परिव्राजकलिङ्गमिति यावत्, न प्रपन्नः नाङ्गीकृतवान् । जीविकार्थं न मया परिव्राजकतेयमङ्गीकृतेत्यर्थः । प्रपन्न इत्यत्र गत्यर्थत्वात् 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना कर्तरि

भाल में कुछ समय के लिये इसे रखना चाहता हूं । क्योंकि—

न मुझे द्रव्य से प्रयोजन है, न भोग से और न वस्त्र से। न मैंने जीविका के वास्ते गेरुआ वस्त्र पहना है। किन्तु मगधराज की कन्या विदुषी तथा धर्मात्मा हैं । वे मेरी बहिन के चरित्र

धीरा कन्येयं दृष्टधर्मप्रचारा
शक्ता चारित्रं रक्षितुं मे भगिन्याः ॥ ९ ॥

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) हं, इह मं णिक्खिविदु-

(क) हम्, इह मां निक्षेप्तुकाम आर्ययौगन्धरायणः ! भवतु,

क्तः । पूर्वोक्तार्थनिषेधेन तत्र स्वाभिमतार्थसिद्धियोग्यतां दर्शयति—**धीरेति** । धीरा पण्डिता, 'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः । दृष्टधर्मप्रचारा, धर्मस्य सत्कर्मणः प्रचारः प्रख्यापनम्, 'हलश्चे'ति घञ्, दृष्टः ज्ञातः धर्मप्रचारो यस्याः सेति बहुव्रीहिः । यस्याश्च सत्कर्माचरणप्रवणता 'तीर्थोदकानि समिधः' 'कस्यार्थः कलशेने'त्यादिवचनैर्बहुशो विदितास्माभिरित्यर्थः । इमे च विशेषणे पद्मावत्यां न्यासरक्षणस्य सर्वथा योग्यत्वातिशयं पुष्णीतः । सेयं पुरो दृश्यमानैषा, कन्या राज्ञः कुमारी पद्मावती, मे भगिन्याः मम स्वसुः, चारित्रं चरितं शीलमिति यावत्, रक्षितुं गोपायितुं, शक्ता समर्था वर्तते । यतः कारणादियं विदुषी धर्मप्रचारबद्धादरा पद्मावती मद्भगिन्याश्चरितं रक्षितुं समर्था, तत एव कारणादहमत्रभवत्याः पद्मावत्याः सन्निधौ निक्षेप्तुमेतामिच्छामीति स्पष्टोऽर्थः । योग्यस्थलेऽस्मिन् स्वीयां भगिनीं न्यासरूपेण स्थापयित्वा निश्चिन्तीभवितुमिच्छन्नहमर्थादिकं किमपि नाधिगन्तुं वाञ्छामीति श्लोकार्थः । 'चर्यतेऽनेन' इति विग्रहे 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' इत्यनेन चरतेः इत्रप्रत्यये चरित्रशब्दः सिध्यति, ततः चरित्रमेव चारित्रमिति स्वार्थेऽणि चारित्रशब्दो निष्पद्यते । अथवा 'चरेर्वृत्ते' इत्यौणादिकसूत्रेण चर धातोर्णित्रन् प्रत्यये णित्त्वादादिवृद्धौ चारित्रशब्दं संसाध्य पूर्वोक्तप्रत्ययद्वयकल्पनागौरवं परिहरणीयमिति । पद्मावत्या निक्षेपरक्षणक्षमत्वस्य समर्थनादत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । वैश्वदेवीनामकं छन्दः । तल्लक्षणं च यथा—'पञ्चाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ' इति ॥ ९ ॥

पद्मावत्याः समीपे स्वात्मनिक्षेपरूपं यौगन्धरायणोपस्थापितं प्रस्तावं श्रुतवत्या वासवदत्तायाः स्वगतं वितर्कं दर्शयति कविः—**हमिति** । हमित्यव्ययं प्रश्ने, आर्ययौगन्धरायण इह मां निक्षेप्तुकामोऽस्ति ? निक्षेप्तुं कामो यस्येति विग्रहः । 'तुं काममनसोरपि' इति मलोपः । किमत्र पद्मावत्याः सन्निधावार्यो यौगन्धरायणो मां निक्षेप्तुमिच्छति ? भवतु निक्षेपोऽप्ययमस्तु तावन्ममेत्यर्थः । अविचार्य अविमृश्य,

की रक्षा कर सकती हैं, अत एव यह मेरी प्रार्थना है ॥ ९ ॥

वासव०—(आप ही आप) ऊंहु, आर्य योगन्धरायण पद्मावती को मुझे सौंपना चाहते

कामो अय्ययोगन्धरायणो ? होदु, अविआरिअ कमं ण करिस्सदि

काञ्चुकीयः—भवति ! महती खल्वस्य व्यपाश्रयणा । कथं प्रतिजानीमः ? कुतः—

सुखमर्थो भवेद् दातुं सुखं प्राणाः सुखं तपः ।

अविचार्य क्रमं न करिष्यति ।

क्रमं पादविन्यासं प्रवृत्तिमिति यावत्, न करिष्यति न विधास्यति, अर्थाद्यौगन्धरायणः । मदीयनिक्षेपरूपेऽस्मिन् विषये न कदापि यौगन्धरायणोऽविचार्य प्रवर्तिष्यते । विचारपूर्विकैव नूनं तस्येयमीदृशे कर्मणि प्रवृत्तिरिति भावः ।

यौगन्धरायणोपस्थापितस्यार्थस्य सुतरां दुष्करत्वमाकलयन् काञ्चुकीयः पद्मावतीं प्रत्याह—**भवतीति** । भवति ! मान्ये ! पद्मावति ! अस्य यौगन्धरायणस्य, व्यपाश्रयणा व्यपाश्रयः, आश्रय इत्यर्थः, आश्रयार्थितेति यावत् । व्यपाङ्पूर्वात् श्रिधातोर्बाहुलकात् स्त्रियां भावे युच् प्रत्ययः, ततष्टाप् । महती खलु निश्चयेन गुर्वी । कथं केन प्रकारेण, प्रतिजानीमः स्वीकुर्मः । यौगन्धरायणस्तावदत्र स्वभगिनीं निक्षिप्य तद्रक्षणार्थी भवत्या आश्रयं लब्धुमिच्छति । परं निक्षेपरक्षणस्य दुःसम्पादतया विशिष्टैतदभिलाषपूरणं दुःशकमेव । अतः कथङ्कारमीदृशो दुष्करोऽर्थः स्वीकर्तव्य इति भावः ।

कुतः कस्मादिति तस्यार्थस्य दुष्करत्वमेवाह—**सुखमिति** । अर्थो धनं, सुखं सुखपूर्वकमनायासं यथा स्यात्तथा दातुं वितरीतुं, भवेत् स्यात् । भवतेरिह सम्भवरूपार्थता । उदारेषु धनदानशौण्डत्वं बहुशः सम्भवतीत्यर्थः । दातुं भवेदिति 'शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्' इति सूत्रेण अस्त्यर्थे भूधातावुपपदे दाधातोस्तुमुन् । प्राणा असवः, 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' इति कोषात् प्राणशब्दः पुंसि बहुत्वमात्रे प्रयुज्यते, सुखमायासरहितं यथा तथा दातुं, भवेयुरिति वचनविपरिणामेनाऽनुवर्तनीयम् । परोपकाराय स्वान् प्राणानपि सन्तस्त्यजन्तीत्यर्थः । तथा तपः तपश्चरणं तपःफलमिति यावत्, दुष्करकर्मरूपस्य स्वसमानाधिकरणस्य

हैं । अच्छा, ये बिना सोचे ऐसा कार्य न करेंगे ।

कञ्चुकी—माननीये ! आश्रय की प्रार्थना इस संन्यासी की बड़ी कठिन है, कैसे प्रतिज्ञा (स्वीकार) करें । क्योंकि—

अर्थ, प्राण, तपस्या का फल तथा और सब कुछ देना सहल है, किन्तु न्यास (थाती)

सुखमन्यद् भवेत् सर्वं दुःखं न्यासस्य रक्षणम् ॥ १० ॥

पद्मावती—(क) अय्य ! पढमं उग्घोसिअ को किं इच्छदित्ति अजुत्तं दाणिं विआरिदुं । जं एसो भणादि, तं अणुचिट्ठदु अय्यो ।

(क) आर्य ! प्रथममुद्घोष्य कः किमिच्छतीत्ययुक्तमिदानीं विचारयितुम् । यदेष भणति, तदनुतिष्ठत्वार्यः ।

तपसो दानानुपपत्त्याऽत्र तपःशब्देन तत्फलं लक्ष्यते, सुखमनायासेन दातुं भवेदिति पूर्वोक्तानुवृत्तिः । उदारचेतसो मुनयस्तपसो दुष्करस्यापि फलं परापन्निवारणाय दातुं प्रवर्तन्ते सुखेनेत्यर्थः । अन्यत्सर्वं सकलमितरद् वस्तुजातं, सुखमक्लेशेन, दातुमिति पूर्वतोऽनुवर्तते, दातुं भवेत् । परार्थं सतां सकलवस्तुप्रदाने प्रवर्तनमक्लेशं भवत्येवेत्यर्थः । यद्वा दातुमिति नात्रानुवर्तनीयम्, सर्वमन्यत् सुखं भवेत् सकलं कार्यान्तरं सुकरं स्यादित्यर्थः । किन्तु सकलापेक्षया, न्यासस्य निक्षेपस्य, रक्षणं पालनं तु, दुःखं दुष्करम्, अस्तीति शेषः । अर्थप्रभृतीनां समस्तानां वस्तूनां वितरणं तावल्लोके सुकरं, परं निक्षेपरक्षणं नाम स्वस्मिन्नुत्तरदायित्वेन सर्वथा दुष्करमेवेत्यमुष्मिन् दुष्करे कर्मणि कथमिदानीं प्रवर्तितव्यमस्माभिरिति काञ्चुकीयवचसोऽभिप्रायः । यौगन्धरायणाभिलाषस्य गरीयस्त्वं दुष्करत्वं च समर्थयितुं श्लोकोऽयमवतीर्ण इति स्फुटमत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः प्रागुक्तलक्षणम् ॥१०॥

यौगन्धरायणाभिलाषपूरणं दुष्करं सम्भाव्य प्रतिज्ञातपूर्वात्तदर्थात्पराङ्मुखीभवतः काञ्चुकीयस्य विचारं परिवर्तयितुमुद्यता पद्मावत्याह—**अय्येति** । 'कः किमिच्छती'ति प्रथममुद्घोष्य 'कस्यार्थः कलशेन' इत्यादिना 'कस्य कीदृशोऽभिलाषः ? स किल निःशङ्कं प्रकटनीयः' इत्येवं पूर्वमुद्घोषणां कृत्वा, इदानीं, तदभिलाषश्रवणानन्तरमित्यर्थः, विचारयितुमयुक्तम् तत्पूरणस्य दुष्करत्वमाकलय्य किमपि तत्रार्थे विचिन्तयितुं नोचितम् । अत इति शेषः, एष यद्भणति यौगन्धरायणो यादृशमभिलाषं प्रकाशयति, आर्यः तदनुतिष्ठतु तत्रभवता भवता स किल पूरयितुं स्वीकर्तव्य इति स्पष्टोऽर्थः । 'अर्थिनः सर्वोऽप्यर्थोऽवश्यं पूर्येतास्माभि'रित्यत्र प्रतिज्ञातचरे

की रक्षा करना कठिन है ॥ १० ॥

पद्मावती—आर्य ! कौन क्या चाहता है-ऐसी पहले घोषणा कर, अब सोचना अनुचित है । ये जो कहते हैं, आप उसे करें ।

काञ्चुकीयः—अनुरूपमेतद् भवत्याभिहितम् ।
चेटी—(क) चिरं जीवदु भट्टिदारिआ एवं सच्चवादिणी ।
तापसी—(ख) चिरं जीवदु भद्दे ! ।
काञ्चुकीयः—भवति ! तथा । [उपगम्य] भो ! अभ्युपगतमत्र-

(क) चिरं जीवतु भर्तृदारिकैवं सत्यवादिनी ।
(ख) चिरं जीवतु भद्रे !

विषये 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ती'त्यविचारितं प्रवर्तितव्यम्, अत इदानीं यौगन्धरायणाभिलाषस्य पूरणं कर्तव्यमेवेति भावः । राजकुमार्या प्रयुक्तं चात्र मान्यार्थकम् 'आर्यें'ति सम्बोधनं काञ्चुकीयस्य वृद्धत्वाद्विशिष्टाधिकारित्वाच्च युक्तमेव ।

अनुरूपमिति । अनुरूपं योग्यम्, समयधर्मकुलोचितमित्यर्थः । युक्तमुक्तं भवत्या, समयधर्माद्युचितं कार्यमिदानीं कर्तव्यमेवास्माभिरिति तत्रार्थे पुनरप्यात्मनोऽनुरूपां प्रवृत्तिं प्रदर्शितवान् काञ्चुकीयः ।

महतोऽप्यर्थस्य पूरणं स्वौदार्येण समर्थयन्तीं पद्मावतीमभिनन्दति चेटी—**चिरंजीवद्विति** । एवं सत्यवादिनी, ताच्छील्ये णिनिः, नान्तत्वात् ङीप्, इत्थं सत्यभाषणशीलेति यावत्, प्रतिज्ञातपूर्वाद्विषयादविचलन्तीत्यर्थः, भर्तृदारिका राज्ञः कन्या पद्मावती, चिरं जीवतु दीर्घायुर्भवतात् । आशीश्चैषा प्रधानपरिचारिकायाः सखीनिर्विशेषायाः सहचारिण्याश्चेट्याः स्वामिनीं राजकुमारीं प्रत्यपि युज्यते प्रीतिप्रयुक्ता । अथवा नेयमाशीः, सानन्दमुदीरितो मानसः सोऽयमभिलापश्चेट्या इति ।

अत्रार्थे प्रसादं दधत्यास्तापस्या अपि तदुचितं वचनमाह—**चिरमिति** । भद्रे ! कल्याणरूपे ! पद्मावति ! चिरं जीवतु, भवतीति शेषः । सामान्यतोऽर्थिकामपूरणं पूर्वं स्वीकृत्य, ततो वासवदत्तानिक्षेपरक्षणलक्षणं विशिष्टं तमर्थं श्रुत्वा तस्य दुष्करतां काञ्चुकीयोक्तामवधार्यापि तत्र स्थैर्यं दधाना त्वं दीर्घमायुर्लभस्वेति शुभाशीर्वचनगर्भं तापस्या कृतं पद्मावत्या अभिनन्दनम् ।

भवतीति । भवति ! मान्ये पद्मावति ! वृद्धस्यापि काञ्चुकीयस्य राज्ञः कुमारीमुद्दिश्य सम्बोधनवचनं चेदं पद्मावतीविषयकमादरभावं सूचयति । तथा,

कञ्चुकी—यह आपने योग्य कहा ।
दासी—इस प्रकार सत्यभाषिणी राजकुमारी चिरकाल जीयें ।
तापसी—कल्याणी ! चिरञ्जीविनी हो ।
कञ्चुकी—बहुत ठीक, (पास पहुँचकर) श्रीमती राजकुमारी ने आपकी भगिनी का

भवतो भगिन्याः परिपालनमत्रभवत्या।

यौगन्धरायणः—अनुगृहीतोऽस्मि तत्रभवत्या। वत्से! उपसर्पात्रभवतीम्।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) का गई। एसा गच्छामि मन्दभाआ।

(क) का गतिः। एषा गच्छामि मन्दभागा।

यथा भवत्याज्ञप्तं तथा सादरं स्वीकृतं मया। भवत्या आदेशमनुसृत्य कार्यमिदं करिष्यत इति भावः। उपगम्य यौगन्धरायणस्य समीपं गत्वा, वक्ष्यमाणं वचनमिदं यौगन्धरायणमुद्दिश्येत्यर्थः। तदेवाह—**भोः** इति। सम्बोधनचिह्नमिदं यौगन्धरायणोद्देश्यकम्। अभ्युपगतम्, अत्रभवतः पूज्यस्य, अत्रभवत्या पूज्यया पद्मावत्या। न्यासरूपेणात्मभगिनीमत्र स्थापयितुमिच्छतो भवतोऽभिलाषं पूरयितुमिदानीं सनद्धा वर्तते पूज्या पद्मावतीत्यर्थः।

पद्मावत्याः सन्निधौ वासवदत्तानिक्षेपरूपं प्रस्तावमात्मनोपस्थापितं सफलमालोक्य ततः कार्यैकदेशस्य सिद्धिमवधार्य सप्रसादं यौगन्धरायणो वचनं प्रयुङ्क्ते—**अनुगृहीतोऽस्मीति**। श्रीमत्याः पद्मावत्या महाननुग्रहोऽयं मयि यन्मदीयोऽभिलाषोऽयं तया फलेग्रहितामापादयिष्यत इत्यर्थः। वासवदत्तामुद्दिशति—**वत्से** इत्यादि। वत्से! बाले! अत्रभवतीं माननीयां पद्मावतीमुपसर्प, कियन्तं चित् कालमत्र निवासं कर्तुं पद्मावत्याः समीपं गच्छेत्यर्थः। राज्ञः प्रियतमेन प्रधानामात्येन प्रयुक्तं 'वत्से' इति सम्बोधनपदं वासवदत्ताया युज्यत एव।

यौगन्धरायणोक्तं पद्मावतीसन्निधावुपसर्पणमात्मनः प्राप्तकालमालोक्य चेतसीत्थं चिन्तयति वासवदत्ता—**का गईति**। का गतिः किमत्रान्यत् करणीयम्, गत्यन्तरमत्र नास्तीत्यर्थः। मन्दभागा, भाग्यपर्यायो भागशब्दोऽप्यस्ति मन्दोऽल्पो भागः भाग्यं यस्याः सैषा, अल्पभाग्या सेयमहं गच्छामि, पद्मावत्याः समीपमिति शेषः। प्रियवियोगं कथञ्चित्सहमानया कार्यान्तरं कर्तुं गमिष्यतो यौगन्धरायणस्यापि वियोगोऽयमिदानीं तदेकमात्रसहायया तूष्णीं मया सोढव्य एवेति कथञ्चि-

---

पालन (देखभाल) करना स्वीकृत किया।

यौग०—श्रीमती ने बड़ा ही मुझपर अनुग्रह किया। बेटी! इनके समीप जा।

वासव०—(आपही आप) क्या करूँ, अब मुझ मन्दभागिनी को जाना पड़ा।

पद्मावती—(क) भोदु भोदु । अत्तणीआ दाणिं संवुत्ता ।

तापसी–(ख) जा ईदिसी से आइदी, इयं वि राअदारिअत्ति तक्केमि ।

चेटी–(ग) सुट्ठु अय्या भणादि । अहं वि अणुहूदसुहत्ति पेक्खामि ।

(क) भवतु भवतु । आत्मीयेदानीं संवृत्ता ।

(ख) या ईदृश्यस्या आकृतिः, इयमपि राजदारिकेति तर्कयामि ।

(ग) सुष्ठु आर्या भणति । अहमप्यनुभूतसुखेति प्रेक्षे ।

दपि गत्यन्तराभावादल्पभाग्यया मया पद्मावत्युपसर्पणरूपं पाराधीन्यमिदमङ्गीकर्त्तव्यमेवेति भावः ।

उपसर्पन्तीं तां विलोक्य पद्मावत्याह—**भोद्विति** । भवतु भवतु, आदरार्था द्विरुक्तिरेषा, यौगन्धरायणभगिन्युपसर्पणं कर्तृ, तस्यैव प्रस्तुतत्वात् । आत्मीया संवृत्ता स्वकीया सञ्जाता । उपसर्पतु मामियमादरणीया, स्वीयजननिर्विशेषं सम्प्रत्येषा परिपाल्यते मयेति भावः ।

जा इति । अस्याः पद्मावतीमुपगताया अर्थिभागिन्या एतस्या इत्यर्थः, या इदृशी आकृतिः योऽयमीदृशो रमणीय आकारः, तेन इयमपि पद्मावती समागतार्थिभगिन्यपि, राजदारिका राज्ञः कुमारी, स्यादिति शेषः, इति तर्कयामि इत्थं कल्पयाम्यहम् । आकृतिसौन्दर्येण यथा पद्मावत्या राजकन्यात्वं स्फुटं प्रतीयते, तथा न्यासरूपेण स्थापिता सेयमपि नूनमाकृतिसौन्दर्यशालिनी काचिद्राजकन्यैव स्यादिति सम्भावयामीत्यर्थः ।

सुट्ठु इति । आर्या पूज्या तापसीति यावत्, सुष्ठु भणति समीचीनं युक्तिसङ्गतं वदति । **अहमिति** । इयमिति प्रस्तावानुरोधादध्याहर्तव्यम् । अर्थिनः स्वसेति तदर्थः, अनुभूतसुखा, अनुभूतमनुभवविषयीकृतमुपभुक्तं सुखं राजकन्योचितमैश्वर्यं यया तादृशी विद्यते, इति इत्थम्, पश्याम्यवगच्छामि । 'राजकन्यासुलभं वैभवमनुभूतं पूर्वमनये'त्यहमपीदमीयरमणीयाकारविलोकनतोऽवगच्छामीति पूज्याया भवत्यास्तर्कमनुमोदे इति भावः ।

योग्यस्थले वासवदत्तां निक्षिप्य लब्धनिर्वृतिर्यौगन्धरायणश्चित्ते पर्यालोचयति-

---

पद्मा०—अच्छा, अच्छा । अब यह आत्मीय हुई ।

तापसी—इसकी जैसी आकृति है, इससे यह भी राजकुमारी है ऐसा मालूम होता है ।

दासी—आप ठीक कहती हैं । मैं समझती हूँ कि इसने राजसुख का अनुभव किया होगा ।

यौगन्धरायणः—[आत्मगतम्] हन्त भोः ! अर्धमवसितं भारस्य । यथा मन्त्रिभिः सह समर्थितं, तथा परिणमति । ततः प्रतिष्ठिते स्वामिनि तत्रभवतीमुपनयतो मे इहात्रभवती मगधराजपुत्री विश्वासस्थानं भविष्यति । कुतः—

हन्तेति । हर्षसूचकं हन्तेत्यव्ययम्, भोः इति आत्मानमुद्दिश्य सम्बुद्धिः । भारस्य स्वशिरोऽधिरूढस्य विपक्षापहृतस्वामिराज्यप्रत्याहरणरूपस्येति यावत्, अर्धं समानांशः समानोऽर्धभागः, अवसितं समाप्तं सम्पन्नम् । 'अर्धं समेंऽशके' इति कोषात् समांशार्थवाचिनोऽर्धशब्दस्य क्लीवत्वम् । सम्पादितस्य वासवदत्तानिक्षेपरूपस्य कार्यस्यार्धत्वं च पद्मावतीविवाहसम्बन्धसङ्घटनप्रभृतिकरणीयकार्यान्तरापेक्षया बोद्धव्यम् । अवसीयते स्म इति विग्रहे अन्तकर्मार्थकात् अवपूर्वात् षोधातोः क्तप्रत्यये 'द्यतिस्यतिमास्थामिति किति' इति इत्वे च अवसितमिति रूपम् । मन्त्रिभिः रुमण्वत्प्रभृतिभिः सह, यथा समर्थितं येन प्रकारेण कार्यं कर्तुमवधारितं, तथा परिणमति तेन प्रकारेण कार्यं फलति । ततः तदनन्तरं क्रमेणेत्यर्थः, स्वामिनि उदयने, प्रतिष्ठिते पुनः स्वीयराज्यसिंहासनमधिरूढे सति, तत्रभवतीं पूज्यां वासवदत्ताम्, उपनयतः स्वामिनः सन्निधिं नयतः मे मम यौगन्धरायणस्य, इह अस्मिन् विषये वासवदत्तायाश्चारित्र्यशुद्धिरूपे, अत्रभवती मान्या मगधराजस्य पुत्री कन्या पद्मावती, विश्वासस्थानं विश्वासास्पदं साक्षिभूतेति यावत्, भविष्यति सम्पत्स्यते, इति शब्दार्थः । अत्र वासवदत्तोपनयनस्य भविष्यत्कालिकत्वेऽपि 'उपनयत' इति वर्तमानसामीप्यविवक्षया वर्तमानकालिकः प्रयोगः । तेन स्वामिनो राज्यप्राप्तेर्वासवदत्तासमागमस्य च प्राप्तावसरत्वं सूच्यते । 'विपक्षापहृतं स्वामिनो राज्यम् अधिकरिष्यामी'ति कृतप्रतिज्ञस्य, तदुचितेषु कर्तव्येषु वासवदत्तानिक्षेपलक्षणं गुरुतरं कार्यं सम्पादितवतो मे शिरसोऽवतीर्णः साम्प्रतं स्वावलम्बितस्य भारस्यायमर्धभागः । रुमण्वदादिभिः सार्धं तस्य निर्णयस्याविरोधेनैव नूनमिदानीं कार्यस्य फलवत्ता दृश्यते । क्रमेण च निजं राज्यसिंहासनमधिरूढेन स्वामिनोदयनेन सह

यौग०—(आप ही आप) अहा ! आधा भार तो उतर गया । मन्त्रियों के साथ जैसा ठीक किया था वैसा ही हो रहा है । महाराज उदयन के फिर भी राज्य पाने पर उनके पास इसको पहुंचाने वाले मुझे यहाँ पर यह मगधराज की पुत्री विश्वासपात्र (साक्षिणी) होगी । क्योंकि—

पद्मावती नरपतेर्महिषी भवित्री
दृष्टा विपत्तिरथ यैः प्रथमं प्रदिष्टा ।
तत्प्रत्ययात् कृतमिदं, न हि सिद्धवाक्या-
न्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि ॥ ११ ॥

वियोगिनीं वासवदत्तां योजयिष्यन्नहं वासवदत्ताचरितस्य निर्दोषताविषये पद्मावतीमेव साक्षिणीं कर्तुं प्रभविष्यामीति सकलवाक्यार्थः । एतादृशाखिलकार्यसिद्धिपर्यालोचनयैव हर्षोक्तिरियं यौगन्धरायणस्य ।

कुत इति पूर्वोक्तमेवार्थं समर्थयन्नाह—**पद्मावतीति** । यैः पुष्पकभद्रप्रभृतिभिः सिद्धैः, विपत्तिः आगमिष्यन्ती विपत्, सा च विपक्षाचरितस्वामिराज्यापहरणरूपैव, पूर्वं तदुपस्थितेः प्राक्, प्रदिष्टा सूचिता, अथानन्तरं, सैव दृष्टा प्रत्यक्षमनुभूता अर्थादस्माभिः । साम्प्रतं च तत्प्रत्ययात् तेषु सिद्धेषु तत्र वा सिद्धवचने प्रत्ययाद्विश्वासात्, इदमेतद् पद्मावत्याः समीपे न्यासरूपेण वासवदत्तायाः स्थापनमिति यावत्, कृतं विहितं मयेति शेषः, अतश्च नूनं, पद्मावती सेयं मगधराजकुमारी, नरपतेर्महाराजस्योदयनस्य, महिषी कृताभिषेका पत्नी, 'कृताभिषेका महिषी'इत्यमरः, भवित्री कालान्तरे भाविनी, भविष्यदर्थे तृच्, ऋदन्तत्वान्ङीप् । 'उदयनस्य राज्यं परहस्तगतं भविष्यती'ति प्रथममेव सिद्धैः सूचितायाः स्वामिनो विपत्तेः प्रत्यक्षानुभवादेव, साम्प्रतं पुनस्तैः संसूचिते 'पद्मावती राजमहिषी भविष्यती'त्यत्रापि भाविन्यर्थे विश्वासमवलम्ब्य पद्मावत्याः सन्निधौ स्थापिता न्यासरूपेण मया वासवदत्ता । अतः सिद्धानां प्रथमस्यादेशस्य सत्यतयेव द्वितीयस्यापि तेषामादेशस्य सत्यत्वसम्भावनयैव मन्ये पद्मावती नूनं स्वामिनो भार्या भविष्यतीति भावः । उक्तस्यार्थस्य युक्तत्वं समर्थयते—**न हीति** । हि तथा हि युक्तमेवेत्यर्थः । विधिर्दैवं भवितव्यता, सुपरीक्षितानि सत्यत्वपरीक्षायां समुत्तीर्णानि अर्थाऽविसंवादीन्यवितथानीति यावत्, सिद्धवाक्यानि ज्ञानगोचरीकृतत्रैकालिकाशेषविषयाणां सिद्धपुरुषाणां वचनानि, उत्क्रम्योल्लङ्घ्य, न गच्छति, अनुसरत्येव ताव-

---

जिन ज्योतिषियों ने आनेवाली विपत्ति को पहिले ही कहा था उस विपदा को हम लोग देख चुके, अब उन्हीं के वचनों पर विश्वास करने से यह भी (वासवदत्ता को पद्मावती के हाथ सौंपना) हमने किया और इसी से हम जानते हैं कि समय आने पर पद्मावती महाराज की रानी होगी । क्योंकि होनहार (भवितव्यता) सिद्धों के सुपरीक्षित वचनों का उल्लङ्घन नहीं करती ॥ ११ ॥

[ततः प्रविशति ब्रह्मचारी ।]

ब्रह्मचारी—[ऊर्ध्वमवलोक्य] स्थितो मध्याह्नः । दृढमस्मि परिश्रान्तः । अथ कस्मिन् प्रदेशे विश्रमयिष्ये ? [परिक्रम्य] भवतु, दृष्टम् । अभितस्तपोवनेन भवितव्यम् । तथाहि—

दवितथानि सिद्धानां वचांसि भवितव्यतेत्यर्थः । भाविनोऽर्था हि सिद्धजनसूचनानुसारमेव परिणमन्तीति पूर्वोक्तार्थे विश्वासयोग्यताऽस्तीति भावः । एतेन–राज्ञो महिष्याऽत्र पद्मावत्या सूच्यमानं वासवदत्ताचारित्र्यशुद्धिविषयकं साक्ष्यं स्वामिनः समधिकविश्वासास्पदं भविष्यतीति यौगन्धरायणस्य तदौपयिकवासवदत्तानिक्षेपलक्षणप्रधानकार्यसंसिद्ध्या कियतांशेन कृतकृत्यता सूचितेत्यलम् । अत्र च काव्यलिङ्गमलङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ११ ॥

इदानीम् उदयनविषयकं प्रेम पद्मावत्याश्चित्ते समुत्पादयितुं विरहविधुरां दीनां च वासवदत्तां समाश्वासयितुं प्रियया वियुक्तस्योदयनस्य दशां वर्णयिष्यन् कविस्तदौपयिकं ब्रह्मचारिणः प्रवेशमाह—**ततः प्रविशतीति ।**

ऊर्ध्वमवलोक्येति । आकाशे दृष्टिं दत्त्वेत्यर्थः । स्थित इति कर्तरि प्रयोगोऽयम् । अह्नो मध्यं मध्याह्नः, 'अह्नोऽह्नः एतेभ्यः' इत्यनेन सर्वैकदेशवाचिमध्यशब्दात्परस्याहन्शब्दस्य अह्नादेशः । दृढमित्यव्ययं क्रियाविशेषणम् । अथशब्दः प्रश्नार्थकः, 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । विश्रमयिष्ये, इति हेतुमण्णिजन्तायाः सकर्मकक्रियायाः कर्मपदम् 'आत्मान'मित्यध्याहार्यम् । स्वार्थिको वा णिच्, अत्र च पक्षे क्रियाया अकर्मकत्वात् कर्मणो नावश्यकता । परिक्रम्य इतस्ततः परिभ्रम्येति विश्रमोचितस्थलान्वेषणम् । भवतु अस्तु तावत् । स्थानोपलब्धिं सूचयति—**दृष्टमिति** । अत्र हि 'स्थान'मिति कर्मपदस्यार्थबलादाक्षेपः । अभितः समीपे, 'समीपोभयतःशीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभित' इत्यमरः । दिनस्य मध्यभागो वर्तते, अधुनैष प्रचण्डांशुकिरणसम्पातसन्तापात् परिभ्रमणपरिश्रमो मां भृशं बाधते । कः खलु प्रदेशोऽत्र भविता मे विश्रमयोग्यः । हन्त ! विश्रमोचितं

(तब ब्रह्मचारी आता है ।)

ब्रह्मचारी—(ऊपर देखकर) दो पहर हुआ । मैं बहुत थक गया हूँ । अब किस स्थल पर विश्राम करूँ ? (घूमकर) अच्छा, स्थान देखा । मालूम होता है कि यहाँ चारों ओर तपोवन होगा, क्योंकि—

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः ।

स्थानमुपलब्धमिदम् । अनुमीयते किल समीप एव तपोवनं स्यादिति । तथा हि युक्तमेवेदमित्यर्थः ।

पूर्वोक्तं तपोवनत्वानुमानं द्रढयन्नाह—**विस्रब्धमिति ।** श्लोकेऽस्मिन् 'अत्रे'-त्युपरिष्टाद्योजनीयम् । दृश्यमानेऽस्मिन् स्थाने इति तदर्थः । हरिणा मृगाः, देशागत-प्रत्ययाः देशात् जनपदात् जनपदापेक्षयेत्यर्थः, अथवा देशे प्रदेशेऽस्मिन्नित्यर्थः, आगतः प्राप्तः प्रत्ययो विश्वासो येषां तथाविधाः, अत एव अचकिताः निर्भयाः सन्तः, विस्रब्धं निःशङ्कं यथा स्यात्तथा, चरन्ति सञ्चरणं कुर्वन्ति । मृगाणां निःशङ्कसञ्चरणे लब्धविश्वासत्वं निर्भयत्वं च हेतुः । सर्वे वृक्षाः समस्ताः पादपाः, दयारक्षिताः दयया-ऽनुकम्पया प्रेम्णा रक्षिताः पालिताः वर्धिता इति यावत्, अत एव पुष्पफलैः पुष्पाणि च फलानि च पुष्पफलानि तैः, इतरेतरयोगो द्वन्द्वसमासः, पुष्पैश्च फलैश्चेत्यर्थः, पुष्प-सहितानि फलानीति मध्यमपदलोपी समासो वा, पुष्पसहितैः फलैरिति तदर्थः, समृ-द्धविटपाः समृद्धाः परिपूर्णा विटपाः शाखा येषां ते तथाभूताः सन्ति । सुरक्षितानां वृक्षाणां शाखासु पुष्पफलसमृद्धिः शोभत इति भावः । सर्वे वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धवि-टपा अत एव दयारक्षिताः सन्तीति वा योजना । अत्र च पक्षे पुष्पफलसमृद्धिशा-लिनां शाखिनां सुरक्षितत्वं गम्यते । वृक्षाणां रक्षणं चात्र यथोचितसेचनादिमूलकं बोध्यम् । 'पुष्पफलैः समृद्धविटपा' इत्यनेन पुष्पादीनां स्वरूपशोभैकफलत्वं सर्वथा लोककार्यानुपयोगित्वं च ध्वन्येते । कपिलानि पिशङ्गानि पीतवर्णानीति यावत्, 'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ' इत्यमरः, गोकुलधनानि गोकुलानि गोयूथानि, धनान्यर्थां इवेति 'उपमितं व्याघ्रादिभि'रित्यनेनोपमितसमासः, कपिलत्वविशेषणानुगुण्येन पूर्वपदगोकु-लार्थप्रधानस्य तस्यैव समासस्य युक्तत्वात् । गोकुलान्येव धनानीत्युत्तरपदार्थप्रधानम-यूरसंव्यकादिसमासाश्रयणे तु कपिलत्वविशेषणमनुपपन्नं स्यादिति । भूयिष्ठं बहुतम-मिति क्रियाविशेषणम्, सन्तीति सामान्यक्रियाक्षेपः । अत्र च धनसादृश्यवर्णनेन गवां सर्वतः सुरक्षितत्वं गम्यते । सर्वप्रकारैः प्रयत्नैः सम्यक् संरक्षितानां गवामत्र प्राचुर्यं

तपोवन ही के कारण यहाँ पर हरिण निर्भय तथा निश्चिन्त हो घूमते हैं, प्रेमपूर्वक यत्नों से पाले पोसे पेड़ों की डालियां फल-फूलों से लदी हुई हैं, कपिला (कैली) गायें भी बहुत सी घूम रही हैं, आसपास की जमीन खेती में नहीं ली गई है और धूँआ भी बहुतायत से निकल

भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥१२॥

विद्यत इत्यभिप्रायः। एतेन—गोसामान्यस्य रक्षणं प्रशस्तं, कपिलगवां तु सुतरामिति तादृशगुणवत्त्वेन पवित्रतमस्यास्य प्रदेशस्य सर्वतोऽभ्यर्हितत्वं द्योतितम्। वहुत्वातिशये द्योत्ये वहुशब्दात् 'अतिशायने तमविष्ठनौ' इति इष्ठन्प्रत्यये 'इष्ठस्य यिट् चे'त्यनेन वहुशब्दस्य भू इत्यादेशे यिडागमे च भूयिष्ठशब्दः सिध्यति। दिशः ककुभः प्रान्तभूभागा इति यावत्, अक्षेत्रवत्यः सन्ति, क्षेत्राणि कृषिसाधनानि स्थलानि विद्यन्तेऽत्रेति क्षेत्रवत्यः, तादृशा न भवन्तीत्यक्षेत्रवत्यः। मतुवन्तानञ्समासः। प्रान्तभूमिषु कृषिप्रयोजनानां क्षेत्राणां नामापि नास्तीत्यर्थः। अत एतादृक्कारणसामग्रीसमवधानेन, इदं तपोवनं तापसाश्रमोऽयम्, इति निःसन्दिग्धं निश्चितम्। स्थलस्यास्य तपोवनत्वे संशयलेशोऽपि नास्तीत्यर्थः। यथात्र हरिणा निःशङ्कं चरन्तः, शाखिनः पुष्पफलसमृद्धिशालिनः कपिला गावो भूयस्यः पर्यन्तभूमयश्च क्षेत्रवर्जिताः सन्ति तथा नूनमिदं तपोवनमेवेत्यनुमीयते। पुनरप्यसाधारणं हेत्वन्तरमाह—हि यस्मात्, बह्वाश्रयः बहूनि होमद्रव्याणि आश्रय आधारो यस्य सः हवनीयद्रव्याश्रयशाली, अयं पुरोवर्ती, धूमः हवनाधिकरणीभूताद्ग्नेरुद्भूतः, प्रसरतीति शेषः। द्रव्यविशेषाहुतिप्रदानोद्भूतं सौरभं वहतो धूमस्य सर्वतः प्रसरणेन तपस्विनामाहिताग्नीनां नूनमियं निवासभूमिरिति भावः।

नन्वत्र चरणत्रयसूचितैर्हेतुभिस्तपोवनानुमानकार्यस्य प्रतिपादनोत्तरं वाक्यस्य परिसमाप्तौ पुनः 'अयं धूमो हि बह्वाश्रयः' इति हेत्वन्तरप्रदर्शनेन समाप्तपुनरात्तत्वं नाम दोषः प्रसज्जत इति चेन्न, साधारणैः पूर्वोक्तहेतुभिः साधितं तपोवनानुमानं द्रढयितुमसाधारणस्य हेतोः पुनः प्रतिपादनस्यावश्यकत्वात्, अस्य च हेतोः पूर्वापेक्षया वैशिष्ट्यात्। वाक्यार्थपरिसमाप्त्यनन्तरमनावश्यकं यत्र यत्किञ्चिदुच्यते तत्रैव समाप्तपुनरात्तत्वस्य सिद्धान्तितत्वादिति। अनुमानाकारश्च यथा—इदं, तपोवनम्, निःशङ्कहरिणसञ्चरणशालित्वादिधर्मवत्त्वात्, यत्र तादृशधर्मवत्त्वं तत्र तपोवनत्वम्, यन्नैवमिति। इदं चानुमानं वर्णनवैचित्र्याच्चमत्कारमाविष्करोतीत्यत्रानुमानालङ्कारः। चमत्कृतिजनकतावच्छेदकतावच्छेदकत्वस्यैवालङ्कारत्वादस्य

रहा है। अत एव यह निःसन्देह तपोवन है॥ १२॥

यावत् प्रविशामि । [प्रविश्य] अये ! आश्रमविरुद्धः खल्वेष जनः । [अन्यतो विलोक्य] अथवा तपस्विजनोऽप्यत्र । निर्दोषमुपसर्पणम् । अये ! स्त्रीजनः ।

काञ्चुकीयः—स्वैरं स्वैरं प्रविशतु भवान् । सर्वजनसाधारणमाश्रमपदं नाम ।

च यथा तथात्वं तथा सहृदयसाक्षिकमेवेत्यलं बहुना । शार्दूलविक्रीडितमत्र वृत्तम्, लक्षणं चोक्तचरमेतस्य ॥ १२ ॥

यावत् प्रविशामीति । यावदिति वाक्यालङ्कारे, प्रविशामि तपोवनत्वेन निश्चितेऽत्र ब्रह्मचारिणो मम प्रवेशयोग्ये स्थले प्रवेशं करोमीत्यर्थः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानत्वाल्लट् । प्रविश्य प्रवेशोपक्रमं नाटयित्वा । नागरिकवेषं काञ्चुकीयं दृष्ट्वा पुरः प्रवेष्टुं शङ्कते—**अये इति** । अव्ययशब्दोऽयं शङ्कायाम् । एष जनः काञ्चुकीयलक्षणः, आश्रमविरुद्धः खलु आश्रमानुकूलो नास्ति नूनम् । आश्रमविरुद्धवेषस्यास्य सत्त्वान्नेदं तपोवनमिति नात्र मया प्रवेष्टव्यमित्याशयः । पुनः अन्यतो विलोक्य प्रदेशान्तरे दृशं दत्त्वा । आश्रमोचितवेषौ तापसीपरिव्राजकौ विलोक्य पूर्वोक्तां शङ्कां निराकुरुते—**अथवेति** । अत्र अस्मिन् प्रदेशे तपस्विजनोऽपि तापसीप्रभृतिस्तापसलोकोऽपि वर्तते, अत उपसर्पणं प्रवेशनं, ममेति शेषः, निर्दोषं दोषरहितम्, निर्गतो दोषो यस्मात्तन्निर्दोषम् । अत्र किल तपस्विजनस्याप्युपलब्ध्या न शङ्कनीयस्तावत्प्रवेशो ममेति भावः । पुनः पद्मावतीं वासवदत्तां चेटीं च तत्र पश्यन् प्रवेशशङ्कां नाटयति—**अये स्त्रीजन इति** । स्त्रीजनस्य पद्मावतीप्रभृतिलक्षणस्य सान्निधानेन तत्र ब्रह्मचारिणः प्रवेशे सङ्कोचो युक्त एव ।

प्रवेशे सशङ्कं ब्रह्मचारिणं दृष्ट्वा काञ्चुकीयः प्राह—**स्वैरं स्वैरमिति** । वीप्सेयं प्रवेशशङ्काप्रशमनत्वराभिप्रायिका । स्वैरं स्वच्छन्दं निःशङ्कमिति यावत् । सर्वजनानां साधारणं सर्वजनसाधारणम्, नामेति प्रसिद्धौ । भवता निःशङ्कं प्रवेष्टव्यम् । अवारितप्रवेशे ह्याश्रमे सर्वेषामप्यविचारितं प्रवेशो भवति । नात्र कापि प्रवेशशङ्का कार्येति भावः ।

तो चलें भीतर । (प्रवेश कर) अरे ! यह तो आश्रम का मनुष्य नहीं मालूम होता । (दूसरी ओर देखकर) या यहाँ तपस्वीलोग भी हैं । पास जाने में कोई दोष नहीं । अरे ! स्त्रियाँ ।

कंचुकी—आप वेधड़क आइये । आश्रम तो सर्वसाधारण हुआ करता है ।

वासवदत्ता—हं।

पद्मावती—(क) अम्मो ! परपुरुसदंसणं परिहरदि अय्या। भोदु, सुपरिवालणीओ खु मण्णासो।

काञ्चुकीयः—भोः। पूर्वं प्रविष्टाः स्मः। प्रतिगृह्यतामतिथिसत्कारः।

ब्रह्मचारी—[आचम्य] भवतु भवतु। निवृत्तपरिश्रमोऽस्मि।

(क) अम्मो ! परपुरुषदर्शनं परिहरत्यार्या। भवतु, सुपरिपालनीयः खलु मन्न्यासः।

काञ्चुकीयवचनान्निःशङ्कं प्रविशति ब्रह्मचारिणि, परपुरुषदर्शनाल्लज्जमाना वासवदत्ता तत्प्रवेशेऽसम्मतिं सूचयति—**हमिति**। असम्मतिसूचकश्चायमनुकरणशब्दः।

आवन्तिकाया असम्मतिं बुद्ध्वा पद्मावत्या वितर्कमाह—**अम्मो** इति। अव्ययमिदं वितर्कार्थकम्। आर्या पूज्या आवन्तिका, परपुरुषस्य दर्शनं, परिहरति निषेधति। भवतु आस्तां तावत्, मन्न्यासः मम न्यासः मत्समीपे स्थापितो न्यास इति यावत्, सुपरिपालनीयः सुष्ठु रक्षणीयः। न्यासस्य समीचीनतया परिपालनावसरोऽयमुपस्थित इत्यर्थः।

प्रविष्टस्य ब्रह्मचारिण आतिथ्यं कर्तुमिच्छन् काञ्चुकीयो वदति-**भोः** इति। ब्रह्मचारिणः सम्बोधनचिह्नमिदम्। प्रविष्टाः स्म इति त्वादरे बहुत्वम्। भवतामुपस्थितेः प्राग् वयमत्रोपस्थिताः। अतोऽत्रत्यैरस्माभिः क्रियमाणमतिथियोग्यं सत्कारमनन्तरोपस्थिताः प्रतिगृह्णन्तु तत्रभवन्तो भवन्तोऽभ्यागताः। एतदनन्तरं काञ्चुकीयकृतमाचमनीयजलप्रदानमर्थानुरोधाद् गम्यम्।

आचम्येति। उपचारप्रदत्तमाचमनं स्वीकृत्येत्यर्थः। प्रणयानुरोधाद् गृहीतोपचारः पुनरप्युपचारप्रदर्शनतः काञ्चुकीयं निवारयितुं त्वरमाण आह-**भवतु भवत्विति**। पर्याप्तः पर्याप्तोऽयमुपचारः, नेतोऽधिकस्योपचारस्यावश्यकता वर्तते,

---

वासव०—हैं।

पद्मावती०—हूँ, आर्या (वासवदत्ता) परपुरुष का दर्शन नहीं चाहती। अच्छा, अब अपने धरोहर की रक्षा मुझे अच्छी तरह करनी चाहिये।

कञ्चुकी—अजी ! हम लोग पहिले आये हुए हैं, अतः आप अतिथिसत्कार ग्रहण करें।

ब्रह्म०—(आचमन कर) अच्छा अच्छा। अब मेरा परिश्रम शान्त हो गया।

यौगन्धरायणः—भोः ! कुत आगम्यते, क्व गन्तव्यं, क्वाधिष्ठानमार्यस्य ?

ब्रह्मचारी—भोः ! श्रूयताम् । राजगृहतोऽस्मि । श्रुतिविशेषणार्थं वत्सभूमौ लावाणकं नाम ग्रामस्तत्रोषितवानस्मि ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) हा लावाणअं णाम । लावा-

(क) हा लावाणकं नाम । लावाणकसङ्कीर्तनेन पुनर्नवीकृत इव मे सन्तापः ।

निवृत्तः परिश्रमो यस्य स निवृत्तपरिश्रमः । निवृत्ता मे साम्प्रतं परिश्रान्तिरित्यर्थः ।

आतिथ्यं कृतवति कञ्चुकीये स्वागतं पृच्छति यौगन्धरायणः-**भोः** इति । अधिष्ठानं निवासः । भो ब्रह्मचारिन् ! आर्यस्तत्रभवान् कुतः प्रदेशादागतः ? कुत्र जिगमिषति ? अलङ्कुरुते च कं वा देशमात्मनो निवासेन ? कृपया च तदेतत्कथनपरिश्रमोऽङ्गीकरणीयस्तत्रभवता ।

पूर्वोक्तप्रश्नोत्तरमाह ब्रह्मचारी—**भोः** इत्यादि । श्रूयतां निशम्यताम् । **राजगृहतोऽस्मीति**। आगत इति प्रश्नानुरोधादाक्षिप्यते । 'अपादाने चाहीयरुहोः' इत्यपादानपञ्चम्यन्ताद्राजगृहशब्दात्तसिः । राजभवनात् समागतोऽहमस्मीत्यर्थः । वत्सभूमौ लावाणकं नाम ग्रामोऽस्ति, तत्र श्रुतिविशेषणार्थम् उषितवानस्मीत्यन्वयः । वत्सो वत्सराज इति नामैकदेशग्रहणम् , तस्य भूमौ, उदयनराज्ये इति यावत् । श्रुतेर्विशेषणायेति श्रुतिविशेषणार्थम् , श्रुतेरधीतस्याम्नायस्य विशेषणमर्थानुसन्धानपूर्विका विशिष्टाज्ञानोत्पत्तिस्तदर्थम् । उषितवानिति कर्तरि क्तवतुः, 'वसतिक्षुधोरिट्' इतीडागमो यजादित्वात्सम्प्रसारणं च । श्रुतेः शब्दज्ञानं सम्पाद्य पुनस्तदर्थज्ञानं सम्पादयितुमुदयनराज्यान्तर्गते लावणकनाम्नि ग्रामे कश्चित्कालं यावत् वासः कृतो मयासीदिति स्फुटोऽर्थः ।

लावाणकनामधेयं श्रुत्वा वासवदत्ता मनस्याह—**हेति** । हा कष्टम् , लावाणकं

यौग०—अजी ! आप कहाँ से आते हैं, कहाँ जायँगे और आपका स्थान कहाँ पर है ?

ब्रह्म०—सुनिये । राजगृह से आया हूँ । वत्सराज के राज्य के अन्तर्गत एक लावाणक नाम गाँव है, वहाँ मैं वेद के अर्थज्ञान के लिये कुछ काल तक रहा ।

वासव०—(स्वगत) ओह ! लावाणक ! लावाणक नाम लेने से मेरा •सन्ताप फिर

णअसङ्कित्तणेण पुणो णवीकिदो विअ मे सन्दावो।

यौगन्धरायणः—अथ परिसमाप्ता विद्या?

ब्रह्मचारी—न खलु तावत्।

यौगन्धरायणः—यद्यनवसिता विद्या, किमागमनप्रयोजनम्?

ब्रह्मचारी—तत्र खल्वतिदारुणं व्यसनं संवृत्तम्।

नामेति तत्रत्यानुभूतवृत्तान्तस्मृतेर्नाटनम्। **लावाणअसङ्कित्तणेणेति**। अनवोऽपि नव इव कृतः नवीकृतः, अभूततद्भावे च्विः। प्राचीनः कथञ्चित्प्रशमितोऽपि प्रियविरहजन्मा मदीयः परितापो लावाणकनामधेयग्रहणेन मन्येऽधुना भूयो नूतनोऽयं कृतः। लावाणके प्रियविश्लेषस्योपलब्धेस्तन्नामोच्चारणेन पूर्वावस्थासंस्मरणान्नवीकृतत्वं स्थाने सन्तापस्य।

अथेति। अथशब्दः प्रश्ने। विद्ययाऽत्र विद्याध्ययनमुपलक्षितम्। विद्याध्ययनं परिपूर्णतां गतं किमु? लावाणके विद्याध्ययनार्थं पुरा गतवन्तं साम्प्रतं तत आगतवन्तं ब्रह्मचारिणं प्रति प्रश्नोऽयं युज्यते यौगन्धरायणस्य।

उत्तरयति ब्रह्मचारी **न खल्विति**। तावदिति वाक्यालङ्कारे। अद्यापि विद्याध्ययनं पूर्णतां न प्राप्तमित्यर्थः।

यदीत्यादि। पुनः प्रश्नोऽयं यौगन्धरायणस्य। अवसिता समाप्ता ततो नञ्समासे अनवसिता असमाप्तेत्यर्थः। 'षोऽन्तकर्मणि' इत्येतस्मादवपूर्वात् कर्तरि क्तः। विद्याध्ययनं चेन्न समाप्तं, तर्हीदानीं ततः प्रत्यागमने किं कारणम्?

तत्रेति। तत्रेत्यादि ब्रह्मचारिण उत्तरम्। तत्र खलु लावाणकग्रामे किल, अतिदारुणमत्यन्तभीषणं, व्यसनं विपत्तिः, 'दारुणं भीषणं भीष्मं' 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरौ। संवृत्तं सञ्जातम्। लावाणकग्रामेऽधुनातिभीषणा विपत्तिः समुपस्थिता, अत एवाऽसमाप्तविद्याध्ययनोऽपि ततः प्रदेशादत्रागतोऽस्मीति भावः।

नया सा हुआ।

यौग०—क्या पढ़ना समाप्त हुआ?

ब्रह्म०—अभी तक नहीं।

यौग०—यदि पढ़ना समाप्त नहीं हुआ, तो फिर क्यों चले आये?

ब्रह्म०—वहाँ तो भयानक आपत्ति आ पड़ी।

यौगन्धरायणः—कथमिव ?

ब्रह्मचारी—तत्रोदयनो नाम राजा प्रतिवसति ।

यौगन्धरायणः—श्रूयते तत्रभवानुदयनः । किं सः ?

ब्रह्मचारी—तस्यावन्तिराजपुत्री वासवदत्ता नाम पत्नी दृढमभिप्रेता किल ।

यौगन्धरायणः—भवितव्यम् । ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी-ततस्तस्मिन् मृगयानिष्क्रान्ते राजनि ग्रामदाहेन सा दग्धा ।

कथमिवेति । किंप्रकारकं तद्व्यसनमिति प्रश्नो यौगन्धरायणस्य ।

तत्रेति । तत्र लावाणकग्रामे । प्रतिवसतीति भूतार्थे वर्तमानता । उदयनाख्यो नरपतिर्मृगयानिर्गतः कदाचिल्लावाणके वसतिमकरोत् ।

श्रूयते इति । तत्रभवान् मान्यः श्रीमनिति यावत्, श्रूयते आकर्ण्यते । अस्माभिरपीति कर्ताक्षिप्यते । वयमप्याकर्णयामः श्रीमतस्तस्योदयनस्य नामधेयमित्यर्थः । स किम् ? तद्विषये किं वृत्तम् ? उदयनसम्बद्धः क्रियाविषयकोऽयं प्रश्नः । दयनस्य लावाणकवासानन्तरकालिकी क्रिया कथनीयाऽधुनेत्यर्थः ।

तदग्रिमवृत्तान्तं सूचयति ब्रह्मचारी-**तस्येति** । दृढमभिप्रेता अत्यन्तं प्रिया । किलेति लोकप्रसिद्धौ । तस्योदयनस्य वासवदत्तानाम्नी काचित् प्रद्योतनाम्नोऽवन्तीश्वरस्य कुमारी प्रियतमा भार्याऽस्तीति लोकप्रसिद्धिर्वर्तते ।

भवितव्यमिति । पूर्ववाक्यार्थः कर्ता । भवदुक्तेन भवितव्यम् । सम्भवत्येतत्, युज्यते किल तदीयं प्रेम वासवदत्तायामित्यर्थः । ततस्ततः अनन्तरमनन्तरमिति प्रश्नः । अग्रिमवृत्तान्तश्रवणत्वरया द्विरुक्तिरियम् । तदनन्तरं किं जातमिति तदग्रिमं वृत्तं सत्वरं कथयन्तु भवन्त इति ।

तत इति । तदनन्तरं तस्मिन्नृपतौ कदाचन मृगयार्थं निर्गते सति प्रवृत्तेन

यौग०—कैसा ?
ब्रह्म०—वहाँ उदयन नाम राजा रहते थे !
यौग०—उदयन का नाम सुना है । उनकी क्या खबर है ?
ब्रह्म०—अवन्तिराजपुत्री वासवदत्ता नाम पत्नी उनकी अत्यन्त प्रिया थी ।
यौग०—होगी, फिर क्या ?
ब्रह्म०—तब शिकार के लिये उन राजा के जाने पर गाँव में आग लगने से वह जल गई ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) अलिअं अलिअं खु एदं। जीवामि मन्दभाआ।

यौगन्धरायणः—ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततस्तामभ्यवपत्तुकामो यौगन्धरायणो नाम सचिवस्तस्मिन्नेवाग्नौ पतितः।

(क) अलीकमलीकं खल्वेतत्। जीवामि मन्दभागा।

लावणकग्रामस्य दाहेन दग्धाऽभवत्सा वासवदत्ता। अत्र च—ग्रामदाहानन्तरं 'वासवदत्तायौगन्धरायणौ दग्धा'विति तत्र कारणविशेषेण प्रवृत्तं मिथ्याप्रवादमनुसृत्यैव कथितो वासवदत्ताया वक्ष्यमाणश्चाग्रे यौगन्धरायणस्य दाहोऽवगन्तव्यः।

आत्मनो दाहवृत्तान्तं श्रुत्वा रहस्यस्फोटभियात्मगतमाह वासवदत्ता—**अलिअमित्यादि।** एतदिदं मदीयदाहवृत्तम्, अलीकमलीकम् असत्यमसत्यम्, 'अलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः, भृशार्थे द्विरुक्तिः, सर्वथा मिथ्येत्यर्थः। **जीवामोति।** प्रियवियोगेऽप्यनपगतप्राणा हतभाग्याहमद्य यावत् प्राणान् बिभर्मि, न खलु दग्धाऽभूवमित्यर्थः।

ततस्तत इति। वासवदत्तादाहानन्तरं संवृत्तं वृत्तं श्रोतुं त्वराभावगर्भः प्रश्नोऽयं पुनर्यौगन्धरायणस्य।

तत इति। तत इत्यादि पुनरग्रिमवृत्तान्तप्रकाशनं ब्रह्मचारिणः। अभ्यवपत्तुकामः, अभ्यवपत्तुं व्यसने साहाय्यं दातुं कामोऽभिलाषो यस्य स तादृशः, 'तुं काममनसोरपी'ति मकारलोपः। विपत्तौ साहाय्यं दित्सुरित्यर्थः। अभ्यवपत्तिश्च व्यसने साहाय्यदानम्। तथा च कौटिलीयमर्थशास्त्रम्—'व्यसनसाहाय्यमभ्यवपत्ति'रिति। तदनन्तरमग्निदाहव्यसनाद्वासवदत्तामुद्धर्तुं यौगन्धरायणनामधेयो राजमन्त्री तत्रैव वह्नावात्मानमपातयत्।

वासव०—(आप ही आप) यह सरासर झूठ है। अभागिनी मैं जीती हूँ।

यौग०—फिर क्या हुआ ?

ब्रह्म०—तब वासवदत्ता को उस आपत्ति से बचाने के वास्ते मन्त्री यौगन्धरायण उसी आग में कूद पड़ा।

यौगन्धरायणः—सत्यं पतित इति । ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततः प्रतिनिवृत्तो राजा तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा तयोर्वियोगजनितसन्तापस्तस्मिन्नेवाग्नौ प्राणान् परित्यक्तुकामोऽमात्यैर्महता यत्नेन वारितः ।

सत्यमिति । वासवदत्तामुद्धर्तुमिच्छोर्यौगन्धरायणस्य वह्नौ पतनमिदं सत्यं किमु ? सत्यं चेत् स्वामिभक्तिं दर्शयतस्तस्येदं साहसं प्रशंसनीयमस्तीत्यर्थः । रहस्योद्भेदभियाऽज्ञानमभिनयतः स्वात्मानपह्नुवानस्य यौगन्धरायणस्यैषाऽर्थान्तरगर्भा प्रश्नकाकुः । अर्थान्तरं च-प्रियवियुक्तां वासवदत्तां स्वामिना योजयितुं कूटघटनोचितं महान्तमायासमनुभवन् दुःसहं क्लेशभारमावहन्नहं सत्यमग्नावेव पतित इति । पद्मावतीपरिणयौपयिकदुःसाधाऽनेकविधकार्यसाधनव्यग्रतेयं मे सत्यमग्निप्रवेशतुल्यैवेति भावः । अग्निप्रवेशसदृशीं व्याकुलतामनुभवाम्यहममुष्मिन्दुष्करे कर्मणीति स्वात्मानमुद्दिश्योक्तिरियम् । अत्र केचिद्व्याख्याकृतः—पतितशब्दं नीचार्थकं मत्वा 'वासवदत्तोदयनयोर्वियोगे कारणीभूतोऽहं नीचोऽस्मी'ति सनिर्वेदं यौगन्धरायणस्योक्तिमिमामात्मगतत्वेन योजयन्ति । 'यौगन्धरायणस्तत्रैवाग्नौ पतित' इति ब्रह्मचारिणो वचनानन्तरं प्रयुक्ते 'सत्यं पतित' इति यौगन्धरायणस्य वचने पतितशब्दस्य नीचार्थकत्वं कथं नाम सङ्गतमिति सहृदयैरेवाकलनीयम् । ततस्तत इति पुनः शेषवृत्तान्तश्रवणत्वराभिनयनम् ।

तत इति । अत्र किल 'तद्वृत्तान्त'मिति पदे 'तयोर्वृत्तान्तस्त'मिति 'स चासौ वृत्तान्तस्त'मिति वा समासः कल्पनीयः । पृथक्पदत्वे तदिति क्लीवताया दूषणास्पदत्वात् । तयोः वासवदत्तायौगन्धरायणयोः, अमात्यैः रुमण्वत्प्रभृतिभिर्मन्त्रिभिः । परित्यक्तुकाम इत्यत्र परित्यक्तुं कामो यस्येति विग्रहः । तदनन्तरं मृगयातः प्रत्यागतं, तत्तादृशं वासवदत्तायौगन्धरायणयोर्दाहविषयकं वृत्तमुपलभ्य तदुभयोर्विरहेण सन्तप्यमानं, दुःसहत्वेन शोकावेगस्य तत्रैव दहने निपत्य प्राणपरित्यागे कृतमतिं नरपतिं दहनप्रवेशतो न्यवारयन् कथमप्यतिप्रयासेन रुमण्वत्प्रभृतयो मन्त्रिणः ।

यौग०—सचमुच में वह गिरा । बाद क्या हुआ ?

ब्रह्म०—फिर लौट कर राजा ने जब यह खबर सुनी तब उन दोनों के विरह से उत्पन्न दुःख के कारण उसी आग में कूद कर प्राण देने की इच्छा करनेवाले राजा को अन्य मन्त्रियों ने बहुत परिश्रम से निवृत्त किया ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) जाणामि जाणामि अय्यउत्तस्स मइ साणुक्कोसत्तणं ।

यौगन्धरायणः—ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततस्तस्याः शरीरोपभुक्तानि दग्धशेषाण्याभरणानि परिष्वज्य राजा मोहमुपगतः ।

(क) जानामि जानाम्यार्यपुत्रस्य मयि सानुक्रोशत्वम् ।

प्रियपते राज्ञः प्रियावियोगादग्निप्रवेशोद्यमं निशम्य हृदये तं प्रशंसति वासवदत्ता-**जाणामीति** । आर्यपुत्रस्य, आर्यस्य श्वशुरस्य पुत्र आर्यपुत्रस्तस्य पत्युरित्यर्थः । साक्षात् पत्युर्नामधेयं पतिशब्दं च विहाय आर्यपुत्रशब्देन तदर्थसूचनं चात्र वासवदत्तायाः कुलीनतोचितं लज्जामर्यादाऽनतिक्रमणं दर्शयति । इत्थमेव च नाटकेषु सर्वत्र पत्यावार्यपुत्रशब्दप्रयोगो दृश्यते । सानुक्रोशत्वम्, अनुक्रोशो दया, 'कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि' इत्यमरः, तेन सहितः सानुक्रोशः तस्य भावस्तत्त्वं दयालुत्वमिति यावत् । जानामि जानामीत्यनया द्विरुक्त्या परिपूर्णं ज्ञानं लक्ष्यते । तत्रभवान् प्रियतमो मद्विषये दयालुरस्तीत्यहं पूर्णतयाऽवगच्छामि । प्राणाधिकप्रियायाश्च वियोगं मे सोढुमशक्नुवतस्तस्य तादृशी चेष्टा सम्भवतीति भावः ।

ततस्तत इति । अग्निप्रवेशान्निवारितस्य राज्ञः कीदृशी वर्तते वार्तेति जिज्ञासात्वराभिप्रायेण प्रश्नो यौगन्धरायणस्यैषः ।

तत इति । शरीरोपभुक्तानि शरीरोपभोगसाधनीभूतानि शरीरशोभार्थमुपयुक्तानीति यावत्, दग्धशेषाणि दग्धेभ्यः शेषाणि दग्धादशिष्टानीति यावत् । मोहो-वैचित्त्यं मूर्छेति यावत्, तम् । तदनु वह्निप्रवेशरूपान्मरणोद्योगान्निवृत्त्य तत्रभवान् भूपतिः शरीरशोभार्थं धृतानि दग्धावशिष्टानि वासवदत्ताया भूषणान्यालिङ्गय तत्स्मरणवशात्तदानीं मूर्छितोऽभूत् । एतेन राज्ञो गाढतमः प्रियानुरागः सूच्यते ।

वासव०—(स्वगत) आर्यपुत्र की मुझ पर रहनेवाली दया को खूब अच्छी तरह मैं जानती हूँ ।

यौग०—फिर क्या हुआ ?

ब्रह्म०—तब वासवदत्ता के पहने हुए और जलकर बचे खुचे आभरणों को छाती से लगाकर राजा मूर्छित हो गये ।

सर्वे—हा ?

वासवदत्ता—[स्वगतम्] (क) सकामो दाणिं अय्यजोअन्धराअणो होदु ।

चेटी—(ख) भट्टिदारिए ! रोदिदि खु इअं अय्या ।

पद्मावती—(ग) साणुक्कोसाए होदव्वं ।

(क) सकाम इदानीमार्ययौगन्धरायणो भवतु ।
(ख) भर्तृदारिके ! रोदिति खल्वियमार्या ।
(ग) सानुक्रोशया भवितव्यम् ।

राजमूर्च्छाकर्णनेन सर्वेषां विषादोदयमाह—**हेति** ।

स्वगतमित्यादि । यौगन्धरायणोपालम्भगर्भो वासवदत्ताया हृद्गत उद्गारोऽयम् । **सकाम** इति । कामेनाभिलाषेण सह समृद्ध इति सकामः । सहशब्दः समृद्ध्यर्थकः, 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः । समृद्धाभिलाषः परिपूर्णकाम इत्यर्थः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इत्यनेन तुल्ययोगस्य प्रायिकत्वात् समासः, 'वोपसर्जनस्य' इत्यनेन सहशब्दस्य स इत्यादेशः । अमुष्मिन्समये हि भवतु तावत्तत्रभवतो यौगन्धरायणस्येच्छापूर्तिः । एतदर्थमेव तु कूटकपटौपयिकं प्रियेण सह मद्वियोजनमिदं यौगन्धरायणस्यास्य पूर्वं मनसोद्दिष्टमासीत् । अद्य किल तादृशेच्छानुकूलैवार्यपुत्रस्य मूर्छेयमुपगतेत्युपालभतेऽत्र मनसा यौगन्धरायणं वासवदत्ता ।

यौगन्धरायणोपालम्भानन्तरं च शोकावेशेन प्रवृत्तं वासवदत्ताया रोदनानुभावं शब्दानुपात्तमप्यर्थानुगतं प्रकल्प्य पद्मावतीमुद्दिश्य चेटीवचनं प्रयुङ्क्ते कविः—**भट्टिदारिए** इति । भर्तृदारिके राजकुमारीत्यर्थः । खल्विति वाक्यशोभायाम्, आर्या मान्या । आवन्तिका तावदश्रूणि मुञ्चत्यसौ । ज्ञायतामवधार्यतां च राजोदयनमूर्छाश्रवणोपनतेऽस्मिन् रोदने कारणमस्या इत्यर्थः ।

वासवदत्तारोदने पद्मावत्या वितर्कमाह—**साणुक्कोसाए** इति । अत्र च भवितव्यमिति कर्मवाच्यप्रयोगानुसारात् पूर्ववाक्यगतम् 'आर्या' इति कर्तृपदं

सभी—हाय !
वासव०—(आप ही आप) आर्य यौगन्धरायण का मनोरथ पूर्ण हो !
दासी—राजकुमारी ! ये आवन्तिका तो रो रही हैं ।
पद्मा०—ये दयालु होंगी ।

यौगन्धरायणः—अथ किमथ किम् ? प्रकृत्या सानुक्रोशा मे भगिनी। ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी—ततः शनैः शनैः प्रतिलब्धसंज्ञः संवृत्तः।

पद्मावती—(क) दिट्ठिआ धरइ। मोहं गदो त्ति सुणिअ सुण्णं विअ मे हिअअं।

(क) दिष्ट्या ध्रियते। मोहं गत इति श्रुत्वा शून्यमिव मे हृदयम्।

तृतीयायां विपरिणम्य योजनीयम्। रुदती चेयं दयावती सञ्जाता भवेदित्यर्थः। उदाराशया विशेषतः स्त्रियो हि परदुःखप्रसङ्गे दुःखयुक्ता भवन्तीत्युदारचितया साम्प्रतं तया रुदितं स्यादिति भावः।

अथ किमिति। अन्यत् किम् अन्यत् किम्, रोदनेऽत्र कारणमेतदेव सम्भाव्यत इत्यर्थः। पद्मावत्या वितर्कितं द्रढयितुं द्विःप्रयोग एषः। **प्रकृत्येत्यादि**। प्रकृत्येति तृतीया च 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यान'मित्यनेन। मदीया भगिनीयं स्वभावतो दयावती वर्तते। स्वाभाविकं दयाभावमावहन्त्या राजमूर्छाश्रवणादेतस्या रोदनं युज्यत इत्यर्थः। अत्रत्यः कोऽपि कीदृशीमपि शङ्कां मा कार्षीदेतद्विषयकं रहस्यं च मा ज्ञासीदित्यभिप्रायेण यौगन्धरायणस्येदं दैवोपनतं पद्मावत्युक्तमेवार्थं पोषयतो वचनं किल प्रकृतकार्ये दत्तावधानतां सूचयत् सन्मन्त्रितामाविष्करोति। पुनरग्रिमवृत्तान्तकथने त्वरयति यौगन्धरायणो ब्रह्मचारिणम्–**ततस्तत** इति।

तत इत्यादि। शनैः शनैः कालक्रमेणेति यावत्। प्रतिलब्धा प्राप्ता संज्ञा सम्यग् ज्ञानं चेतना येनेति प्रतिलब्धसंज्ञः, संवृत्तः सञ्जातः, अर्थाद्राजा। मूर्छां गतेन च राज्ञा कियतः कालादनन्तरं चेतना लब्धेत्यर्थः।

दिट्ठिआ इति। दिष्ट्येत्यव्ययम्। ध्रियते अवतिष्ठते, दैवेन जीवतीत्यर्थः। **मोहं गत** इति। शून्यमिव, असदिव चेतनारहितमिवेति वार्थः। इवशब्दोऽयं 'देवदत्त इवाभाती'तिवत् उत्प्रेक्षायां सादृश्ये वा। राजा मूर्छितोऽभूदिति वाक्य-

---

यौग०—और क्या, और क्या। मेरी बहिन स्वभाव से बड़ी दयालु है। फिर क्या ?

ब्रह्म०—बाद धीरे धीरे राजा को होश आया।

पद्मा०—सुदैव है कि वे जीते जागते हैं। 'मूर्छित हुए' यह सुन मेरा हृदय तो सूना सा हो गया।

यौगन्धरायणः—ततस्ततः ?

ब्रह्मचारी——ततः स राजा महीतलपरिसर्पणपांसुपाटलशरीरः सहसोत्थाय हा वासवदत्ते ! हा अवन्तिराजपुत्रि । हा प्रिये ! हा प्रियशिष्ये !

श्रवणानन्तरमचेतनया मया हृदयशून्ययेव सञ्जातमित्यर्थः । अवस्था चेयं पद्मावत्या मनस्युदयनविषयकप्रेमाङ्कुरोत्पत्तिं व्यनक्ति । भाविघटनानुसारं पद्मावत्या हृदये दैवादुत्पन्नोऽयमुदयनगतप्रेमाङ्कुरो भाविनो राजसम्बन्धरूपस्य कार्यस्य साधको भविष्यतीत्यनेन तादृशकार्यसिद्धेः सौकर्यं सूच्यते ।

ततस्तत । इति । एषा च द्विरुक्तिर्यौगन्धरायणस्योत्कण्ठातिशयमाविष्करोति मूर्च्छापगमादनन्तरं राज्ञोऽवस्थाविशेषं श्रोतुम् ।

तमेव राज्ञोऽवस्थाविशेषमाह—**तत** इति । महीतलपरिसर्पणपांसुपाटलशरीरः, महीतले भूतलप्रदेशे यत्परिसर्पणं परिवर्तनं तेन ये पांसवो लग्ना धूलयस्तैः पाटलं श्वेतरक्तं धूसरमिति यावत् शरीरं वपुर्यस्य तादृशः । 'स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना' 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरौ । 'हा वासवदत्ते' इत्यादि प्रतिसम्बोधनं 'हा' पदप्रयोगः शोकावेगस्य भूयस्त्वं प्रतिपादयितुम् । *प्रियशिष्ये ! प्रिया चासौ शिष्येति तत्सम्बुद्धौ । किमपि बहु इति क्रियाविशेषणे । प्रलपितवान् विलापं कृतवानिति यावत् । चेतनाप्राप्त्यनन्तरं स किल भूपतिर्भूतले परितः सर्पणेन धूलिधूसरकलेवरोऽकस्मादुत्थाय कथमप्यलब्धनिर्वृतिरन्तःशोकावेगं दुःसहमपारं रोद्धुमपारयन् 'हा अवन्तीश्वरकुमारि ! मदीयप्रीतिपात्रच्छात्रे । वल्लभे ! वासवदत्ते !' इत्येवं तत्तन्नामधेयग्रहणपुरःसरं कमप्यनल्पं विलापमकरोदित्यर्थः ।

यौग०—उसके बाद ?

ब्रह्म०—बाद वे राजा पृथ्वी पर लौटने लगे और जब उनका शरीर धूलि से भर गया तब एकाएक उठ कर 'हा ? प्यारी ! हा वासवदत्ते ! हा अवन्तिराजकुमारी ! हा प्रियशिष्ये ।

---

*कदाचिदवन्तिदेशोपकण्ठप्रदेशं मृगयावशादभ्यागतो वत्सराज उदयनः प्रद्योतनाम्नाऽवन्तिदेशाधीश्वरेणात्मनः कुमारीं वासवदत्तां तेन गुणिना सह संयोजयितुमिच्छुना तदर्थं पूर्वं बहु यतित्वाऽप्यन्ते निरर्थप्रयत्नेन सकपटं स्वभवनमानीतः । तत्र च राजानुरोधाद्वीणाशास्त्रमर्मज्ञोऽयं वीणावादनमशिक्षयद्वासवदत्ताम् । क्रमेण परिचयोपचयात्परस्परं गाढानुरागे समुत्पन्ने मन्त्रिणो यौगन्धरायणस्य नीत्या बलेन ततः प्रत्यागच्छत् प्रियया वासवदत्तया सह निजां वत्सराजधानीम् । इति कथात्राऽनुसन्धेया ।

इति किमपि बहु प्रलपितवान् । किं बहुना—

नैवेदानीं तादृशाश्चक्रवाका नैवाप्यन्ये स्त्रीविशेषैर्वियुक्ताः ।
धन्या सा स्त्री यां तथा वेत्ति भर्ता भर्तृस्नेहात् सा हि दग्धाऽप्यदग्धा ॥

किं बहुनेति । भूयसा जल्पितेन किं तावत्फलं स्यात् ? वर्णनीयमपि कियत् ? उदयनस्य वासवदत्तावियोगजन्मदुरवस्थाविशेषविषये निवेदितमेतावदेव पर्याप्तमिदानीमित्यर्थः ।

पूर्वोक्तं राज्ञः शोकावेगमुपसंहरति—नैवेति । तादृशाः, तत्पदेन प्रक्रान्तस्योदयनस्य परामर्शः, उदयनसदृशा इति यावत्, चक्रवाकास्तदाख्याः पक्षिविशेषाः, नैव न नूनं सन्ति । प्रतिदिनं वियुज्यमाना विरहं सोढुं दृढतमा अपि चक्रवाका उदयनविरहावस्थासमानकोटितां न गच्छन्तीत्यर्थः । चक्रवाकाणां विरहावस्थातोऽभ्यधिकैवास्ति वियोगदुरवस्थोदयनस्येति भावः । तादृशा इत्यत्र तदुपपदादज्ञानार्थाद् दृश्धातोः कन् प्रत्ययः । अचेतनानां सुलभमोहानां का नाम तिरश्चां वार्ता ? चेतनेष्वपि तत्साम्यं नास्तीत्याह—नैवाप्यन्ये इति । स्त्रीविशेषैः सीताशकुन्तलादमयन्तीप्रभृतिभिः प्रसिद्धाभिर्योषिद्भिः, वियुक्ता विरहिताः, अन्येऽपि इतरे रामदुष्यन्तनैषधप्रभृतयोऽपि, तादृशा नैव वासवदत्तावियुक्तोदयनेन सदृशा न सन्तीति निश्चयः । सीतादिवियुक्तरामादीनामपि प्रियावियोगजन्मा दुरवस्था तदीयविरहावस्थातो न्यूनैवेति तैरपि साम्यं नात्र सम्भवतीत्यर्थः । सकलविलक्षणैवास्य विरहवेदनास्तीति भावः । प्रियप्रेम्णां पात्रं स्त्रियं प्रशंसन्नाह—धन्येति । भर्ता पतिः, यां स्त्रियं, तथा वेत्ति जानाति तादृशस्नेहदृशा पश्यतीति यावत्, सा स्त्री योषित्, धन्या धनं लब्धा, 'धनगणं लब्धे'ति यत्प्रत्ययः । स्त्रीषु विशिष्टा अभिनन्दनीयेत्यर्थः, अस्तीति शेषः । अतः, हि निश्चयेन दग्धा भस्मीकृतापि, सा वासवदत्ता, भर्तृस्नेहात् प्रियस्य प्रणयात्, अदग्धा सुरक्षिता जीवन्ती वर्तत इत्यर्थः । पत्युर्निरतिशयप्रीतिपात्रं स्त्री नूनं कृतकृत्येति प्रियप्रेमसर्वस्वभूता विशिष्टस्त्रीषु गणनीया सेयं वासवदत्ता वह्नौ पाञ्चभौतिकं शरीरं त्यक्त्वापि प्रियेण प्रदत्तं प्रेमरूपं शरीरा-

इत्यादि बहुत विलाप करने लगे । अधिक क्या कहा जाय ?

इस समय उन राजा के समान न कोई वैसे चकवे हैं और न कोई वैसे स्त्री के वियोगी ही हैं । वह स्त्री धन्य है, जिसे पति वैसा मानता है । पति-प्रेम के कारण जल जाने पर भी वह जली नहीं अर्थात् जीती जागती है ॥ १२ ॥

यौगन्धरायणः—अथ भोः ! तं तु पर्यवस्थापयितुं न कश्चिद् यत्नवानमात्यः ?

ब्रह्मचारी—अस्ति रुमण्वान्नामामात्यो दृढं प्रयत्नवांस्तत्रभवन्तं पर्यवस्थापयितुम् । स हि—

अनाहारे तुल्यः प्रततरुदितक्षामवदनः
शरीरे संस्कारं नृपतिसमदुःखं परिवहन् ।

न्तरं गृह्णती साम्प्रतं जीवत्येवेति भावः । अत्र पूर्वार्धे प्रसिद्धानां चक्रवाकादीनामुपमानानामुपमेयत्वप्रतिपादनात् प्रतीपं नामालङ्कारः । वृत्तं चेदं शालिनीनामधेयम् । तल्लक्षणं यथा—'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति ॥ १३ ॥

विषण्णं राजानं शोचनीयावस्थं विदित्वा ब्रह्मचारिणं पृच्छति यौगन्धरायणः—**अथेति** । अथेत्यव्ययं प्रश्ने । तु इति वाक्यालङ्कारे । पर्यवस्थापयितुं परितोऽवस्थापयितुम् अर्थात् प्रकृतौ, विकृतावस्थातः प्रकृतावस्थां प्रापयितुमित्यर्थः । यत्नवान्, यत्नो विद्यतेऽस्येति मतुप् । किमहो ब्रह्मचारिन् ! राजानं प्रकृतिस्थं विधातुं केनचिन्मन्त्रिणा प्रयत्नो न कृतः ?

उत्तरं दत्ते ब्रह्मचारी—**अस्तीति** । दृढं गाढं भूयिष्ठमिति यावत्, 'गाढवाढदृढानि च' इत्यमरः । श्रीमन्तं महाराजं प्रकृतौ कर्तुं सचिवः कोऽपि नाम्ना रुमण्वान् गाढं प्रयत्नमातनुते । अस्तीति वर्तमानक्रिययाऽद्यापि तत्प्रयत्नस्यानुवृत्तिर्भूपतेः शोकावेगस्य गरीयस्त्वं च सूच्येते । 'स हि' इति तु श्लोके योजनीयम् ।

रुमण्वतः प्रयत्नमाह—**अनाहारे** इति । स हि, हिशब्दस्त्वर्थे हेत्वर्थे वा । तच्छब्देन प्रक्रान्तो रुमण्वान् गृह्यते । सः रुमण्वान्, अनाहारे आहारो भोजनं तदभावे, तुल्यः सदृशः अर्थान्नृपेण । वासवदत्ताशोकविकलेन राज्ञेव भोजनं परित्यक्तं रुमण्वतापि राजचिन्तयेत्यर्थः । प्रततरुदितक्षामवदनः, प्रततेन सन्ततेन अविच्छिन्नेनेति यावत् रुदितेन रोदनेन क्षामं क्षीणं निष्प्रभतां गतं वदनं मुखं

यौग०—क्या कोई मंत्री उनको प्रकृति में लाने का प्रयत्न नहीं करता है ?

ब्रह्म०—हाँ, रुमण्वान् नामक मंत्री उनको होश में लाने के लिये खूब उद्योग कर रहा है । वह तो—

राजा के न खाने से नहीं खाता, सर्वदा रोने से राजा के सदृश ही उसका मुख भी मलिन हुआ है और राजा के समान दुःख का अनुभव करता हुआ स्नान आदि भी कष्ट से

दिवा वा रात्रौ वा परिचरति यत्नैर्नरपतिं
नृपः प्राणान् सद्यस्त्यजति यदि तस्याप्युपरमः ॥ १४ ॥

वासवदत्ता—[स्वगतम्] (क) दिट्ठिआ सुणिक्खित्तो दाणीं

(क) दिष्ट्या सुनिक्षिप्त इदानीमार्यपुत्रः ।

यस्य सः । राज्ञ इव रुमण्वतोऽपि मुखमविच्छिन्नाऽश्रुपातेन विच्छायतां गतमित्यर्थः । रुदितमिति भावे क्तः, क्षाममिति क्षैधातोः क्ते तस्य 'क्षायो म' इति मत्वम् । नृपतिसमदुःखं, नृपतिना राज्ञा समं तुल्यं दुःखं कष्टं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथेति क्रियाविशेषणम्, शरीरे देहे, संस्कारं मार्जनं स्नानादिजनितां स्वच्छतामित्यर्थः, 'संस्कारो मार्जनं मृजा' इत्यमरः, परिवहन् दधानः सन् । राजा यथा कष्टाधिक्येन कथञ्चिदत्यावश्यकं स्नानादिसंस्कारमाचरति, तथा रुमण्वानप्यावश्यकतातिशयमवेक्ष्य कथञ्चित्कष्टभूयिष्ठं शरीरसंस्कारमङ्गीकरोतीति भावः । दिवा वा रात्रौ वा, दिवेत्यव्ययं दिनवाचि, 'दिवाऽह्नीति' इत्यमरः, वाशब्दश्चार्थे चकारार्थस्तु समुच्चयः, स च परस्परनिरपेक्षयोर्दिनरात्र्योरधिकरणयोरेकत्र परिचरणक्रियायामन्वेति, अहर्निशमित्यर्थः । यत्नैः प्रयत्नैः, नरपतिं राजानम्, परिचरति सेवते । दिवानिशं प्रयत्नपूर्वं राज्ञः शुश्रूषणमेष दत्तावधानो विरमतीत्यर्थः । साम्प्रतं प्राणेभ्योऽपि प्रियं तस्य राजानुवर्तनं दर्शयति—**नृप** इति । नृपो राजा, दुःसहेन वासवदत्ताशोकेन सद्यस्तत्कालं, प्राणान् त्यजति यदि असून् मुञ्चति चेत् म्रियते चेदिति यावत्, तर्हि तस्य रुमण्वतोऽपि, उपरमः मृत्युः, जात इति शेषः । शोकासहिष्णुतया राजनि गतप्राणे सति रुमण्वन्तमपि नूनं गतप्राणं जानीहीत्यर्थः । सर्वात्मनैष राजानमनुसरन् राजेव कष्टमयं जीवनं विभर्तीति भावः । उदयनसमदुःखसुखावस्थो विद्यते साम्प्रतं रुमण्वानिति सारांशः । अत्र च 'सद्यस्त्यजती'त्यनेन सुदुःसहस्य राज्ञः शोकस्य परा काष्ठा सूचिता । शिखरिणीनामकं छन्दोऽत्र । 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति च तल्लक्षणम् ॥ १४ ॥

रुमण्वतो भृशं निःसीमया परिचर्यया तादृग्दुरवस्थस्य पत्युः समुचितं रक्षणं सम्भावयन्त्या हर्षोद्गारोऽयं मानसो वासवदत्तायाः—**दिट्ठिपत्ति** । दिष्ट्या

करता है । दिन हो या रात्रि, वह राजा की सेवा परिश्रम से कर रहा है । यदि राजा शीघ्र ही प्राणों का त्याग करें तो उसका भी प्राण गया हुआ समझा जाय ॥ १४ ॥

वासव०—(आप ही आप) सौभाग्य से इस समय स्वामी की देख-भाल अच्छे

अय्यउत्तो ।

यौगन्धरायणः—[आत्मगतम्] अहो ! महद्भारमुद्वहति रुमण्वान् । कुतः—

सविश्रमो ह्ययं भारः प्रसक्तस्तस्य तु श्रमः ।

दैवेन, सौभाग्येनेति यावत् । सुष्ठु सम्यक् निक्षिप्तः सुनिक्षिप्तः । तत्रभवतः प्रियतमस्य रक्षाभारोऽयं समयेऽस्मिन् समुचिते स्निग्धे रुमण्वत्यारोपितोऽस्तीति सौभाग्यमस्माकम् ।

महतीं राजरक्षाधुरां दधतो रुमण्वतः प्रशंसामुखेन सविस्मयं मानसं ब्रूते यौगन्धरायणः—**अहो इति** । अहो आश्चर्यम्, महद्भारम्, महतो विशिष्टस्य कार्यस्य राजपरिपालनरूपस्येति यावत् भारो धूस्तमिति षष्ठीतत्पुरुषोऽत्र शरणीकरणीयः । महांश्चासौ भारश्चेति कर्मधारयस्तु न साधीयान्, तथा सति भारस्य समानाधिकरणत्वेन 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययो'रित्यनेन आत्वप्रसङ्गान्महाभारमिति रूपापत्तेः । उद्वहति गृह्णाति उत्थापयतीत्यर्थः । राज्ञः संरक्षणं नाम गुरुतरं कार्यं सावधानमनुतिष्ठतो रुमण्वतो विस्मयकरः प्रयत्नोऽयं सर्वथा प्रशंसनीयोऽस्तीति भावः ।

कुत इति चेत् तदेवाह—**सविश्रम** इति । 'हि हेताववधारणे' इति कोषात् हिशब्दो निश्चये । अयं वासवदत्तारक्षणरूपो मदीय इति प्रत्यक्षनिर्देशः, भारः धूः, सविश्रमः, विश्रमेण विरामेण सहितो युक्तः विरतोऽभूदिति यावत् । पद्मावत्याः समीपे वासवदत्ताया निक्षेपादिदानीं भारस्यास्य मन्मूर्धानमधिरूढस्य वासवदत्तापरिपालनरूपस्य नूनं विश्रान्तिर्जातेति भारापगमान्निर्वृतोऽहमस्मीति भावः । 'विश्रम' इति विपूर्वात् श्राम्यतेर्घञ्, 'नोदात्तोपदेशस्ये'ति वृद्धिनिषेधः । 'विश्राम' इति त्वपाणिनीयं प्रकारान्तरेण यथाकथञ्चित्समर्थनीयम् । तस्य रुमण्वतस्तु, श्रमो नराधिपरक्षणलक्षणः परिश्रमः, प्रसक्तः प्रकर्षेण विशेषेण सक्तो लग्नः, विशेषरूपेण स्थितोऽस्तीति यावत् । राजसंरक्षणरूपस्य मदीयभारापेक्षया विशिष्टस्य तद्भारस्य तु सम्प्रत्यपि वर्तमानतया रुमण्वतो व्यग्रता तदवस्थैवेत्यर्थः । प्रसक्त इति अकर्मक-

---

आदमी के हाथों में है ।

यौग०—(स्वगत) अहो ! रुमण्वान् ने बड़े का बोझा सँभाला है । क्योंकि—
मेरा यह भार तो कुछ हलका हुआ है परन्तु रुमण्वान् का और भी बढ़ गया है । क्योंकि,

तस्मिन् सर्वमधीनं हि यत्राधीनो नराधिपः ॥ १५ ॥

[प्रकाशम्] अथ भोः ! पर्यवस्थापित इदानीं स राजा ?

ब्रह्मचारी—तदिदानीं न जाने । 'इह तया सह हसितम्, इह तया सह कथितम्, इह तया सह पर्युषितम्, इह तया सह कुपितम्, इह तया सह शयितम्' इत्येवं तं विलपन्तं राजानममात्यैर्महता यत्नेन

तया कर्त्रर्थे क्तः। तद्वारस्य वैशिष्ट्यमेव प्रतिपादयति—**तस्मिन्निति**। हि हेतौ यस्मात्कारणादित्यर्थः, नराधिपो राजा, यत्राधीनः यस्मिन्नायत्तः, सर्वं राजसम्बन्धि समस्तं कार्यजातं, तस्मिन्नधीनं तत्रायत्तम्। 'अधीनो निघ्न आयत्त' इत्यमरः। भूपालपरिपालनाभिधाऽसाधारणकार्यकारिता यत्रावतिष्ठते, राजकीयसकलकार्यसम्बन्धिनी धूस्तस्यैव मन्त्रिणो मूर्धानमधिरोहतीति महतीं धुरं दधानो रुमण्वानभिनन्दनीय इति भावः। अत्र च उत्तरार्धप्रतिपाद्येन सामान्येन द्वितीयचरणप्रतिपाद्यो विशेषः समर्थित इति सामान्येन विशेषसमर्थनं नामाऽर्थान्तरन्यासालङ्करणम्। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १५ ॥

प्रकाशमिति। सर्वजनं श्रावयन् ब्रूते इत्यर्थः। किं तदित्याह—**अथेति**। अथ किमित्यर्थः। भोः इति ब्रह्मचारिणं सम्बोधयति। पर्यवस्थापितः प्रकृतौ स्थापितः। समयेऽस्मिन् विकारपरिहारेण पूर्ववत् स्वस्थतां प्रापितो वा मन्त्रिभिर्भूपतिः।

उत्तरमाह—**तदिदानीमिति**। राज्ञः स्वस्थताविषये किमपि साम्प्रतं निश्चितं नावगच्छामीत्यर्थः। जानातेः परस्मैपदिषु पाठादत्र 'जाने' इत्यात्मनेपदप्रयोगः पाणिनीयव्याकरणविरुद्ध एव। 'जाने, जानीमहे' इत्यादयः प्रयोगाः पुनर्बहुत्र बहुभिः कृता उपलभ्यन्ते। नात्र मूलं जानीमः। यथावत्प्रत्यक्षमनुभूतं तत्रस्थं वृत्तमुपसंहरति—**इहेति**। शयितमित्यन्तोऽयं राज्ञो विलापः। इहेति सर्वत्र हासाद्यधिकरणीभूतं तत्तत्स्थलं निर्दिश्यते। हसितमित्यादीनि भावे क्तान्तानि, तदनुसारं चैवात्र क्लीवत्वम्। पर्युषितं, स्थितमिति यावत्। राजानं महता यत्नेन गृहीत्वा तस्माद्

राजा जिसके अधीन होता है, सब उसीके अधीन रहता है ॥ १५ ॥

(प्रकाशरूप से) क्यों जी ! राजा साहब अब प्रकृति में आये ?

ब्रह्म०—अब यह मैं नहीं जानता। 'यहाँ उसके साथ हँसा था, यहाँ उसके साथ बातचीत की थी, यहाँ उसके साथ बैठा था, यहां उसके साथ रूठा था, यहां उसके साथ सोया था'–इत्यादि विलपने वाले राजा को बड़े प्रयत्न से मंत्री लोग लेकर उस गांव से बाहर

तस्माद् ग्रामाद् गृहीत्वापक्रान्तम् । ततो निष्क्रान्ते राजनि प्रोषितनक्षत्र-चन्द्रमिव नभोऽरमणीयः संवृत्तः स ग्रामः । ततोऽहमपि निर्गतोऽस्मि ।

तापसी—(क) सो खु गुणवन्तो णाम राआ, जो आअन्तुएण

(क) स खलु गुणवान् नाम राजा, य आगन्तुकेनाप्यनेनैवं प्रशस्यते।

ग्रामादमात्यैरपक्रान्तमित्यन्वयः । अपक्रान्तमिति भावे क्तः, निर्गतमित्यर्थः । 'अत्रात्र प्रदेशे तया सह मया हासादिकमनुभूतम्' इत्यादिबहुप्रकाराणि परिदेविताक्षराण्युद्गिरता भूपतिना समं प्रयत्नविशेषेण मन्त्रिणोऽवसरचतुरास्ततो लावाणकग्रामान्निर्जग्मुरिति वाक्यार्थः । 'महता यत्नेन' इत्यनेन राज्ञो विलापस्यात्यधिकत्वमनिवार्यत्वं च सूचिते । तत्र तत्र प्रियया सह पूर्वानुभूतं स्मृत्वा राज्ञो विलपनं चात्रावस्थानेन तत्तत्प्रदेशवीक्षणतो वृद्धिमेवोपगच्छेत् प्रदेशान्तरप्राप्त्या च नूनं राजा विलापाद्विरमेदित्यवसरोचितं विचार्य तत्प्रदेशपरित्यागप्रयत्नोऽयं युज्यते मन्त्रिणाम् । **तत** इत्यादि । ततः तस्माद् ग्रामादिति यावत् । निष्क्रान्ते राजनि इति पूर्वक्रियानिर्देशः, लावाणकग्रामाद्राज्ञो निर्गमनानन्तरमित्यर्थः । प्रोषितनक्षत्रचन्द्रमिव, प्रोषितान्यस्तं गतानि नक्षत्राणि चन्द्रश्च यस्मात्तदिति नभसो विशेषणम्, इवेति नभसान्वेति, नभ आकाशम्, अरमणीयः सौन्दर्यशून्यः । चन्द्रमसा नक्षत्रैश्च विहीनमाकाशं यथा न शोभते तथा राज्ञा मन्त्रिभिश्च विरहितस्य लावाणकग्रामस्य शोभा तदानीं सर्वथा विनष्टाऽभूदिति भावः । ग्रामस्य राज्ञो मन्त्रिणां च यथाक्रमं नभश्चन्द्रो नक्षत्राणि चोपमानानि बोध्यानि । इत्येवं लावाणकव्यसनवृत्तान्तं सूचयित्वा, 'यद्यनवसिता विद्या, किमागमनप्रयोजनम् ?' इति पूर्वं कृतस्य यौगन्धरायणप्रश्नस्योत्तरं दित्सुराह ब्रह्मचारी—**ततोऽहमिति** । राजादिनिर्गमनेन ग्रामस्य निःश्रीकतया तत्र वस्तुमनिच्छता मयापि तस्माद् ग्रामात् प्रस्थानं कृतम् । प्रस्थितश्चाहमध्वपरिश्रान्तो विश्रमाभिलाषादत्रोपस्थितोऽस्मि भवत्सन्निधिम् । नूनमिदमेव निमित्तं वर्तते विद्याध्ययनं पूर्णमकृत्वैव तत्प्रदेशपरित्यागे ममेति भावः ।

सो खु इति । गुणवान् प्रशस्तगुणयुक्तः, प्रशंसायां मतुप् । नामेति वाक्यमलङ्करोति । आगन्तुकेन तटस्थेन पान्थेनापि, अनेन ब्रह्मचारिणा । स चायमुदयनो

चले गये । राजा के चले जाने पर चन्द्रमा-नक्षत्र-हीन आकाश की भाँति वह गांव सुन्दरता से हीन हो गया । इस कारण मैं भी वहाँ से निकला हूँ ।

तापसी—वे राजा बड़े ही गुणी मालूम होते हैं, जिनकी यह बटोही भी प्रशंसा करता है ।

वि इमिणा एव्वं पसंसीअदि ।

चेटी—(क) भट्टिदारिए ! किं णु अवरा इत्थिआ तस्स हत्थं गमिस्सदि ?

पद्मावती—[आत्मगतम्] (ख) मम हिअएण एव्व सह मन्तिदम् ।

(क) भर्तृदारिके ! किन्नु खल्वपरा स्त्री तस्य हस्तं गमिष्यति ?
(ख) मम हृदयेनैव सह मन्त्रितम् ।

भूपतिर्निश्चयेन प्रशंसनीयदयादाक्षिण्याद्यनेकगुणसम्पन्नो वर्तते, यमिमं ब्रह्मचारी पथिकोऽयमपरिचितोऽपीत्थं प्रशंसतीति वाच्योऽर्थः । सर्वथाऽसौ दयार्द्रहृदयो वर-गुणसम्पन्नो राजा नूनं पद्मावतीसम्बन्धयोग्योऽस्तीति व्यङ्ग्योऽर्थः ।

तापस्या अभिप्रायमवबुध्य वराभिलाषिणीं पद्मावतीं प्रति तदाशयजिज्ञासया चेट्या वचनमिदम्—**भट्टिदारिए** इति । तस्य तादृग्गुणविशिष्टस्य उदयनस्येति यावत् । राजकुमारि ! पद्मावति ! किं काचिदन्या योषित् भूपतेरुदयनस्य हस्तगता भविष्यतीति शब्दार्थः । यः किल प्राणेभ्योऽप्यधिकं प्रियां सम्भावयति, तस्य लोकोत्तरं निरतिशयं योषिति प्रेमभावं बिभ्रतो महीपतेरुदयनस्य पाणिग्रहणसौभाग्यं लप्स्यते किं काचिदन्या योषित् ? यदि हि तेन गुणिनोदयनेन सह कस्याश्चिद-न्यस्या विवाहसम्बन्धः स्यात्तर्हि साऽनुरूपवरलाभेन धन्या भवेदित्याशयः । त्वया वरणीयोऽयं श्लाघ्यगुणो राजा कथमपीति व्यङ्ग्यार्थः ।

गुणलुब्धा पद्मावती गुणिनं राजानमुदयनं पतिं प्राप्तुमिच्छन्ती चेटीवचसो लक्ष्यमात्मानं बुद्ध्वा हृदयाभिमतार्थप्रस्तावोपजातहर्षा सहजलज्जावशात् स्वकीयं भावमपह्नुवाना मनस्येव चेटीमभिनन्दति—**ममेति** । एवशब्दोऽत्र सहशब्देना-ऽन्वेति । मन्त्रितं विचारितम्, अर्थाच्चेट्या । मदीयेन हृदयेन सह विचारं कृत्वैव चेट्या वितर्कोऽयं कृत इत्यर्थः । मदीयहृदयसंमतमेवेदं विचारितं चेट्येति भावः । चेटीवचनानुसारमुदयनसम्बन्धसौभाग्यमिदं मनो मे लब्धुमिच्छतीत्याशयः । उदयनविषयकमुत्पन्नपूर्वं प्रेमाङ्कुरं पुष्णाति चायं हृद्गतोऽभिलाषः पद्मावत्याः ।

पद्मावत्या उदयनेऽभिलाषमुत्पादयितुमुपस्थितो ब्रह्मचारी विचारपूर्वकं तदनु-रूपमुदयनावस्थाविशेषमुपस्थाप्य चेटीवचसा च तदर्थोपक्षेपणमभिलक्ष्य कृतकार्य-

---

दासी—राजकुमारी जी ! क्या भला दूसरी स्त्री उनके हाथ जायगी ?
पद्मा०—(मन ही मन) मेरे मन के समान ही सोचा ।

ब्रह्मचारी—आ पृच्छामि भवन्तौ। गच्छामस्तावत्।

उभौ—गम्यतामर्थसिद्धये।

ब्रह्मचारी—तथास्तु।

[निष्क्रान्तः]

यौगन्धरायणः—साधु, अहमपि तत्रभवत्याऽभ्यनुज्ञातो गन्तुमिच्छामि।

स्ततो गन्तुमिच्छन्नाह—**आ पृच्छामीति**। 'आ पृच्छामि' इति भिन्ने पदे। एकपदत्वे च आपृच्छामीति रूपासिद्धेः, 'आङि नुप्रच्छ्योः'रित्यनेनात्मनेपदत्वस्य दुर्वारतया 'आपृच्छे' इति रूपापत्तेः। आशब्दश्च 'वाक्यस्मरणयोरङित्' इति वचनेन स्मरणार्थकः। कार्यान्तरस्मरणं नाटयन् ब्रवीतीत्यर्थः। पृच्छामि, गन्तुमिति शेषः। परिव्राजकं काञ्चुकीयं चोद्दिश्य 'भवन्ता'विति कर्मणि द्विवचनम्। गमने परिव्राजककाञ्चुकीययोर्भवतोरनुज्ञां लब्धुमिच्छामीत्यर्थः। गमनं मे भवन्तावनुमन्येतामिति भावः। गच्छामस्तावत् साम्प्रतं गम्यतेऽस्माभिरित्यर्थः। बहुत्वं चेदमात्मनो गौरवार्थम्। तावदिति वाक्यालङ्कारे।

वृद्धयोः परिव्राजककाञ्चुकीययोराशीर्वादगर्भां गमनाज्ञां दर्शयति कविः—**गम्यतामिति**। प्रक्रान्तश्चात्र भवतेति तृतीयान्तः कर्ता। विद्याध्ययनपूर्णतारूपस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थं यथेच्छं गच्छतु भवानित्यर्थः।

तथास्त्विति। तेन प्रकारेण भवतु। श्रीमत्सूचितां गमनाज्ञां स्वीकृत्य गच्छाम्यहमित्यर्थः।

निष्क्रान्तः इत्यनेन ततः प्रस्थानं सूचितं ब्रह्मचारिणः।

सम्प्रति कृतकार्यो यौगन्धरायणोऽपि ततो गन्तुमुद्यतः श्रीमत्याः पद्मावत्या अनुज्ञां गमने लब्धुमिच्छन्नाह—**साध्विति**। साधु समीचीनम्। मद्भगिन्या रक्षणं तत्रभवत्या स्वीकृतमिति तदर्थं श्रीमत्यभिनन्दनीयेत्यर्थः। तत्रभवत्या

ब्रह्म०—आप दोनों की आज्ञा चाहता हूँ। अब मैं जाता हूँ।

दोनों—अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये जाइये।

ब्रह्म०—तथास्तु।

(चला गया)

यौग०—अच्छा, मैं भी श्रीमतीजी की आज्ञा पाकर जाना चाहता हूँ।

काञ्चुकीयः—तत्रभवत्याऽभ्यनुज्ञातो गन्तुमिच्छति किल ।

पद्मावती—(क) अय्यस्स भइणिआ अय्येण विना उक्कण्ठिस्सदि ।

यौगन्धरायणः—साधुजनहस्तगतैषा नोत्कण्ठिष्यति । [काञ्चुकीयमवलोक्य] गच्छामस्तावत् ।

(क) आर्यस्य भगिनिकाऽऽर्येण विनोत्कण्ठिष्यते ।

पूज्यया पद्मावत्या । पूज्यायाः श्रीमत्या अनुज्ञां लब्ध्वा साम्प्रतं ममापीतः प्रस्थातुमिच्छा वर्तते । अतः श्रीमत्या मदीयं प्रस्थानमिदानीमनुज्ञायतामित्यर्थः ।

इत्थं गमनानुमतिं लब्धुमिच्छति यौगन्धरायणे, काञ्चुकीयोऽपि तमेवाऽर्थं पद्मावतीं प्रार्थयते—**तत्रभवत्येति** । किलेति वाक्यशोभायाम् । आर्यया भवत्या अनुमत्या गन्तुमिच्छतेऽस्मै यौगन्धरायणाय गमनानुज्ञां भवती दातुमहतीत्यर्थः ।

आगन्तुकस्यास्य गमनेनैतद्भगिनीं विमनायमाना सम्भाव्य तस्मै यौगन्धरायणाय गमनानुज्ञां दातुमनिच्छन्ती पद्मावत्याह—**अय्यस्स** इति । भगिनिकेत्यनुकम्पायां कन् । उत्कण्ठिष्यते उन्मना भविष्यति, खेदं प्राप्स्यतीति यावत् । अनुकम्पनीया श्रीमद्भगिनीयं श्रीमतो दर्शनेन विना खिन्ना भविष्यतीत्यर्थः । गन्तुमर्हति भवान्, परं भवतीतः प्रस्थिते कदाचिदेकाकिन्यै भवतो भगिन्यै नात्र वासो रोचिष्यत इत्येतदेव चिन्तयामीति भावः ।

साधुजनेत्यादि । साधुश्चासौ जनश्चेति कर्मधारयः तस्य, भवादृश इति यावत्, हस्तगता हस्तं गता आश्रये स्थितेत्यर्थः, द्वितीयातत्पुरुषोऽयम्, एषा मद्भगिनी । मन्ये, सौजन्यं वहन्त्याः स्वात्मजननिर्विशेषं पालयन्त्या भवत्या आश्रये स्थितेयं मे भगिनी न तावदुद्विग्ना भविष्यतीति भावः । अनुदात्तेत्त्वादेवात्मनेपदत्वे सिद्धे पुनश्चक्षिङो ङित्करणेन अनुदात्तेत्त्वलक्षणात्मनेपदस्याऽनित्यत्वज्ञापनादत्र 'उत्कण्ठिष्यती'ति परस्मैपदप्रयोगो यथाकथञ्चित्समर्थनीयः । 'उत्कण्ठिष्यते' इति तु साम्प्रतम् । **काञ्चुकीयमिति** । तं दृष्ट्वा वदतीत्यर्थः । गच्छामस्तावत्

कञ्चुकी—(पद्मावती से) आपकी आज्ञा लेकर ये भी जाना चाहते हैं ।

पद्मा०—आपकी बहिन आपके बिना उदास होगी ।

यौग०—अच्छे आदमी के आश्रय में रहने से उदास न होगी । (कंचुकी को देखकर) तो मैं जाता हूँ ।

काञ्चुकीयः—गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।

यौगन्धरायणः—तथास्तु ।

[निष्क्रान्तः ।]

काञ्चुकीयः—समय इदानीमभ्यन्तरं प्रवेष्टुम् ।

पद्मावती—(क) अय्ये ! वन्दामि ।

तापसी—(ख) जादे ! तव सदिसं भत्तारं लभेहि ।

(क) आर्ये ! वन्दे ।

(ख) जाते ! तव सदृशं भर्तारं लभस्व ।

साधयामो वयमिदानीम् । आदरे बहुत्वम्, तावद्वाक्यालङ्कारे ।

गच्छत्विति । भूयः स्वकीयं दर्शनं दातुमितः साम्प्रतं गम्यतां भवतेत्यर्थः । गत्वा च पुनः कृपया दर्शनमस्मभ्यं दातव्यमित्यसावनुरोधोऽस्माकमङ्गीकरणीयस्तत्रभवतेत्याशयः । पद्मावत्या अनुमतिं ज्ञात्वा यौगन्धरायणगमनानुज्ञासूचकमिदं वाक्यं काञ्चुकीयस्य ।

तथास्त्विति । तथैव भवेत् । गच्छामि साम्प्रतमागमिष्यामि च पुनर्यथावसरं भवतो दर्शनं कर्तुमित्यर्थः ।

यौगन्धरायणस्य गमनं दर्शयति—**निष्क्रान्त** इति ।

ब्रह्मचारियौगन्धरायणयोर्गमनानन्तरं कर्तव्यशेषस्याभावे सायंसन्ध्यायां च शनैः शनैः प्रवर्तमानायां ततः प्रदेशात्प्रस्थानमुचितं मन्यमानः काञ्चुकीय आह—**समय** इति । अभ्यन्तरं पर्णशालाभ्यन्तरमित्यर्थः । पर्णशालान्तःप्रवेशयोग्यः कालोऽयमुपस्थितः । अतः साम्प्रतं गन्तव्यं मया पर्णशालां प्रतीत्यर्थः ।

अय्ये इति । पूज्ये ! तापसि ! प्रणमामीत्यर्थः । काञ्चुकीयवचनानुसारं गन्तुं प्रवृत्ता पद्मावती गमनानुमतिप्राप्तये प्रस्थानकालोचितममुं प्रणतिभावं तापसीं प्रति दर्शयति ।

जादे इति । जाते ! पुत्रि ! तव सदृशम् आत्मतुल्यमिति यावत् । अत्र च

कञ्चुकी—जाइये, फिर दर्शन दीजियेगा ।

यौग०—अच्छी बात है ।

(चला गया ।)

कञ्चुकी—अब भीतर चलने का समय हुआ ।

पद्मा०—आर्ये ! प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—बेटी ! तुम्हारे समान योग्य पति तुम्हें मिले ।

वासवदत्ता—(क) अय्ये ! वन्दामि दाव अहं ।

तापसी—(ख) तुवं पि अइरेण भत्तारं समासादेहि ।

वासवदत्ता—(ग) अणुग्गहीदह्मि ।

काञ्चुकीयः—तदागम्यताम् । इत इतो भवति ! । सम्प्रति हि

(क) आर्ये ! वन्दे तावदहम् ।
(ख) त्वमप्यचिरेण भर्तारं समासादय ।
(ग) अनुगृहीतास्मि ।

सदृशशब्दयोगे 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन तृतीयाविकल्पात्पक्षे 'तवे'ति षष्ठी । पुत्रि ! पद्मावति ! आत्मानुरूपं गुणिनं पतिं प्राप्नुहीत्यर्थः । वरार्थिनीं पद्मावतीं प्रति सुताभावं वहन्त्या वृद्धायास्तापस्याः समयोचितेयमाशीः ।

पद्मावत्या गमनेन वासवदत्ताया अपि तत्समीपे न्यासीकृतायास्ततः प्रस्थानं स्थान इति सापि गन्तुमुद्यता गमनकालोचितां तापस्याः प्रणतिं समाचरति-**अय्ये** इति । तावच्छब्दो वाक्यशोभां तनोति । अयि पूजनीये ! गन्तुमुद्यतया प्रणम्यते मया । गमनाज्ञा दीयतां मह्यं भवत्येति भावः ।

प्रणामानुकूलामाशिषं प्रयुङ्क्ते तापसी—**तुवं पीति** । त्वयापि शीघ्रं प्रोषितस्य पत्युः समागमसुखं भूयोऽनुभूयतामित्यर्थः । परदेशं गतस्ते पतिः सत्वरमेव प्रत्यागच्छत्विति भावः । अत्र किल सर्वत्र प्रणामाशीर्वचनेषु गमनेच्छा तत्प्राप्तिश्च व्यङ्ग्यमर्यादया बोद्धव्ये ।

आशिषं स्वीकरोति वासवदत्ता-**अणुग्गहीदह्मीति** । भूयाननुग्रहोऽयमार्याया मयि । आशीर्वचनमिदं शिरसा प्रतिगृह्णामीत्यर्थः । कन्याभावसुलभां लज्जां वहन्त्याः पद्मावत्यास्तु तापस्याशीःपरिग्रहोक्तिर्नोचितेति सा कविना नोपन्यस्ता ।

मार्गप्रदर्शनरूपं सेवकोचितं कर्तव्यं पूरयति काञ्चुकीयः—**तदागम्यतामिति** । तत् तस्मात्, सायंसन्ध्यासमयस्य सन्निधानादित्यर्थः । 'इत इतः' इति तु

वासव०—आर्ये ! मैं भी प्रणाम करती हूँ ।
तापसी—तुम्हें भी शीघ्र तुम्हारा पति मिले ।
वासव०—अनुगृहीत हूँ ।
कञ्चुकी—तो आइये । इधर से चलिये । इस समय तो—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम् ।

अध्वनः सूचनम् । भवतीति स्वामिनः कुमारीं पूज्यां पद्मावतीं प्रति सम्बुद्धिवचनम् । गम्यतामित्यार्थम् । आगच्छतु भवती, अनेन मया प्रदर्श्यमानेन मार्गेण गच्छतु चेत्यर्थः । सम्प्रति हीति श्लोकान्वितम् । हि यस्मात्कारणात्, सम्प्रति समयेऽस्मिन्नित्यर्थः ।

किं तावदित्याह—**खगा** इति । खगाः पक्षिणः, खे गच्छन्तीति खगाः, डप्रकरणे 'सुदुरोरधिकरणे' इति वार्तिके 'अन्यत्रापि दृश्यते' इति वचनात् खोपपदात् गम्धातोर्डप्रत्ययः, डित्त्वाट्टिलोपः, वासोपेताः, वासं वसतिस्थानं कुलायम् उपेताः प्राप्ता इति द्वितीयातत्पुरुषः, वासेन उपेता युक्ता इति तृतीयातत्पुरुषो वा, भवन्तीति शेषः । पक्षिणो नीडं प्रविशन्तीत्यर्थः । पक्षिणो ह्याहारार्थं दिनं गगने परिभ्रम्य सायं वृक्षान्तर्गतं निजावासं गच्छन्तीति स्वभावोक्तिः । उपेता इति 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना गत्यर्थादुपपूर्वादिण्धातोः कर्तरि क्तः । अत एव कर्तुरभिहितात् खगा इति कर्तरि प्रातिपदिकार्थे प्रथमा । क्रियायाश्च कर्तुरधीनतया उपेता इति बहुत्वम् । तथा च—'कर्तृवाच्यप्रयोगे तु प्रथमा कर्तृकारके । द्वितीयान्तं भवेत्कर्म कर्त्रधीनं क्रियापदम् ॥' इत्यभियुक्ताः । इत्थमेवान्यत्र कर्तरि प्रयोगे सर्वत्रोह्यम् । मुनिजनस्तापसलोकः, सलिलं जलाशयजलम्, 'सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः, अवगाढः प्रविष्टो भवति, स्नातीति यावत् । सायंस्नानमाचरितुं मुनयो जलाशयं गत्वा जलावतरणक्रियामनुतिष्ठन्तीति भावः । अत्रापि गत्यर्थतया अवगाढ इति कर्तरि क्तः । प्रदीप्तः प्रकाशपूर्णः प्रज्वलित इति यावत् । दीप्यतेरकर्मकतया पूर्वोक्तसूत्रेण कर्त्रर्थे क्तः । अग्निः संस्कारपूर्वकं गृहीतः श्रौतः स्मार्तो वाऽग्निः, भाति प्रकाशते । अत्र प्रकाशमानस्याग्नेः पुनर्भातिक्रियायोगः प्रकाशप्रकर्षद्योतनाय । तेन समित्कुशादिभिः पूर्वं प्रदीप्तोऽप्यग्निर्होमद्रव्यप्रक्षेपेणाऽधिकं प्रकाशत इत्यर्थः । अथवा प्रदीप्तोऽग्निः भाति शोभते । आहुतिप्रदानेन प्रदीप्तस्याग्नेः शोभा दर्शनीयाऽस्तीति भावः । धूमः होमजन्यः, मुनिवनं, मुनीनां वनं तापसाश्रमं तपोवनमित्यर्थः, प्रविचरति व्याप्नोतीति यावत् । प्रविचरणस्य व्यापनमर्थं स्वीकृत्य 'मुनिवनम्' इति कर्मणि द्वितीयोपपत्तिः । वस्तुतस्तु प्रविचरणस्य

चिड़ियां घोसलों में गई, मुनिलोग नहाने लगे, होम की अग्नि प्रदीप्त मालूम हो रही

परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च सङ्क्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥ १६ ॥

[निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

प्रथमोऽङ्कः ।

प्रसरणार्थकतया अधिकरणत्वाविवक्षायां कर्मणि प्रयोगोऽयम् । अपि च किञ्च, असौ अस्तं गमिष्यन्, दूरात् दूरप्रदेशात् दूरवर्तिनो गगनतलादित्यर्थः, परिभ्रष्टः पतितः अस्ताचलसमीपं गत इति यावत्, रविः सूर्यः, सङ्क्षिप्तकिरणः, सङ्क्षिप्ता उपसंहृताः सङ्कोचिताः किरणा मरीचयो येन सः मन्दीकृतकरः सन्नित्यर्थः । करसङ्कोचनक्रियायाः सूरसूते सम्भवेऽपि रवौ तदुक्तिरत्रोपचारात् । रथं व्यावर्त्य, वेगवतीं रथस्य गतिं निरुध्येत्यर्थः । व्यावर्तनस्याऽश्ववृत्तित्वेऽपि रथे तदभिधानमौपचारिकम् । व्यावर्तनं चाऽरुणकर्तृकमपि सूर्यकर्तृकमत्र तथैवोपचारमूलकम् । शनैः क्रमेण, अस्तशिखरम् अस्ताचलस्य चूडां, प्रविशति गाहते । चरमाचलनितम्बे लम्बते मरीचिमालिनः सूर्यस्य बिम्बमित्यर्थः । सायंसन्ध्या शनैः शनैः समुपसर्पतीति श्लोकार्थः । यतश्च लक्षणैरमीभिः सायंसन्ध्या सन्निधौ, वर्तते, तत एव मत्प्रदर्शितं पन्थानमवलम्ब्य गम्यतां भवत्या । नेदानीमत्रावस्थातुमुचितमित्यतः पर्णशालाभ्यन्तरं गन्तव्यमिति काञ्चुकीयवचसोऽभिप्रायः । अत्र च श्लोके पक्षिणां नीडप्रवेशनादिभिर्हेतुभिः सन्ध्यासमयस्यानुमानात्तस्य च सहृदयहृदयाकर्षकत्वेन अनुमानालङ्कारः । स चात्र शब्दानुपात्ततया व्यञ्जनावृत्त्या वेदितव्यः । शिखरिणीवृत्तमिदम्, लक्षणमुक्तं प्राक् ॥ १६ ॥

निष्क्रान्ताः सर्वे इत्यनेन सर्वेषां निर्गमनमङ्कसमाप्तिप्रसङ्गेऽत्र सूचितम् ।

प्रथमाङ्कस्य समाप्तिं दर्शयति—**प्रथमोऽङ्क** इति । अङ्कश्च रसभावादिभिरर्थस्य पोषको बहुविधकार्यसामग्रीसम्पन्नो दृश्यकाव्यस्य कश्चन भागविशेषः । तन्निरुक्तिर्यथा **नाट्यशास्त्रे**—'अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान् । नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ॥' इति ।

इति श्रीस्वप्नवासवदत्तव्याख्यायां प्रबोधिन्यां प्रथमोऽङ्कः ।

है । तपोवन में धूँआ फैल रहा है और बहुत ऊँचे से गिरे हुए सूर्य भी अपनी किरणों को समेटते हुए रथ लौटा कर धीरे धीरे अस्ताचल को जा रहे हैं ॥ १६ ॥

(सब चले गये ।)

प्रथम अङ्क समाप्त ।

अथ द्वितीयोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति चेटी ।]

चेटी—(क) कुञ्जरिए ! कुञ्जरिए ! कहिं कहिं भट्टिदारिआ पदुमावदी ? किं भणासि, एसा भट्टिदारिआ माहवीलदामण्डवस्स पस्सदो

(क) कुञ्जरिके ! कुञ्जरिके ! कुत्र कुत्र भर्तृदारिका पद्मावती ? किं भणसि, एषा भर्तृदारिका माधवीलतामण्डपस्य पार्श्वतः कन्दुकेन

अङ्कान्तरस्य प्रारम्भं सूचयति—**अथ** इत्यादिना । अथ अनन्तरम्, एकाङ्कपरिसमापनजन्यपरिश्रमापनोदनपुरःसरं भाव्यङ्ककथोपयुक्तपात्रादीनां सन्निधिकरणानन्तरमित्यर्थः, द्वितीयः प्रथमानन्तरं क्रमोपस्थितः अङ्कः, प्रारभ्यत इति शेषः । अङ्कस्य लक्षणं प्रथमाङ्कपरिसमाप्तावुक्तम् ।

इदानीं कन्दुकक्रीडापरायाः पद्मावत्याश्चेतसि सञ्जातं प्रथमाङ्कसूचितोदयनविषयाभिलाषस्य परिपोषं कविः सुन्दरतमसखीसंलापभङ्ग्या प्रकाशयिष्यंस्तदनुरूपं चेट्याः प्रवेशं दर्शयति—**तत** इत्यादिना । ततः द्वितीयाङ्कप्रारम्भे, सप्तम्यां तसिल् । चेटी दासी, प्रविशति रङ्गमञ्चं समागच्छतीत्यर्थः ।

प्रविष्टा चेयं चेटी स्वसजातीयाया अपरस्याश्चेट्या नामोल्लेखपुरःसरं प्रसङ्गानुकूलं वचनमुपन्यस्यति—**कुञ्जरिए** इति । वीप्सा चेयं त्वरायामामन्त्रणस्य । **कहिं कहिमिति** । एषापि द्विरुक्तिस्त्वराभिप्रायिका पद्मावतीदर्शनविषयकमुत्कण्ठाविशेषं व्यनक्ति चेट्याः । श्रीमती पद्मावती नाम राजकन्या कस्मिन्प्रदेशेऽधुना वर्तते, तत्कथयेति वाक्यतात्पर्यम् । **किं भणासीति** । प्रश्नोऽयं प्राप्तोत्तरसूचकः । अनुक्तमप्युत्तरं प्राप्तमिवेति दर्शयन्ती **एसा** इत्यारभ्य **किलदित्ति** इत्यन्तेन वाक्येन प्रकटयति चेटी । एवं किल पात्रान्तरं विना यत्र तदुक्तिश्रवणमभिनीय प्रश्नस्योत्तरं स्वयमेव सम्पाद्यते तत्तावत् आकाशभाषितं नाम कथ्यते नाटकेषु । तथा हि **विश्वनाथः साहित्यदर्पणे**—'किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते । श्रुत्वेवाऽनुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥' इति । किं तदेतदित्याह—**एसेति** । माधवीलतामण्डपस्य, माधवीलताया वासन्त्याः, 'वासन्ती माधवी

(दासी आती है ।)

दासी—अरी कुञ्जरिका ! कहाँ, राजकुमारी पद्मावती कहाँ हैं ? क्या कहती हो कि यह राजकुमारी माधवी-कुञ्ज की बगल में गेंद खेलती है । अच्छा, राजकुमारी के पास जाऊँ ।

कन्दुएण कीलदित्ति। जाव भट्टिदारिअं उवसप्पामि। [परिक्रम्यावलोक्य] अम्मो ! इअं भट्टिदारिआ उक्करिदकण्णचुलिएण वाआमसञ्जादसेदबिन्दुविइत्तिदेण परिस्सन्तरमणीअदंसणेण मुहेण कन्दुएण कीलन्दी

क्रीडतीति। यावद् भर्तृदारिकामुपसर्पामि। अम्मो ! इयं भर्तृदारिका उत्कृतकर्णचूलिकेन व्यायामसञ्जातस्वेदबिन्दुविचित्रितेन परिश्रान्तरम-

लता' इत्यमरः, मण्डपं स्थानं निकुञ्जमिति यावत् तस्य, पार्श्वतः समीप एव, कन्दुकेन गेन्दुकेन क्रीडनीयकविशेषेण, करणे तृतीया, क्रीडति खेलति। सेयं तत्रभवती राजकन्या पद्मावती माधवीलतानिर्मितमण्डपसमीपे कन्दुकक्रीडां कुर्वाणा वर्तत इत्यर्थः। एतेन राजदुहितुः पद्मावत्याः स्थितिस्थानमवस्था च प्रदर्शिते। इत्थं प्राप्तोत्तरा च सा चेटी स्वकीयमनन्तरकरणीयं कार्यं दर्शयति—**जाव** इति। यावदित्यस्य अत इत्यर्थः। आर्या पद्मावत्यस्मिन्प्रदेशे क्रीडन्ती वर्तते, अतो हेतोरहमधुना तस्याः समीपं गच्छामीति चेट्यास्तत्कालोचितो विचारः। परितस्तदन्वेषणपुरःसरं तत्प्राप्तेः सूचनं नाटयति—**परिक्रम्ये**त्यादिना। परिक्रम्य इतस्ततो गत्वान्विष्य, अवलोक्य दृष्टिपथं नीत्वा, अर्थात्पद्मावतीम्। **अम्मो** इति। विस्मयानन्दार्थप्रकाशनगर्भम् अम्मो इत्यव्ययम्। उत्कृतकर्णचूलिकेन, उत्कृते ऊर्ध्वं कृते कन्दुकक्रीडावसरे लम्बनपतनभयात्कर्णयोरुपरिष्टात्कृते कर्णचूलिके कर्णाभरणविशेषौ यत्र मुखे तथाभूतेन, व्यायामसञ्जातस्वेदबिन्दुविचित्रितेन, व्यायामात् कन्दुकादानप्रदानविधौ धावनादिसमुत्थितादायासात् सञ्जाताः समुत्पन्ना ये स्वेदस्य घर्मोदकस्य बिन्दवः पृषताः, 'घर्मो निदाघः स्वेदः स्यात्' 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरौ, तैः विचित्रितेन सुषमावैचित्र्यं प्रापितेन, परिश्रान्तरमणीयदर्शनेन, परिश्रान्तं परिश्रान्तिः, भावे क्तः, 'तस्मिन् सत्यपि' इत्यपिशब्दार्थोऽत्र समासान्तर्भूतः, रमणीयं सुन्दरं दर्शनमवलोकनं यस्य तादृशेन। परिश्रमे मालिन्यस्य सम्भवेऽपि मुखे रमणीयदर्शनत्वस्य वर्णनेनात्र स्वाभाविकं सौन्दर्यं व्यज्यते पद्मावत्याः। मुखेन वदनेन, उपलक्षितेति शेषः, 'इत्थंभूतलक्षणे' इति तृतीया। पद्मावत्या विशेषणमिदम्। कन्दुकेन क्रीडन्ती कन्दुकक्रीडाभिर्मनो विनोदयन्तीति यावत्, इत एवागच्छति पुरो दृश्य-

(टहल कर और देख कर) ओहो ! इस समय यह राजकुमारी तो अपने कानों की बालियों को ऊपर उठाकर खेल की मेहनत से पसीने की बूँदों से अपने मुख को मानों मोतियों से

इदो एव्व आअच्छदि । जाव उवसप्पिस्सं ।

[निष्क्रान्ता ।]

प्रवेशकः ।

[ततः प्रविशति कन्दुकेन क्रीडन्ती पद्मावती सपरिवारा वासवदत्तया सह ।]

णीयदर्शनेन मुखेन कन्दुकेन क्रीडन्तीत एवागच्छति । यावदुपसर्प्स्यामि ।

मानममुमेव प्रदेशमायाति । पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा तत्रभवती पद्मावती कन्दुक-क्रीडापराऽत्रैव समागच्छतीत्यर्थः । सैषा हि पूर्वं बहु क्रीडित्वाऽऽत्मानमायासितव-तीति मुखविशेषणैः स्पष्टमेव । अनेन च वाक्येन तादृश्यामवस्थायां विद्यमानाया राजकन्यायाः पद्मावत्यास्तत्रैव स्थानेऽनुपदमेव भाविनं प्रवेशं सूचयित्वा कवि-र्वाक्यान्तरेण तत्कालोचितां चेट्यास्तत्समीपगमनेच्छां दर्शयति—**जाव** इत्यादिना । यावदिति वाक्यालङ्कारार्थमुपसर्पणे त्वराप्रदर्शनार्थं वा । उपसर्प्स्यामि समीपं गमि-ष्यामीति वर्तमानकालाव्यवहितोत्तरक्षणे करिष्यमाणस्य निजोपसर्पणस्याभिप्रायेणायं भविष्यत्कालिकः प्रयोगः । इयमधुना तत्समीपमहं गच्छाम्येवेति तदर्थः ।

निष्क्रान्ता इति । एतेन ततः स्थानाच्चेट्या अपगमनं दर्शितम् ।

प्रवेशक इति । अनया खलु पूर्वोक्तविधया चेटीमुखेन भाविपद्मावतीरूप-पात्रप्रवेशसूचनादिदमत्र प्रवेशकनाम्ना व्यवह्रियते । एष च प्रथमाङ्कातिरिक्ताङ्क-द्वयान्तः प्रयुक्तो नीचपात्रद्वारा पात्रप्रवेशसूचकः पञ्चविधोपक्षेपकान्यतमः । तथा च तत्स्वरूपमुपवर्णितं **विश्वनाथेन**—'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः । अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥' इति । विष्कम्भकस्वरूपमपि तत्रैव । यथा—'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । सङ्क्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदा-वङ्कस्य दर्शितः ॥ मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः । शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥' इति ।

पूर्वोक्तचेटीकृतसूचनानुसारमधुना वासवदत्तया समं कन्दुकेन क्रीडन्त्याः पद्मा-वत्याः प्रवेशमाह—**ततः प्रविशतीति** । सपरिवारा, परिवारश्चेटीरूपस्तेन सहिता । इयञ्चागतप्रत्यागता पद्मावतीमुपगन्तुमनास्तत्समीपं गतैव चेटी बोद्धव्या ।

सजाती हुई थकने पर भी सुन्दर मालूम पड़ती हुई गेंद से खेलते खेलते इधर ही आ रही है । तो मैं भी पास पहुँचूँ ।

(तब गेंद से खेलती हुई पद्मावती अपने परिवार और वासवदत्ता के साथ आती है ।)

वासवदत्ता—(क) हला ! एसो दे कन्दुओ ।

पद्मावती—(ख) अय्ये ! भोदु दाणिं एत्तअं ।

वासवदत्ता—(ग) हला ! अदिचिरं कन्दुएण कीलिअ अहिअ-

(क) हला ! एष ते कन्दुकः ।

(ख) आर्ये ! भवत्विदानीमेतावत् ।

(ग) हला ! अतिचिरं कन्दुकेन क्रीडित्वाधिकसञ्जातरागौ पर-

प्रमादेन भूमौ पतितमपश्यन्त्या इव पद्मावत्याः पुरस्तात् कन्दुकं कुर्वती वासवदत्ताह—**हला** इति । हलेति सम्बोधनसूचकम्, हे सखीत्यर्थः । सखीं प्रत्याह्वाने हलेति पदं प्रयुज्यते । तथा च–'हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इत्यमरः । इदञ्च वासवदत्ताकर्तृकमाह्वानं तस्याः पद्मावत्यां सखीनिर्विशेषभावं द्योतयति । अयमस्ति तावकीनो गेन्दुकः, गृह्यतां क्रीड्यतां च पुनर्यथारुचीति भावः ।

चिरविरचितक्रीडाविशेषोपजातपरिश्रमा पुनः पद्मावतीयं तत्र स्वीयामरुचिं दर्शयति—**अय्ये** इति । आर्ये इति आवन्तिकां (वासवदत्ता) मुद्दिश्य सम्बुद्धिपदप्रयोगः पद्मावत्यास्तत्र विनयभावसहकृतमादरभावं प्रकाशयति । वाक्येऽत्र पूर्वप्रक्रान्तं क्रीडनमिति कर्तृपदमार्थम् । भवतु अस्तु, पर्याप्तमिति यावत् । सुचिरं क्रीडित्वा परिश्रान्तिं गताहमितोऽधिकं नेच्छामि क्रीडितुमित्यतः कालेऽस्मिन्नियदेव खेलनमास्तामित्यर्थः । यावत्क्रीडितमावाभ्यां तावदेवास्ति पर्याप्तमित्यतः खेलनमधुनाऽऽवयोः समापनीयमिति भावः ।

अत्रार्थे स्वीयानुमतिं दर्शयन्ती सपरिहासं ब्रूते वासवदत्ता—**हला** इति । अतिचिरम् अत्यधिकम्, कन्दुकेनेति साधकतमे तृतीया क्रीडित्वेति हेत्वर्थे क्त्वाप्रत्ययः, कन्दुकेन क्रीडनाद्धेतोरित्यर्थः । अत्र च हेतौ क्त्वाप्रत्ययस्य कुत्राप्यविहितत्वात्समानकर्तृकस्य क्रियाद्वयस्य चासद्भावात् क्रीडित्वेति पदप्रयोगश्चिन्त्यः । अथवा क्रीडित्वेत्यनन्तरं 'परिश्रान्ताया' इत्यस्य पदस्याक्षेपात् 'समानकर्तृकयोः क्रीडनपरिश्रान्तिरूपयोर्धात्वर्थयोः कल्पनया क्त्वाप्रत्ययोऽयमुपपादनीयः । अधिक-

---

वासव०—बहन ! यह तुम्हारी गेंद है ।

पद्मा०—आर्ये ! बस, इस समय इतना ही ।

वासव०—बहन ! गेंद से बड़ी देर तक खेलने के कारण, ललाई के बढ़ने से, तुम्हारे

सञ्जादराआ परकेरआ विअ दे हत्था संवुत्ता।

चेटी—(क) कीलदु कीलदु दाव भट्टिदारिआ। णिव्वत्तीअदु

कीयाविव ते हस्तौ संवृत्तौ।

(क) क्रीडतु क्रीडतु तावद् भर्तृदारिका। निर्वर्त्यतां तावद् अयं

सञ्जातरागौ, अधिकमत्यन्तम्, विशेषणञ्चेदं सञ्जननक्रियायाः, सञ्जात उत्पन्नो रागो रक्तिमा ययोस्ताविति हस्तयोर्विशेषणम्। एतेन करयोः कोमलत्वं तेन च पद्मावत्या अद्वितीयं सौकुमार्यं व्यज्यते। सहजं रागं वहन्तौ करौ पद्मावत्याश्चिरतरं कन्दुकक्रीडयाऽतितरां सरागौ सञ्जातावित्यर्थः। परकीयाविव परकीयसदृशावित्युत्प्रेक्षा, पराधीनाविति यावत्, खेलनपरिश्रान्तिवशात्कन्दुकक्रीडायामन्यदीयसाहायकं विना स्वयमप्रभवन्तावित्यर्थः। संवृत्तौ सञ्जातौ। बहुलं खेलित्वा परिक्लान्तायास्तवैतत्पाणिद्वयं किल खेलनायासेन सहजारुण्यतोऽप्यतितरामारुण्यं सम्प्राप्तमिति खेलनाद्विरतिरेव साम्प्रतं ते साम्प्रतमिति वाच्योऽर्थः। परिहासमूलको व्यङ्ग्योऽर्थस्तु—अरुणिमातिशयशालिनौ ते कराविदानीं स्वकीयौ न स्तः अपि तु परकीयौ परस्य हस्तं गतावन्यदीयावेवेति। परेण वरेण कृतं ग्रहणं प्राप्तवतोः करयोः परकीयत्वं स्फुटमेव। पद्मावतीविवाहसमयस्यासन्नतामालक्ष्य 'सखि! मन्येऽहं सञ्जातपाणिग्रहणाऽभवस्त्वम्, अत एव ते परकृतपाणिपीडनात्पाणी अरुणिमानं गृहीतवन्ता'-विति परिहासपूर्वकं पद्मावतीं प्रति वचनं वासवदत्तायाः सखीभावं वहन्त्या युज्यत एव। रागपदेन प्रेमापि ध्वन्यते। परकर्तृकस्वकीयग्रहणविषयिणी वाञ्छा हस्तयोरपि ते समुत्पन्नेति मन्ये प्रत्यासन्नविवाहायास्तेऽधुना पाणिग्रहणं जातमेवेत्यतो हेतोरयं खेलनयोग्यः कालो नास्तीति गूढं तात्पर्यं वासवदत्तोक्तेः।

परिश्रान्तां पद्मावतीं क्रीडितुमनिच्छन्तीम्, आवन्तिकां च तमेवार्थमनुमोदमानामवलोक्य चेटी प्रत्यासन्नविवाहसमयां विवाहानन्तरं च परायत्तामनुचितक्रीडनां क्रीडितुमपारयिष्यन्तीं पद्मावतीं पुनः कन्दुकक्रीडायां प्रवर्तयन्त्याह—**कीलदु** इति। पौनःपुन्ये 'क्रीडतु क्रीडतु' इति द्विःप्रयोगः। न यावत्पाणिपीडनं जातं तावद्राजकन्यया पद्मावत्या पुनः पुनः क्रीडनीयमित्यर्थः। तावत्पदे वाक्यालङ्कृतौ प्रयुक्ते। 'अयं कालः कन्याभावरमणीयो निर्वर्त्यता'मित्यन्वयः। अत्र च 'भट्टि-

हाथ मानों दूसरे के हो रहे हैं।

दासी—राजकुमारी और भी खेलें। कुँवारीपन के इस काल को खेल के आनन्द

दाव अय्यं कण्णाभावरमणीओ कालो।

पद्मावती—(क) अय्ये! किं दाणिं मं ओहसिदुं विअ णिज्झाअसि ?

वासवदत्ता—(ख) णहि णहि। हला! अधिअं अज्ज सोहदि।

कन्याभावरमणीयः कालः।

(क) आर्ये! किमिदानीं मामपहसितुमिव निध्यायसि ?

(ख) नहि नहि। हला! अधिकमद्य शोभते। अभित इव तेऽद्य

दारिआ' इति पूर्ववाक्यगतं कर्तृपदं तृतीयया विपरिणम्य योजनीयम्। कन्याभावरमणीयः, कन्याभावेन बाल्येन बालोचितलीलयेति यावत्, रमणीयः सुन्दरः, निर्वर्त्यतां क्रियताम्। नूतनं वयो वहन्त्या भवत्या कन्दुकक्रीडनरूपया बालोचितया लीलया समयोऽयं सुन्दरतां नेय इत्यर्थः। नूतने वयसि क्रीडैव शोभत इति भावः। अस्मिन्नर्थे 'कन्याभावेन रमणीय' इति व्यस्तं पदं युज्यते। 'कन्याभावरमणीयः कालोऽयं निर्वर्त्यता'मिति वा समन्वयः। कालो वयस उपलक्षणम्, निर्वर्त्यतां समाप्यताम्। कन्यात्वेन सुन्दरमिदं वयः खेलनेन पूर्णतां नेयमित्यर्थः। विवाहसम्बन्धानन्तरं खेलनावसरस्याऽनुपलप्स्यमानत्वान्नाधुना बालोचितं खेलनमवशेषणीयं भवत्येति भावः।

चिरखेलनपरिक्लान्ताया अपि सौकुमार्यमलौकिकं वहन्त्याः सहजसौन्दर्यशालिन्याः पद्मावत्या लोचनासेचनकमाननं साकूतमालोकयन्तीम् आवन्तिकामुद्दिश्य पद्मावतीवचः प्रयुङ्क्ते कविः—**अय्ये** इति। मामपहसितुमिव ममोपहासं कर्तुमिवेति सम्भावना। निध्यायसि पश्यसि, 'निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। मन्ये ममोपहासार्थमेव ते मन्निरीक्षणमिदमित्यर्थः। पुनः कमपि मदीयमुपहासं कर्तुकामेव त्वमिदानीं पश्यसि मां साभिप्रायमिति भावः। अमुना हि पद्मावत्या वचनेन शब्दानुपात्तमपि तस्याः साकूतमालोकनं वासवदत्ताकर्तृकं गम्यते, अन्यथाऽस्य पद्मावतीवाक्यस्याऽनवसरत्वापत्तेः।

पद्मावत्याः शङ्कितं निषेधन्त्यावन्तिका ब्रूते-**णहि णहीति**। द्विःप्रयोगश्चायं

से सफल करें।।

पद्मा०—आर्ये! इस समय क्या तुम मेरी हँसी करने के लिये ही मुझे देख रही हो।

वासव०—नहीं नहीं। आज (मुख) अधिक अच्छा लगता है। अब तुम्हारा

अभिदो विअ दे अज्ज वरमुहं पेक्खामि।

पद्मावती—(क) अवेहि। मा दाणिं मं ओहस।

वरमुखं पश्यामि।

(क) अपेहि। मेदानीं मामपहस।

निषेधं द्रढयितुम्। अत्र हि पूर्ववाक्यार्थो निषिध्यते। न किल त्वदुपहासार्थं मे त्वद्दर्शनोपक्रमः, नास्ति मे मनसि सर्वथा परिहासकामनया त्वद्दर्शनाभिलाषोऽय- मित्यर्थः। इत्येवं परिहासस्य हेतुतां निषिध्य तद्दर्शने कारणं दर्शयति—**इत्येति**। उत्तरवाक्यार्थानुसारेण वाक्येऽस्मिन् मुखं कर्तृ। शोभते प्रकाशते। एतद्वाक्यानन्तरं वाक्यान्तरारम्भे 'अतः' इति योजनीयम्। 'अद्य ते वरमुखम् अभित इव पश्या- मी'त्यन्वयः। वरमुखम्, 'वरं च तन्मुख'मिति कर्मधारयः। अत्र च समासा- त्किञ्चिदर्थे गौणत्वमापतितं, तथाप्यर्थान्तरध्वननाभिप्रायेण समासः कृतोऽत्र कविना। सति च समासाभावेऽर्थान्तरप्रतीत्युच्छेदापत्तेः। अभितः सर्वतः, इवेति वाक्यालङ्- कृतौ। सखि! पद्मावति! त्वन्मुखमिदानीमतीव सौन्दर्यं दर्शयति, नूनमवर्णनीयैषा त्वन्मुखचन्द्रमसः सुषमा। अत एव चक्षुःप्रीतये समयेऽस्मिन् सुन्दरं ते मुखं सर्वावच्छेदेनाहमवलोकये। अहो! सर्वतः सौन्दर्यं ते मुखस्येति स्फुटोऽर्थः। 'परि- हासं न करोमी'ति स्फुटं प्रतिज्ञायापि वासवदत्ता 'वरस्य मुखं वरमुख'मित्यर्था- न्तरगर्भं श्लिष्टं पदं प्रयुज्य गूढं पुनः सखीभावोचितं परिहासमातनुते। अत्र चार्थे 'अधिकमद्य शोभते' इत्यत्र वाक्ये भवती कर्त्री। अयमर्थः—इदानीं सखि! भव- त्याः शोभाऽतिमहती वर्तते, अमुष्मिन्काले भवत्या वरस्य परिणेतुर्मुखं सर्वतोऽहं साक्षात्करोमीवेति। मन्ये भवत्याः पतिः समीप एव वर्तते, अत इदानीं समासन्न- प्रियसमागमसौभाग्या भवती भृशं शोभास्पदं जातेति भावः। पद्मावत्याः परिणेतु- स्तदानीमभावेऽपि तदीयविवाहसम्बन्धसङ्घटनस्याऽतिसन्निकृष्टतयोत्प्रेक्षाविधया 'वरस्य मुखं सर्वतः पश्यामीवे'ति सपरिहासं वचनं प्रायुज्यत सख्या वासवदत्तया।

परिहासगर्भामिमामुक्तिमाकर्ण्य सविलासं प्रणयरोषाञ्चितं च प्रियसखीनिर्विशेषं वचनमाहावन्तिकां प्रति पद्मावती—**अवेहि** इति। अपेहि दूरमपसर, 'ओहस' इति विध्यर्थे लोट्, 'मां' इति निषेधार्थकमव्ययम्, 'माङि लुङ्' इति माङ्योगे

वरमुख आसन्न ही समझती हूँ।

पद्मा०—हट जा, अब मेरी हँसी मत करना।

वासवदत्ता—(क) एसह्मि तुह्णीआ भविस्सम्महासेणवहू ! ।

पद्मावती—(ख) को एसो महासेणो णाम ?

वासवदत्ता—(ग) अत्थि उज्जइणीओ राआ पज्जोदो णाम ।

(क) एषास्मि तूष्णीका भविष्यन्महासेनवधु ! ।

(ख) क एष महासेनो नाम ?

(ग) अस्त्युज्जयिनीयो राजा प्रद्योतो नाम । तस्य बल-

लुङो विधानान्नात्र लुङ् । सपरिहासं वचो वदन्ती ममान्तिकाद् दूरं गच्छ, नाहमिदं वचस्ते श्रोतुमिच्छामि । ममोपपासो न विधेयः सखि ! न स मह्यं रोचत इत्यर्थः ।

इदानीं भाविश्वशुरकुलनिर्देशेन पद्मावत्या हृद्गतं दयितं वरं जिज्ञासमानाऽऽवन्तिका सपरिहासचातुर्यं स्ववचनोपसंहारं प्रतिजानीते—**एसह्मि** इति । हे भविष्यन्महासेनवधु ! महासेन इति राज्ञः प्रद्योतस्य नामान्तरम्, तस्य वधूः स्नुषा, 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । भविष्यन्ती चासौ महासेनवधूश्च तथा तत्सम्बुद्धौ हे भविष्यन्महासेनवधु ! महासेनस्य स्नुषाभावं गमिष्यन्ति ! हे पद्मावतीत्यर्थः । 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्का'दित्यादिना 'भविष्यन्ती'ति पूर्वपदे पुंवद्भावः । 'ङिति ह्रस्वश्चे'ति नदीसंज्ञायाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व' इति ह्रस्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धे'रित्यनेन सोर्लुप् । एषा कृतोपहासेति यावत् अस्मीत्यनेन अहंपदाक्षेपः । तूष्णीका तूष्णींशीला, 'तूष्णींशीलस्तु तूष्णीकः' इत्यमरः । तूष्णीमित्यव्ययम्, ततः 'शीले को मलोपश्चे'ति कप्रत्यये मकारलोपे च तूष्णीकशब्दः सिध्यति, ततः स्त्रीत्वे टापि तूष्णीकेति । अस्मि भवामि । अयि पद्मावति ! यदि मद्वचनं परिहासं मन्यसे, न रोचते च तत्तुभ्यं, तर्हि त्वदीयं परिहासं कृतवतीयमहं 'राज्ञो महासेनस्य स्नुषा त्वं भविष्यसि, अर्थात्तत्पुत्रस्ते पतिर्भविष्यति' इत्येव केवलं निगद्याऽद्य मौनमालम्बे । नातः परं स्वेच्छया किञ्चिदभिधास्ये ।

महासेन इति नवीनमश्रुतपूर्वं नाम श्रुत्वा तद्विषये पृच्छत्यावन्तिकां पद्मावती—**को** इति । कोऽयं महासेनः ? यमिदानीं त्वमुदाहृतवत्यसि । तत्परिचयं ब्रूहीत्यर्थः ।

महासेनपरिच्चयप्रदानं प्रस्तौति पद्मावतीप्रश्नानुसारं वासवदत्ता—**अत्थीति** ।

वासव०—महासेन की बहू होनेवाली ! बस अब मैं चुप हुई ।

पद्मा०—यह महासेन कौन है ?

वासव०—उज्जयिनी का राजा प्रद्योत नामक है। सेना के परिमाण से उसका

तस्स परिमाणणिव्वुत्तं णामहेअं महासेणोत्ति ।

चेटी—(क) भट्टिदारिआ तेण रञ्ञा सह सम्बन्धं णेच्छदि ।

वासवदत्ता—(ख) अह केण खु दाणिं अभिलसदि ?

परिमाणनिर्वृत्तं नामधेयं महासेन इति ।

(क) भर्तृदारिका तेन राज्ञा सह सम्बन्धं नेच्छति ।

(ख) अथ केन खल्विदानीमभिलषति ?

उज्जयिनीयः, उज्जयिन्या अयम् उज्जयिनीसम्बन्धीत्यर्थः । सम्बन्धश्च स्वस्वामिभावरूपः । 'तस्येदम्' इत्यधिकारे 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां 'वृद्धाच्छः' इत्यनेन छप्रत्ययः, तस्य च 'आयनेयीनीयियः' इत्यादिना ईयादेशः । बलपरिमाणनिर्वृत्तम्, बलस्य सेनायाः परिमाणेन महत्त्वरूपेण निर्वृत्तं कृतम् । नामधेयं नाम, 'नामधेयं च नाम च' इत्यमरः । विजयते राजा कश्चिदुज्जयिन्याः प्रद्योतनामधेयः, तस्य च राज्ञः सेनाया परममहत्त्वपरिमाणेन कारणेन 'महती सेना यस्य' इत्यन्वर्थं 'महासेन' इति नामधेयं कृतं वर्तत इत्यर्थः ।

इदानीं विनयवत्या राजकुमार्याः पद्मावत्याः स्वसम्बन्धविषये स्वयं वक्तुमयुक्तत्वेन तस्या मनोगतमाकूतं जानत्याः परिचारिकायाश्चेट्या मुखेन पूर्वोक्तविवाहसम्बन्धेऽरुचिं दर्शयति कविः—**भट्टिदारिआ** इति । तेन राज्ञा प्रद्योतनाम्ना नृपेण, सम्बन्धं तत्पुत्रवरणरूपं योगम् । श्रीमत्या राजकुमार्या पद्मावत्या प्रद्योतराजकुलसम्बन्धो नेष्यते कर्तुम् । तद्राजकुमारमियं राजकुमारी वरीतुं नेच्छतीति भावः ।

कर्णगोचरीकृतचेटीवचना पृच्छति चेटीं पुनरावन्तिका—**अहेति** । अथ पक्षान्तरे, केन किन्नामधेयेन राज्ञा, सहेति शेषः, खलु वाक्यालङ्कारे, सम्बन्धरूपं कर्म पूर्वतोऽनुवर्तते, अभिलषति वाञ्छति । यदि नाम ते राजकुमारी प्रद्योतराजसम्बन्धं नेच्छति, तर्हि केन पुना राज्ञा सह सम्बन्धोऽस्यै रोचते ?

प्रियसख्यास्ततो गोपनं न युक्तमिति पद्मावत्या हृदयप्रियं प्रियं प्रकाशं नयन्ती

महासेन ऐसा नाम हो गया है ।

दासी—राजकुमारी उस राजा के साथ सम्बन्ध नहीं चाहतीं ।

वासव०—तो अब किसके साथ अपना सम्बन्ध चाहती हैं ?

चेटी—(क) अत्थि वच्छराओ उअअणो णाम। तस्स गुणाणि भट्टिदारिआ अभिलसदि।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ख) अय्यउत्तं भत्तारं अभिलसदि। [प्रकाशम्] केण कारणेण ?

चेटी—(ग) साणुक्कोसो त्ति।

(क) अस्ति वत्सराज उदयनो नाम। तस्य गुणान् भर्तृदारिकाभिलषति।

(ख) आर्यपुत्रं भर्तारमभिलषति। केन कारणेन ?

(ग) सानुक्रोश इति।

आवन्तिकायाः प्रश्नस्योत्तरं दत्ते चेटी-**अत्थीति**। वत्सराजः वत्सानां राजा, 'राजाऽहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्, वत्सनामकदेशस्याधिपतिरित्यर्थः। तस्य उदयनस्येति यावत्, गुणान् सौन्दर्यदयादाक्षिण्यादीन्। 'उदयन' इति सुगृहीत-नामधेयस्य वत्सदेशाधिपतेर्गुणेषु लुब्धाऽस्माकं राजकुमारी तमेव भर्तारं कामयते। सद्गुणरत्नाकरं श्रीमन्तमुदयनं वरीतुमिच्छन्तीं पद्मावतीं चेटीमुखान्निशम्य चिन्तां नाटयति चित्ते वासवदत्ता—**अय्यउत्तं** इति। आर्यपुत्रं मत्पतिं, भर्तारं पतिं, प्राप्तुमिति शेषः, अभिलषति इच्छति, अर्थात्पद्मावती। किमियं पद्मावती मम प्रियं प्रणयिनमुदयनं स्वपतिं कर्तुमिच्छतीत्यर्थः। अत्रेदं बोद्धव्यम्—'चिन्ता चेयं वासवदत्तायाः केवलं सपत्नीप्राप्तिरूपा, न किल पद्मावत्यां सापत्न्यद्वेषमूलिका। भर्तुर्विजयलाभलक्षणप्रधानकार्यस्य संसिद्धौ-'पद्मावत्येव कारणं भविष्यतीति वासवदत्तायाः कार्यगौरवमाकलयन्त्याश्चेतसि तद्विषये सापत्न्यद्वेषस्य लेशतोऽप्यनुदयात्'। मानसमेवेदं पूर्वोक्तं गूढं विचिन्त्य स्वात्मस्वरूपगोपनं कुर्वती प्रच्छन्नरूपा वासवदत्ता तदभिलाषकारणं ज्ञातुमिच्छन्ती प्रकटं पृच्छति चेटीम्—**केण** इति। केन कारणेन तस्य गुणानभिलषतीति प्रश्नः। को नाम तत्रोदयने विशिष्टो गुणो वर्तते, यः खलु पद्मावत्यास्तत्राभिलाषे कारणं जातः। 'केन गुणेन पुनराकृष्टचेता इय राजानमुदयनं कामयत' इति प्रश्नाभिप्रायः।

तमेवोदयनस्य पद्मावत्यभिलषणीयं गुणमाह चेटी—**साणुक्कोसो** इति।

दासी—उदयन नामक वत्सदेश का राजा है। राजकुमारी उसके गुणों को चाहती है।

वासव०—(स्वगत) आर्यपुत्र को पति बनाना चाहती है! (प्रकाश) किस कारण से ?

दासी—इसलिये कि वे दयालु हैं।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) जाणामि जाणामि । अअं वि जणो एव्वं उम्मादिदो ।

चेटी—(ख) भट्टिदारिए ! जदि सो राआ विरूवो भवे ?

(क) जानामि जानामि । अयमपि जन एवमुन्मादितः ।

(ख) भर्तृदारिके । यदि स राजा विरूपो भवेत् ?

अनुक्रोशो दया, 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि' इत्यमरः, तेन सहितः दयालुरित्यर्थः, अर्थादुदयनः । उदयनो नाम राजा दयालुरस्तीत्येतदेव कारणं तत्र विद्यते प्रधानं पद्मावत्याः प्रेमोत्पत्तौ । पत्यौ हि दयालुत्वं पत्नीप्रेमसम्पादकम्, तस्य च राज्ञो दयालुत्वेन प्रसिद्धिरस्तीति स एव पद्मावत्योचितं काम्यते वर इत्यर्थः ।

स्वानुभवगोचरं दयालुत्वलक्षणं पत्युर्गुणमभिनन्दन्ती मनस्याह वासवदत्ता—**जाणामि** इति । भृशार्थे द्विरुक्तिरियम् । पूर्ववाक्यार्थः कर्म । स किलार्यपुत्रो दयालुरस्तीति भृशमहं जानामीत्यर्थः । तस्य दयालुत्वं मया बहुशोऽनुभूतमिति भावः । **अयमपि ।** अयं जनोऽपि, मल्लक्षणः अहमपीति यावत्, एवं तस्य सानुक्रोशत्वेन कारणेन, उन्मादित उन्मत्ततां प्रापितः, उत्पूर्वाण्णिजन्तान्मदेः क्तः । सत्यमिदमनयोच्यते चेट्या । आत्मनो दयालुत्वगुणेनोन्माद्य मामहमपि तेनार्यपुत्रेण सरभसं प्रणयविवशीकृताऽस्मीति भावः ।

अथ किलोदयनविषयाभिलाषदाढर्यं परीक्षितुं पद्मावतीं प्रति चेट्याः प्रश्नः—**भट्टिदारिए** इति । विरूपः, विगतं विकृतं वा रूपं यस्य स रूपहीनः कुरूपो वा अदर्शनीय इति यावत् । एतद्वाक्यानन्तरं 'तर्हि किं करिष्यते' इति योजनीयम् । अयि ! राजकुमारि ! स भवत्याः प्रेमपात्रं राजा रूपहीनः कुरूपो वा चेत्स्यात्तर्हि भवत्या वरिष्यते न वा ? अत्र च दयालुतागुणवत् वरगतं सौन्दर्यमप्यपेक्षणीयं भवति कन्यकाजनस्येति पद्मावत्या वरणीयत्वेन निश्चितस्योदयनस्य स्वरूपविषयेऽपि जिज्ञासितमासीद् गूढं चेट्या । राजकुमार्याः पद्मावत्यास्तत्र किलोदयने हार्दिकाभिलाषदृढतायाः परीक्षणीयत्वाच्चतुरतमायाश्चेट्याः पद्मावतीं प्रत्यनुयोगोऽयं युज्यत एव ।

वासव०—(मन ही मन) हाँ, जानती हूँ । यह भी मनुष्य इस तरह उन्मत्त बनाया गया था ।

दासी—राजकुमारी ! यदि वे राजा कुरूप हों, तो !

वासवदत्ता—(क) णहि णहि । दंसणीओ एव्व ।

पद्मावती—(ख) अय्ये ! कहं तुवं जाणासि ?

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ग) अय्यउत्तपक्खवादेण अदि-

(क) नहि नहि । दर्शनीय एव ।

(ख) आर्ये ! कथं त्वं जानासि ?

(ग) आर्यपुत्रपक्षपातेनातिक्रान्तः समुदाचारः । किमिदानीं करि-

चेट्या कृतं प्रश्नममुं निशम्य सौन्दर्यै रतिपतेः पत्युरुदयनस्य स्वरूपसम्पदा पूर्णं परिचिता तत्सौन्दर्यगुणाकृष्टेव वासवदत्ता तदीयं सौन्दर्यातिशयं निह्नोतुं तद्विषयवचनावेगं च रोद्धुमपारयन्ती सुस्पष्टमाचष्टे—**णहि णहीति** । निषेधे दार्ढ्यं दर्शयितुं 'नहि नही'ति द्विःप्रयोगः । अत्र च 'विरूप' इत्यार्थः कर्ता, राजा तु प्रकृत एव । स खलु राजा विरूपो नास्ति, तत्र तु वैरूप्यशङ्का स्वप्नेऽपि न सम्भवतीत्यर्थः । विरूपता न चेत्साधारणरूपवत्ता स्यादित्याशङ्कायामाह—**दंसणीओ** इति । एवकारोऽत्राऽयोगव्यवच्छेदाय । नास्त्यत्र सौन्दर्यस्याऽयोगः, प्रत्युत सर्वथा तस्य योगः (सत्ता) विद्यत इत्यर्थः । वैरूप्याऽभाववान् स पुनर्दर्शनीयः सुन्दरो नूनमिति भावः ।

आवन्तिकासूचितं तत्सौन्दर्यं श्रवणाभ्यां निपीय तृप्यन्त्यापि प्रियजनगदितसरसवाक्यजातादतृप्तिमत्येव पद्मावत्या भूयः प्रियविषयकं किमपि प्रियं श्रवणगोचरतां नेतुमुत्कण्ठितयाऽऽवन्तिकामुद्दिश्य विधीयते प्रश्नः—**अय्ये** इति । आर्ये माननीय इति यावत् , पूर्ववाक्यार्थः कर्म । अयि मान्ये ! श्रीमानुदयनः सर्वथा दर्शनीय एवेति कथमवगम्यते भवत्या ? अत्र किल भवत्या वचने सत्यतासूचकं प्रमाणं वर्तते ? उत किमप्येवमेवेदमुच्यते तत्प्रशंसायामिति पद्मावत्युक्तेराशयः ।

श्रुत्वा च पद्मावत्या वचनमिदम् , आर्यपुत्रस्वरूपपरिचयप्रदानेनात्मस्वरूपाविष्करणं शङ्कमाना, चिन्तयत्येवं मनसि वासवदत्ता—**अय्यउत्तेत्यादि** । आर्यपुत्रस्य पत्युरुदनयस्येति यावत् , पक्षपातः प्रेम तेन कारणीभूतेन, समुदाचारः कर्तव्यमिति यावत् । अतिक्रान्त उल्लङ्घितः । अहो ! आर्यपुत्रप्रेम्णो महिम्ना मयाद्य

वासव०—नहीं, नहीं । वे तो सुन्दर ही हैं ।

दासी—आर्ये ! तुम कैसे जानती हो ?

वासव०—(स्वगत) आर्यपुत्र के पक्षपात से मैं अपना कर्तव्य भूल गई । अब क्या करूँ ?

क्कन्दो समुदाआरो । किं दाणिं करिस्सं ? होदु, दिट्ठं । [प्रकाशम्] हला ! एव्वं उज्जइणीओ जणो मन्तेदि ।

पद्मावती—(क) जुज्जइ । ण खु एसो उज्जइणीदुल्लहो ।

च्यामि ? भवतु, दृष्टम् । हला ! एवमुज्जयिनीयो जनो मन्त्रयते ।

(क) युज्यते । न खल्वेष उज्जयिनीदुर्लभः । सर्वजनमनोऽभिरामं

स्वीयं कर्तव्यं विस्मृतम्, यत्किलैतत्स्वरूपसौन्दर्यं प्रतिपाद्य तत्परिज्ञानमात्मनो दर्शितम् । आर्यपुत्रपरिज्ञानशङ्कोत्थापनयाऽनया च नूनं प्रकाशतां नीतमप्रकाशनीयमप्यात्मस्वरूपम् । किमधुना विधेयम् ? कथं किमु वा प्रदेयं प्रश्नस्यैतस्योत्तरं पद्मावत्यै ? महदनुचितं मयैतत्कृतमार्यपुत्रस्वरूपपरिचयप्रदानं नामेति । इत्थं किञ्चिद्विचारानन्तरं प्रश्नस्योत्तरमुपलभ्याह—**होदु** इति । भवतु अस्तु, अर्थादार्यपुत्रपरिचयप्रदानम्, दृष्टं ज्ञातम् । उत्तरमिति शेषः । आस्तां तावदिदं मया कृतमार्यपुत्रपरिचयप्रदानम्, न तत्र किमपि शङ्कनीयं मया । उत्तरं दास्यमानमिदानीमुपलब्धम् । इत्येवं मानसं विचार्य तदेव प्रकाशमुत्तरं ब्रूते—**हलेति** । उज्जयिनीयो जन उज्जयिनीनिवासी लोकः, एवं पूर्वोक्तम्, मन्त्रयते विचारयति, कथयतीति यावत् । 'मत्रि गुप्तभाषणे' इति चौरादिकणिजन्तादात्मनेपदे रूपमिदम् । सखि पद्मावति ! यन्मयोक्तं राज्ञ उदयनस्य दर्शनीयत्वं, तत्किलोज्जयिनीवासिनो जनाः कथयन्ति । श्रुत्वैवेदं मया निगदितम् । सत्यं चेदं त्वया मन्तव्यम्, यतो 'न ह्यमूला प्रसिद्धि'रिति भावः । 'उज्जयिनीवासिनो जना दर्शनसौभाग्यं प्राप्नुवन्त उदयनस्य राज्ञो दर्शनीयत्वं प्रख्यापयन्तीत्यहमपि तत्रत्या तद्दर्शनसौभाग्यं प्राप्तवती तस्य सौन्दर्यं वचसा प्रकाशयामीत्यत्र किं नामाश्चर्यं सख्याः' इत्येवं गूढमत्र ध्वनितं चतुरिम्णा वासवदत्तयाऽऽवन्तिकया ।

आवन्तिकयोक्तममुमर्थं समर्थयन्ती पद्मावत्याह—**जुज्जइ** इति । युज्यते सम्भाव्यते, त्वदुक्तं कर्तृ । उज्जयिनीवासिनामुक्तिरियं सङ्गच्छत इत्यर्थः । तत्रापि पुनः कारणमाह—**ण खु** इति । 'एष उज्जयिनीदुर्लभो न खलु' इत्यन्वयः । एष उदयनलक्षणः, उज्जयिन्या दुर्लभ उज्जयिनीदुर्लभः न खलु अर्थात्सुलभः । उज्ज-

---

अच्छा, उत्तर ध्यान में आगया । (प्रकाश) ऐसा उज्जयिनी के लोग कहते हैं ।

पद्मा०—हो सकता है । यह उज्जैन के लिये असम्भव नहीं । सुन्दरता सब लोगों के

सव्वजणमणोभिरामं खु सोभग्गं णाम।

[ततः प्रविशति धात्री।]

धात्री—(क) जेदु भट्टिदारिआ। भट्टिदारिए! दिण्णासि।

खलु सौभाग्यं नाम।

(क) जयतु भर्तृदारिका। भर्तृदारिके! दत्तासि।

यिनीपदेनात्र तद्वासिनो जना लक्ष्यन्ते। 'सौभाग्यं नाम सर्वजनमनोऽभिरामं खलु' इति सम्बन्धः। सौभाग्यं सौन्दर्यम्, नामेति प्रसिद्धौ, सर्वेषां जनानां मनसोऽभिरामं सुन्दरमाकर्षकम्, खलु वाक्यालङ्कारे। श्रीमानुदयनो नाम दयालू राजा श्वशुरालयं गतः सर्वैरुज्जयिनीवासिभिर्दर्शनमार्गं नीयत इत्यतस्तद्दर्शनसौभाग्यं प्राप्य तथा तस्य सौन्दर्यं शक्यते वर्णयितुम्। प्रसिद्धं चैतत्, यत्-सौन्दर्यं बलादाकर्षतीव चेतः सर्वेषाम्। अतो राजानमुदयनं दृष्ट्वा तत्सौन्दर्याकृष्टचेतसः सर्व एव तत्रत्यास्तदीयं कामनीयकमलौकिकं सर्वतः प्रशंसन्तीति सम्भवत्येतत्। अत्र च-'आवन्तिकया त्वया कदाचिदवलोकितचरैतदीयरामणीयकगुणावर्जितस्वान्तया कथ्यते चेदिदं तदपि नाती-वाश्चर्यकर'मिति गूढमाकूतं पद्मावत्याः।

इत्थं तावदनया मिथः सखीसंलापभङ्ग्या पद्मावत्याश्चेतस्युदयनविषयाभिलाष-विशेषमनिवार्यं गाढमुत्पाद्य साम्प्रतं तदीयवाग्दानपरिसमाप्तिसूचनाभिप्रायेण धात्रीं प्रवेशयति कविः-**तत** इति। ततः उदयनप्राप्तिप्रवणपद्मावतीहृदयस्थैर्यपरीक्षणा-नन्तरम्, धात्री उपमाता, मातृवत्पालनं कुर्वती सेविकेत्यर्थः, 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु' इति कोषः। इयं चात्र पद्मावत्या एवोपमाता बोद्धव्या।

प्रविष्टा च धात्रीयं प्रस्तुतां तामेव पद्मावतीविवाहसम्बन्धनिष्पत्तिं सूचयति—**जेदु** इति। भर्तृदारिका पद्मावती, जयतु सर्वोत्कर्षेण वर्ततामित्याशीः। एषा च वृद्धया धात्र्या प्रयुक्ता युज्यत एव। चिरं जीवतु सौभाग्यवती नः स्वामिनः कन्या पद्मावतीत्यर्थः। तदेव जयस्य कारणं प्रकृतमाह—**भट्टिदारिए** इति। दत्ताऽसि दानविषयीकृताऽसि, परस्वं जाताऽसीत्यर्थः। दानं चात्र वाचैव सम्भवति। वाग्दानं हि दातृप्रतिग्रहीत्रोः परस्परैकवाक्यतापूर्वको वाङ्निश्चयः। राजकुमारि! वाग्दानं

मन को हरने वाली होती है।

(तब धाई प्रवेश करती है।)

धाई—राजकुमारी की जय हो। हे राजकुमारी! तुम दी गई।

वासवदत्ता— (क) अय्ये ! कस्स ?
धात्री--(ख) वच्छराअस्स उदअणस्स ।
वासवदत्ता—(ग) अह कुसली सो राआ ?

(क) आर्ये ! कस्मै ?
(ख) वत्सराजायोदयनाय ।
(ग) अथ कुशली स राजा ?

ते निर्वृत्तम्, सञ्जातपाणिग्रहणेवाऽधुना त्वं परकीया संवृत्तेति भावः ।

अथैतर्हि तद्विषयकमेव कञ्चन मिथः संलापप्रकारं धात्रीवासवदत्तयोर्दर्शयति कविः । तत्र च धात्रीमुखान्निशम्य पद्मावत्या दानं, पूर्वतो विदितार्थाऽप्यविदतीव वासवदत्ता स्वभर्तुरात्मनि तादृशं दृढमनुरागं विचिन्त्य तदीयभार्यान्तरस्वीकरण-विषये भृशं शङ्कमाना पृच्छति साकूतं धात्रीम्—**अय्ये** इति । 'आर्ये' इत्येषा च सम्बुद्धिः स्थान एव वासवदत्ताया वृद्धां मातृनिर्विशेषां धात्रीं प्रति । दत्तेति पूर्व-तोऽनुवर्तते, कस्मै किन्नामधेयाय पुरुषाय । अयि ! मान्ये ! पुरुषाय कस्मै इयं प्रतिपादिता पद्मावती, कस्तावदस्याः परिग्रहीता वरः ! पत्युरस्या नाम निर्देष्टव्यं भवत्या सुस्पष्टमिति प्रश्नार्थः ।

उत्तरमाह धात्री—**वच्छराअस्स** इति । 'वत्सराजाये'त्युदयनस्य विशेषण-मुदयनान्तरप्रतीतिव्यवच्छेदाय । वत्सदेशाधिपतय उदयनाय प्रतिपादितेयमिति तमेवोदयनमस्याः पतिं जानीहीत्यर्थः ।

पद्मावतीपतीभूतमुदयनं श्रुत्वा तत्कुशलं पृच्छति वासवदत्ता—**अहेति** । अथशब्दः प्रश्नार्थः, 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । कुशली कुशलयुक्तः, 'अत इनिठनौ' इतीन् । 'सः' इत्यनेन प्रक्रान्तः प्रसिद्धश्च उदयनो गृह्यते । अपि कुशलं वर्तते राज्ञ उदयनस्य ? तत्कुशलवृत्तान्तं जिज्ञासमानायै मह्यं तदिदं सुविशदं भवत्या निवेदनीयमिति भावः । अत्र किल—'वत्सराजाय पद्मावती दत्तेति विषयस्यावगतौ वासवदत्तायास्तत्कुशलप्रश्नस्य को वाऽवसर ?' इत्येवं न शङ्कनीयम्, असह्यतमां नूतनां विरहवेदनामनुभवतो भर्तुरस्वस्थभावस्य

वासव०—आर्ये ! किसे ?
धाई—वत्सराज उदयन को ।
वासव०—वे राजा कुशल से तो हैं ?

धात्री—(क) कुसली सो आअदो। तस्स भट्टिदारिआ पडिच्छिदा अ।

वासवदत्ता—(ख) अच्चाहिदं।

धात्री—(ग) किं एत्थ अच्चाहिदं ?

(क) कुशली स आगतः। तस्य भर्तृदारिका प्रतीष्टा च।
(ख) अत्याहितम्।
(ग) किमत्रात्याहितम् ?

भृशं सम्भावनया विरहावस्थायां तदीयं कुशलमसम्भावयन्त्यास्तादृशप्रश्नविधानस्य लब्धावसरस्य प्रियतमाया वासवदत्तायास्तदानीमत्यन्तं युज्यमानत्वात्।

वासवदत्ताप्रश्नोत्तरगर्भं तदग्रिमवृत्तान्तं निवेदयति धात्री—**कुसलीति**। आगत उपस्थितः, अर्थाद्राजभवनम्। 'तस्ये'ति च सम्बन्धसामान्ये कर्त्रर्थाऽविवक्षायां षष्ठी, तेनेत्यर्थः। प्रतीष्टा स्वीकृता, अर्थाद्वाचैव। सकुशलावस्थायां विद्यमान उदयनो राजा समयेऽस्मिन् राजभवनं समायातः। आगत्य च सोऽयं वाचा दत्तां राजकुमारीं पद्मावतीं वाचा स्वीकृतवानित्यर्थः। कुशलिनाऽत्रागतेन राज्ञोदयनेन वाग्दत्तायाः पद्मावत्याः परिग्रहं कर्तुकामेन तत्स्वीकृतेर्वचनं दत्तमिति भावः।

प्रियतमेनोदयनेन कृतं पत्न्यन्तरपरिग्रहं निशम्य चित्ते समुद्भूतं प्रणयभावसुलभं शोकावेगं निरोद्धुमसमर्था, स्वविषये तदीयनिःस्नेहत्वसम्भावनया महद् भयमुपस्थितं शङ्कमाना सहसा वचनमुद्गिरति वासवदत्ता—**अच्चाहिदं इति**। अत्याहितं महद् भयम्, 'अत्याहितं महाभीति'रिति कोषः। महतो भयस्य स्थानमिदं यत्किलोदयनस्य पद्मावतीपरिग्रहोऽयम्। सम्भावये, तदिदं महान्तमनर्थं जनयिष्यतीति भावः।

कीदृशं महाभयमिति तत्स्वरूपं पृच्छति धात्री—**किं इति**। अत्र उदयनकृते पद्मावतीपरिग्रहे। उदयनेन यदियं पद्मावती परिगृहीता, किं नामात्र विषये मह-

---

धाई—वे सकुशल आये। उन्होंने राजकुमारी को स्वीकार भी कर लिया।
वासव०—महान् अनर्थ।
धाई—इसमें क्या अनर्थ हुआ ?

वासवदत्ता—(क) ण हु किञ्चि । तह णाम सन्तप्पिअ उदासीणो होदि त्ति ।

धात्री—(ख) अय्ये ? आअमप्पहाणाणि सुलहपय्यवत्थाणाणि महापुरुसहिअआणि होन्ति ।

(क) न खलु किञ्चित् । तथा नाम सन्तप्योदासीनो भवतीति ।

(ख) आर्ये ! आगमप्रधानानि सुलभपर्यवस्थानानि महापुरुषहृदयानि भवन्ति ।

द्भुयं सम्भाव्यते भवत्या ! तदेतदधुना स्पष्टीकरणीयमिति धात्रीवचनस्याभिप्रायः ।

प्रणयरभसादुक्तस्य वचसः सङ्गतिं दर्शयति चातुर्येण रहस्यगोपनं कर्तुकामा वासवदत्ता—**ण** हु इति । खल्विति वाक्यालङ्कारे, अन्यदिति शेषः, अत्याहितं कर्तृ । तथा तेन प्रकारेण ब्रह्मचारिसूचितेन पूर्वोक्तेन 'हा ! प्रिये ! वासवदत्ते' इत्यादिरूपेणेति यावत्, नामेति वाक्यालङ्कृतौ, सन्तप्य सन्तापं कृत्वा विलप्येत्यर्थः, उदासीनो विरक्तः स्नेहशून्यः अर्थाद्वासवदत्तायाम्, भवति अभूत्, भूतार्थे लट् । अत्रोदयनः कर्ता । अन्यत्तु महद्भुयं किमपि नास्ति, एतदेव किल तद्वर्तते यद्राज्ञोदयनेन वासवदत्तया वियुक्तेन तदर्थं 'हा प्रिये' इत्यादि पूर्वं बहु विलप्येदानीं पुनस्तत्सर्वं विस्मृत्य नूतनां पत्नीं प्रतिगृह्णता वासवदत्तायां नूनं स्नेहरहितेन सञ्जातमिति विचार्य तथोक्तं मयेति भावः ।

वासवदत्तया सम्भावितमत्याहितं निषेधन्ती वचनं प्रयुङ्क्ते धात्री-**अय्ये इति** । 'आगमप्रधानानि महापुरुषहृदयानि सुलभपर्यवस्थानानि भवन्ती'त्यन्वयः । आगमः प्रधानं मुख्यो येषु तान्यागमप्रधानानि, आगमपदेनात्राऽऽगमोपदेशो गृह्यते, आगमश्च शास्त्रम् । महापुरुषहृदयानि महात्मनामुदारप्रकृतीनां चेतांसि, सुलभं सुसम्भवं सुकरमिति यावत् पर्यवस्थानं विकारपरित्यागद्वारा स्वरूपेणावस्थितिर्येषां तानि सुलभपर्यवस्थानानि, भवन्ति जायन्ते । अयि ! मान्ये ! आवन्तिके ! महात्मनां चेतःसु शास्त्रोपदेशः स्थानं लभते, अतः समयमहिम्ना विकृतमानसा यत्-

---

वासव॰—और कुछ नहीं । वैसे दुखी होकर (वासवदत्ता में) उदासीन हो गये ।

धाई—बड़े लोगों के हृदय शास्त्रों के (उपदेशों) की ओर झुके होने से सहज ही अपनी प्रकृति पर आजाते हैं ।

वासवदत्ता—(क) अय्ये ! सअं एव्व तेण वरिदा ?

धात्री—(ख) णहि णहि। अण्णप्पओअणेण इह आअदस्स अभिजणविण्णाणवओरूवं पेक्खिअ सअं एव्व महाराएण दिण्णा।

(क) आर्ये ! स्वयमेव तेन वरिता ?

(ख) नहि नहि। अन्यप्रयोजनेनेहागतस्याऽभिजनविज्ञानवयोरूपं दृष्ट्वा स्वयमेव महाराजेन दत्ता।

किञ्चित्कुर्वन्तोऽपि ते शास्त्रोपदिष्टमानसिकविवेकबलेन स्वीयां पूर्वां प्रकृतिं न कदापि त्यजन्तीति वाक्यार्थः। अयमाशयः—महानुभावः श्रीमानुदयनः कार्यविशेषेण पद्मावत्याः प्रतिग्रहं कृतवानपि वासवदत्तायाः स्नेहमहिमानं न नाम जातु विस्मरिष्यति। अङ्गीकृतपरिपालनं हि महात्मनां प्रकृतिरेव। अतो नूतनोऽयमारोपितः पद्मावतीविषयकः स्नेहभावस्तस्य राज्ञो हृदयेऽनुस्यूतचरं वासवदत्ताविषयकं रतिभावं कथमप्यपाकर्तुं न तावत्प्रभविष्यतीति।

इत्थं धात्र्या वचनेन भर्तुर्निःस्नेहत्वसम्भावनायां शिथिलितायामपि स्वविषये पुनस्तदीयप्रेमदाढर्यं परीक्षितुकामा पृच्छति धात्रीं वासवदत्ता—**अय्ये** इति। वरिता प्राप्तुमिष्टा, ईप्सार्थकाच्चौरादिकाद् वरधातोः क्तप्रत्यये स्त्रीत्वाट्टाप्। अयि ! पूज्ये ! श्रीमानुदयनः स्वत एव तां पद्मावतीं प्राप्तुमैच्छत्किमिति प्रश्नार्थः। पद्मावतीगतचेता यदि स मत्प्रियो राजानं तां प्रार्थितवांस्तर्हि पूर्वोक्ता मम तद्विषयिणी शङ्का नूनं तदवस्थैवेति मनोगतमाकूतं प्रश्नेऽस्मिन् वासवदत्तायाः।

उत्तरयति वासवदत्तायाः प्रश्नं धात्री—**णहीति**। अत्र च पूर्वोक्तं निषिध्यते, द्वौ नञौ पूर्वोक्तार्थस्य सर्वथाऽभावं द्योतयतः। उदयनः स्वयं पद्मावतीं प्राप्तुं नैवैच्छदित्यर्थः। तर्हि कथं तस्य तत्प्राप्तिरित्यशङ्क्य 'तस्य तत्प्राप्तीच्छा न स्वतः, किन्तु परत' इत्याह—**अण्णप्पओअणेणेति**। अन्यप्रयोजनेन कारणान्तरेण, इह राजभवने, अभिजनविज्ञानवयोरूपम्, अभिजनश्च विज्ञानं च वयश्च रूपं चेति समाहारद्वन्द्वे क्लीवत्वमेकत्वं च, अभिजनः कुलम्, 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इति कोषः, विज्ञानं वीणावादनादिविषयकं विशिष्टं ज्ञानम्,

---

वासव०—आर्ये ! क्या स्वयं ही उन्होंने वरण किया ?

धाई—नहीं नहीं। दूसरे काम से यहाँ आये हुए उनके कुल, ज्ञान, वय और रूप को देखकर महाराज ने स्वयं ही उन्हें दे दिया।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) एव्वं ! अणवरद्धो दाणिं एत्थ अय्यउत्तो ।

[प्रविश्यापरा]

(क) एवम् ! अनपराद्ध इदानीमत्रार्यपुत्रः ।

वयो नूतनं युवावस्थेति यावत् , रूपं सौन्दर्यम् । महाराजेन दर्शकनामधेयेन राज्ञा । केनापि कारणेन सम्प्रति राजभवनं प्राप्तस्य राज्ञ उदयनस्य कुलीनतां कलाकौशलं यौवनं सुन्दरतां च प्रत्यक्षं निरूप्य महाराजो दर्शकः किल स्वात्मभगिनीं पद्मावतीं तेनाऽप्रार्थितामपि तस्मा उदयनाय वरगुणसम्पन्नाय वराय स्वयं सादरं प्रतिपादितवानिति भावः ।

धात्र्या प्रतिपादितमेतादृशं स्वभर्तुः पद्मावतीप्राप्तेः प्रकारमवगत्य तां तद्विषयिणीं मानसीं शङ्कामपाकुर्वाणा चित्तेऽभिधत्ते ससन्तोषं वासवदत्ता—**एव्वं** इति । एवम् इत्थम् , एतादृशः पद्मावतीपरिग्रहप्रकार इति यावत् । अत्र पद्मावतीपरिग्रहविषये, अनपराद्धः अकृतापराधो निर्दोष इत्यर्थः, कर्तरि क्तः । भर्तुः किल पद्मावत्याः प्राप्तेर्विषये वृत्तमेतादृशं वर्त्तते । इत्थं सति समयेऽस्मिन्नप्रार्थनयैव स्वयमुपगतां साक्षाल्लक्ष्मीमिव पद्मावतीं प्रतिगृह्णन्नार्यपुत्रो मत्प्रियोऽयं दोषभाजनं नास्तीति न मया तत्र मृषा स्वविषयकं निःस्नेहरौक्ष्यं शङ्कनीयमिति भावः । 'कार्यविशेषापेक्षितया हि महत्तमार्थसाधिकां पद्मावतीं पर्यग्रहीदार्यपुत्रो न किल कामनया । न च सम्भावनीयं मयाऽदो, यदेष तां प्रतिगृह्णन् सहजं मयि स्नेहानुबन्धं लघयिष्यति । सर्वथेदं कार्यं प्रशंसनीयं प्रियतमाभ्युदयाभिलाषिण्या मये'ति वासवदत्तात्मगतोक्ते रहस्यम् ।

इत्थमेतावता प्रबन्धेन वाच्यार्थमहिम्ना पद्मावत्या उदयनगतं सविशेषं रतिभावं प्रतिपाद्य व्यङ्ग्यमर्यादयोदयनस्यापि हृद्गतं पद्मावतीविषयकानुरागविशेषं संसूच्य परस्परं दम्पत्योरनयोश्चेतस्यलौकिकप्रेमबीजारोपणं कविना कृतम् । एतेन प्रकृतकार्यसिद्धेः सूचनापि संवृत्ता ।

इदानीं किलैतस्मिन्महनीयतमे वासवदत्तयाऽनुमते विवाहे पद्मावत्याः कौतुकमङ्गलाचरणस्य लब्धावसरत्वं सूचयितुं तदर्थं च धात्रीं त्वरयितुमपरस्याश्चेट्याः प्रवेशमाह कविः—**प्रविश्येति** । अपरा चेटीत्यर्थः ।

वासव०—(स्वगत) ऐसा !, तो इस विषय में आर्यपुत्र अब दोषी नहीं ।

(दूसरी दासी आकर)

चेटी—(क) तुवरदु तुवरदु दाव अय्या । अज्ज एव्व किल सोभणं णक्खत्तं । अज्ज एव्व कोदुअमङ्गलं कादव्वं त्ति अह्माणं भट्टिणी भणादि ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ख) जह जह तुवरदि, तह तह अन्धीकरेदि मे हिअअं ।

(क) त्वरतां त्वरतां तावदार्या । अद्यैव किल शोभनं नक्षत्रम् । अद्यैव कौतुकमङ्गलं कर्तव्यमित्यस्माकं भट्टिनी भणति ।

(ख) यथा यथा त्वरते, तथा तथान्धीकरोति मे हृदयम् ।

कृतप्रवेशा चेयं चेटी ब्रूते—तुवरदु इति । 'त्वरतां त्वरता'मिति त्वराऽतिशयद्योतनार्था द्विरुक्तिः । तावद्वाक्यालङ्कृतौ, आर्या धात्री । सम्प्रतीतः प्रस्थातुं धात्र्या त्वराविशेषोऽवलम्ब्यतामित्यर्थः । तदेव त्वराकरणस्य कारणमाह—अज्ज एव्वेति । किलेति निश्चये, कौतुकमङ्गलं विवाहमङ्गलसूत्रवन्धनरूपं शुभकार्यम्, भट्टिनी अकृताभिषेका दर्शकस्य राज्ञः पत्नी, 'देवी कृताभिषेकायामितरासु तु भट्टिनी'त्यमरः । भणति कथयति, आज्ञापयतीति यावत् । नूनमद्यतन एव दिवसे मङ्गलकार्यानुकूलं सुन्दरं नक्षत्रं वर्तते । अस्मिन्नेव दिने पद्मावत्याः करे वैवाहिकमङ्गलोचितं मङ्गलसूत्रं वन्धनीयमित्यतस्तदर्थं तत्र कौतुकागारे (मङ्गलगृहे) शीघ्रं प्रवेशनीया पद्मावतीत्यस्मदीयस्वामिन्या आदेश इत्यर्थः । 'शुभं शीघ्रं विधातव्यम्, श्रेयांसि च बहुविघ्नानि भवन्तीति नयानुसारेण पद्मावतीविवाहमङ्गलकार्यमिदानीं शीघ्रमनुष्ठातव्यम्, अद्यैव दिनशुद्धिरिति मङ्गलकार्यानुकूलं दिनान्तरं नान्वेषणीयम्, एष एव च मङ्गलसूत्रवन्धनौपयिकः समीचीनोऽवसर इति लग्नवेला यथा न विचलेत्तथा त्वरयैतत्सम्पादनीयम्, अतः श्रीमत्या पद्मावत्या सह विवाहमङ्गलागारे शीघ्रमुपस्थातव्यं भवत्ये'ति राज्या आज्ञां सूचयन्त्याश्चेट्या वचनस्याभिप्रायः ।

अमुना हि चेटीवचनेन पद्मावतीविवाहसमयस्यासन्नतमत्वं विचार्य पुनरप्यविवेकवशादिव सपत्नीभावसमुचितं महामोहं नाटयति चित्ते वासवदत्ता-जहजहेति । अत्र चेटी कर्त्री । अन्धीकरोति, अनन्धमन्धं करोतीत्यर्थे 'कृभ्वस्तियोगे

दासी—बस आप शीघ्रता करें । आज ही अच्छा नक्षत्र (दिन) है, आज ही मङ्गलकार्य (सगुन) करना होगा–ऐसा हमलोगों की स्वामिनी रानी कहती हैं ।

वासव०—(स्वगत) जैसे जैसे यह त्वरा कर रही है, वैसे वैसे मेरे हृदय को अन्धा (किंकर्तव्यमूढ़) बना रही है ।

६ स्व०

धात्री—(क) एदु एदु भट्टिदारिआ ।

[निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

द्वितीयोऽङ्कः ।

अथ तृतीयोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति विचिन्तयन्ती वासवदत्ता ।]

(क) एत्वेतु भर्तृदारिका ।

सम्पद्यकर्तरि च्वि'रिति च्विप्रत्ययः, 'अस्य च्वा'वितीत्वम् । हृदयं कर्म । हृदयस्यान्ध्यं च अज्ञानरूपम्, तेन च तत्र विवेकदर्शितायाः प्रतिरोधः सुलभ एव । यावद्यावदियं त्वरयति धात्री चेटी, तावत्तावन्मदीयं हृदयमिदमज्ञानमयीं विचारशून्यतादशां नयतीत्यर्थः । त्वरयन्त्याश्चेट्या वचनान्मूढं मनो मेऽधुना प्रतिपत्तिशून्यतां गाहत इति भावः । पूर्वं किल वासवदत्तया धात्रीवचनेन प्रियतमोदयनविवाहसम्बन्धान्तरसम्भवं मानसं शङ्काकलङ्कमपनयन्त्या कथमपि हृदयं समाहितमासीद्विवेकमहिम्ना । इदानीं तु पुनरसावपरस्याश्चेट्या इदं पद्मावतीविवाहमङ्गलाचारणत्वरासम्पादकं वचनं निशम्य महामोहमयीं विवेकाभावकृतां विषण्णावस्थां प्रत्यपद्यतेत्यहो ! सहजस्नेहस्य महिमा ।

चेटीवचनात्पद्मावतीं तत्र गन्तुं प्रवर्तयन्ती धात्री वचनमाह—**एदु एदु इति ।** द्विरुक्तिरियं गमनत्वरायामादरे च । आगम्यतामागम्यतां राजकुमार्या मन्निर्दिष्टेनाध्वना गम्यतां कौतुकागारमित्यर्थः ।

इत्थं पद्मावत्याः कौतुकागारगमनं प्रस्तुत्य तदनुसारं द्वितीयाङ्कसमाप्तिसूचकं रङ्गमञ्चात्सकलानां निर्गमनं दर्शयति कविः—**निष्क्रान्ता** इति ।

अङ्कसमाप्तिं सूचयति—**द्वितीयोऽङ्क** इति ।

इति श्रीस्वप्नवासवदत्तव्याख्यायां प्रबोधिन्यां द्वितीयोऽङ्कः ।

तृतीयाङ्कोपक्रमं प्रतिजानीते—**अथेति ।** अथ द्वितीयाङ्कसमाप्तेरनन्तरम्, तृतीयाङ्कः उपक्रम्यत इति शेषः ।

ततः **प्रविशतीति ।** इत्थमधुना सुन्दरतरसखीसंलापभङ्ग्या द्वितीयाङ्के सूचितं

धाई—आओ, राजकुमारी ! आओ ।

(सब लोगों का प्रस्थान)

दूसरा अङ्क समाप्त ।

(सोचती हुई वासवदत्ता आती है ।)

वासवदत्ता—(क) विवाहामोदसङ्कुले अन्तेउरचउस्साले परित्त-जिअ पदुमावदिं इह आअदह्मि पमदवणं। जाव दाणिं भाअधेअणिव्वुत्तं दुःखं विणोदेमि। [परिक्रम्य] अहो ! अच्चाहिदं। अय्यउत्तो

(क) विवाहामोदसङ्कुले अन्तःपुरचतुश्शाले परित्यज्य पद्मावतीमिहागतास्मि प्रमदवनम्। यावदिदानीं भागधेयनिर्वृत्तं दुःखं विनोदयामि। अहो ! अत्याहितम्। आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः। यावद्

प्रियतमोदयनस्य विवाहसम्बन्धं पद्मावत्या समं निश्चितमवगत्य तद्धेतुकं चिन्तानुभावं नाटयन्त्याः पद्मावतीकौतुकमालिकागुम्फने नियोक्ष्यमाणाया वासवदत्तायाः समुचितं प्रवेशमाह कविः।

वासवदत्ताया मनोगतं वितर्कमाह—**विवाहामोदेत्यादि**। विवाहस्य पद्मावतीपरिणयस्य आमोद आनन्दो येषां तादृशैर्बान्धवजनैरिति यावत् सङ्कुले परिपूर्णे, अथवा विवाहामोदेन बान्धवजनाभिनीतेन पद्मावतीपरिणयानन्देन सङ्कुले विवाहमहोत्सवशालिनीत्यर्थः। विवाहोत्सवानन्दसन्दोहमग्नैर्बान्धवजनैः परिपूर्णस्यान्तःपुरचतुःशालस्येयमानन्दपूर्णत्वोक्तिरौपचारिकी वा बोद्धव्या। अत्र च पक्षे तत्रत्यानन्दोत्सवस्य सर्वतो व्याप्तत्वं भूयस्त्वं च द्योत्येते। विशेषणं चेदमन्तःपुरचतुःशालस्य। चतुःशालं हि परस्पराभिमुखीनां शालानां चतुष्टयेन संयुक्तं सदनमुच्यते। प्रमदवनञ्च अन्तःपुरविहारोचितमुद्यानम्। अन्तःपुरे पद्मावत्या अवस्थानं तु वरागमनप्रतीक्षामूलकम्। तत्र च बहुजनाकीर्णे वासवदत्तायाः प्रच्छन्नरूपाया अवस्थातुमनौचित्येन प्रमदवनप्रस्थानं युज्यते। भागधेयनिर्वृत्तम् स्वीयदुर्दैवलब्धम्, दुःखम् आर्यपुत्रानवाप्तिरूपम्, विनोदयामि यावत्, अपनेष्यामीत्यर्थः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट्। विजने दुःखस्य लब्धप्रसरत्वात्तदुत्कण्ठाविनोदैरिवात्मानं विनोदयिष्यामीत्यर्थः। तामेव चिन्तां नाटयति—**परिक्रम्येति**। कतिचित्पदानि गत्वेत्यर्थः। अहो इत्याश्चर्ये। अत्याहितं महाभीतिः महत्कष्टमिदम्। तदेवाह—**अय्यउत्तो** इति। नामेति स्मरणे। परकीयः अन्यस्याः

वासव०—ब्याह की खुशी से भरे हुए राजमहल के कोहबर में पद्मावती को छोड़कर मैं यहाँ आराम-बाग में आई हूँ। तो अब मेरे दुर्भाग्य से उपस्थित दुःख को कुछ शान्त करूँ।

वि णाम परकेरओ संवुत्तो । जा उववितसामि । [उपविश्य] धण्णा-खु चक्कवाअवहू, जा अण्णोण्णविरहिदा ण जीवइ । ण खु अहं पाणाणि परित्तजामि । अय्यउत्तं पेक्खामि त्ति एदिणा मणोरहेण जीवामि मन्दभाआ ।

उपविशामि । धन्या खलु चक्रवाकवधूः, याऽन्योन्यविरहिता न जीवति । न खल्वहं प्राणान् परित्यजामि । आर्यपुत्रं पश्यामीत्येतेन मनोरथेन जीवामि मन्दभागा ।

पद्मावत्याः सम्बन्धी पतिरिति यावत्, संवृत्तः सञ्जातः । मय्यनुरागबाहुल्यं वहतोऽप्यार्यपुत्रस्य पद्मावतीप्रियतमभावो मे महते विस्मयाय कष्टाय चेति भावः । पुनरपि चिन्तावैकल्यमेव दर्शयति—**उपविश्येति** । कचित्प्रदेशे स्थितिं कृत्वेत्यर्थः । परिक्रमोपवेशौ वासवदत्ताया एकत्रानवस्थानेच्छामूलकं चिन्ताविशेषं सूचयतः । प्रियवियोगिनीं जीवन्तीमात्मानं निन्दति—**धण्णेति** । धन्या अभिनन्दनीया, खलु निश्चये, अन्योन्यविरहिता परस्परं वियुक्ता प्रियेण विनाकृतेत्यर्थः, न जीवति प्राणांस्त्यक्तुं चेष्टत इति यावत् । खलुस्त्वर्थे अहन्तु इत्यर्थः । 'एकाकिनी चक्रवाकी जीवितुं नोत्सहमाना नूनं प्रशंसनीया, अहन्तु प्रियवियुक्तापि जीवन्ती निन्दनीयास्मी'ति तिर्यग्जातितोऽपि हीनामात्मानं मन्यते वासवदत्ता । जीवने कारणमाह—**अय्य उत्तं** इति । पश्यामीति वर्तमानसामीप्ये भविष्यदर्थे लट् । एतेनार्यपुत्रदर्शनस्य सम्प्रति प्राप्तावसरत्वं सूच्यते । मनोरथेन आशया । पद्मावतीविवाहप्रसङ्गेन समागत आर्यपुत्रो नूनं नयनगोचरतां गच्छेदित्याशातन्तुरेव प्रियवियोगदशायां वासवदत्ताया मम जीवनेऽवलम्बनमस्तीति भावः । वियोगे किल प्राणिनां प्रियजनसमागमप्रत्याशयैव किमपि समाश्वासनं भवति । तथा च **मेघदूते**—'आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां, सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि' इति ।

पद्मावतीपरिणयौपयिकीं मङ्गलस्रजं वासवदत्तया (आवन्तिकया) निर्मापयितु-

---

(घूम कर) हाय ? अनर्थ (गजब) हुआ । आर्यपुत्र भी भला पराये होगये अच्छा, बैठूँ । (बैठ कर) चकई धन्य है, जो एक दूसरे (चकवा) से बिछुड़ते ही जीती नहीं रहती । मैं तो प्राणों को नहीं छोड़ती । मैं अभागिन पति को फिर देखूँगी इस इच्छा से जीती जागती हूँ ।

[ततः प्रविशति पुष्पाणि गृहीत्वा चेटी ।]

चेटी—(क) कहिं णु खु गदा अय्या आवन्तिआ ? [परिक्रम्यावलोक्य] अम्मो ! इअं चिन्तासुण्णहिअआ णीहारपडिहदचन्दलेहा विअ अमण्डिदभद्दअं वेसं धारअन्दी पिअङ्गुसिलापट्टए उवविट्ठा ।

(क) क्व नु खलु गता आर्यावन्तिका ? अम्मो ! इयं चिन्ताशून्यहृदया नीहारप्रतिहतचन्द्रलेखेवामण्डितभद्रकं वेषं धारयन्ती प्रियङ्गुशिलापट्टके उपविष्टा । यावदुपसर्पामि । आर्ये ! आवन्तिके !

मीहमानायाश्चिरं तन्मार्गणं कुर्वत्या गृहीतपुष्पायाश्चेट्याः प्रवेशमाह—**ततः प्रविशतीति** ।

वासवदत्तान्वेषणपरायणायाश्चेट्या मानसिकं वितर्कमाह—**कहिं णु** इति । आवन्तिका अवन्त्यां भवेत्यर्थः । 'तत्र भवः' इत्यधिकारे 'काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ' इत्यनेन काश्यादेराकृतिगणत्वकल्पनया ञिठप्रत्ययः, तस्येकादेशे स्त्रीत्वाट्टाप् । पूज्या आवन्तिका साम्प्रतं क्वास्तीति चेट्या वितर्कः । परिक्रम्यावलोक्य, किञ्चिद् गत्वा प्रमदवनस्थां तां दृष्ट्वाह—**अम्मो** इति । विस्मयानन्दसूचकमव्ययमिदम् । तां सचिन्तावस्थां दृष्ट्वा विस्मयस्तत्प्राप्त्या च हर्षः । चिन्ताशून्यहृदया, चिन्तया प्रियचिन्तनेन हेतुना शून्यं ज्ञानशून्यं किङ्कर्तव्यमूढं हृदयं मनो यस्यास्तादृशी, नीहारप्रतिहतचन्द्रलेखा, नीहारेण हिमेन प्रतिहता ताडिता आवृता या चन्द्रलेखा चन्द्रकला तादृशी, अमण्डितभद्रकम् अलङ्कारहीनमपि सुन्दरम् , भद्रकमिति स्वार्थे कः, स्वभावसुन्दरमिति यावत् , वेषं स्वरूपं धारयन्ती बिभ्राणा । उभयत्रोपमानोपमेययोरिदं विशेषणं योज्यम् । प्रियङ्गुशिलापट्टके, प्रियङ्गोः फलिनीवृक्षस्य तत्सम्बन्धिनि तदधःस्थे तत्समीपस्थे वा शिलापट्टके विशालपाषाणखण्डे, उपविष्टा स्थिता, वर्तत इति शेषः । सेयमावन्तिका विचारमग्ना तुहिनच्छन्नेन्दुकलेव स्वाभाविकं सौन्दर्यं वहन्ती फलिनीवृक्षसम्बन्धिनि विशालपाषाणखण्डे स्थिता दृश्यत इति

(दासी फूलों को लेकर आती है ।)

दासी—आर्या अवन्ति—देशवाली कहाँ भला चली गईं ? (घूमकर और देखकर) अहो ! ये तो मारे चिन्ता के अपने आपको भी भूलकर कुहरे के पड़ने से चन्द्रमा की कला की भाँति फीकी मालूम पड़ती हुई प्रियंगुलता के नीचे पत्थर की चौकी पर बिना बनाये ही सुन्दर मालूम होनेवाले वेश को धारण किये हुए बैठी हैं । अच्छा, पास जाऊँ । (पास

जाव उवसप्पामि । [उपसृत्य] अय्ये ! आवन्तिए ! को कालो, तुमं अण्णेसामि ।

वासवदत्ता—(क) किण्णिमित्तं ?

चेटी—(ख) अह्माअं भट्टिणी भणादि–महाकुलप्पसूदा सिणिद्धा णिउणा त्ति इमं दाव कोदुअमालिअं गुह्मदु अय्या ।

कः कालः, त्वामन्विष्यामि ।

(क) किन्निमित्तम् ?

(ख) अस्माकं भट्टिनी भणति–महाकुलप्रसूता स्निग्धा निपुणेति इमां तावत् कौतुकमालिकां गुम्फत्वार्या ।

भावः । यावदुपसर्पामि तत्समीपं गच्छामि । उपसृत्य समीपं गत्वा, वदतीति शेषः । किं तदित्याह—**अय्ये** इति । कः कालः कियान् समयोऽतिक्रान्तः, त्वामन्विष्यामि त्वदन्वेषणं करोमि । बहोः कालादन्विष्यन्ती साम्प्रतमत्र त्वां प्राप्तवत्यस्मि । अथवा सुचिरात्ते वार्ता कापि नाधिगता, दैवयोगादधुना दर्शनं जातमिति भावः ।

चेटीवचनेऽस्मिन् वासवदत्तायाः प्रश्नः—**किण्णिमित्तं** इति । ममान्वेषणस्य किं प्रयोजनम् ? केन कारणेनाहं स्मृतास्मि ?

चेट्युत्तरयति—**अह्माअं इति** । भट्टिनी अनभिषिक्ता स्वामिनी, दर्शकस्य पत्नीति यावत् । 'देवी कृताभिषेकायामितरासु तु भट्टिनी' इत्यमरः, भणति कथयति । अस्मत्स्वामिन्या उक्तिरियं वक्ष्यमाणेत्यर्थः । अत्रास्मत्पदप्रयोगश्चेट्याः स्वामिन्यां भक्तिविशेषप्रदर्शनार्थः । तामेवोक्तिमाह—**महाकुलेत्यादि** । महाकुलप्रसूता महति कुले प्रसूता उच्चे वंशे गृहीतजन्मा कुलीनेति यावत्, स्निग्धा स्नेहयुक्ता, निपुणा तत्कार्यकुशला । आर्याया आवन्तिकाया (वासवदत्ताया) विशेषणानीमानि तत्कर्तृकमालाग्रथनयोग्यताभिप्रायगर्भाणि । इति इत्युक्तविशेषणविशिष्टतया तद्योग्या, आर्या तत्रभवती, इमां हृदयस्थां भाविनीम्, तावदिति वाक्या-

---

जाकर) आर्ये आवन्तिके ? कितना समय बीता, मैं आपको ढूँढ़ रही हूँ ।

वासव०—किसलिये ?

दासी—हमारी मालकिन कहती है—आप बड़े कुल में उत्पन्न हुई हैं, स्नेह रखती हैं और चतुर भी हैं, इसलिये आप इस सोहाग की माला को गूँथ दें ।

वासवदत्ता—(क) अह कस्स किल गुह्मिदव्वं ?

चेटी—(ख) अह्माअं भट्टिदारिआए ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ग) एदं पि मए कत्तव्वं आसी। अहो ! अकरुणा खु इस्सरा ।

(क) अथ कस्मै किल गुम्फितव्यम् ?

(ख) अस्माकं भर्तृदारिकायै ।

(ग) एतदपि मया कर्तव्यमासीत् । अहो ! अकरुणाः खल्वीश्वराः ।

ऽलङ्कारे, कौतुकमालिकां सौभाग्यसूचिकां मङ्गलस्रजं, गुम्फतु ग्रथ्नातु । प्रार्थनायां लोट् । कुलीनया स्नेहशालिन्या कुशलया च भवत्या मङ्गलमालिका सम्यग् ग्रथितुं शक्येत्यतः सेयं ग्रथनीयेति तात्पर्यम् । चेट्यादीनां परिचारिकाणां स्वामिन्यपि सा सन्निधौ स्थापितामर्थिभगिनीमावन्तिकां सगौरवमेव पश्यतीति तद्वचने साधारणतया 'भणती'ति प्रयुक्तं न तावदुपदिशतीति ।

ततः पृच्छति वासवदत्ता—**अहेति** । अथशब्दः प्रश्नार्थः । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इति कोषः । किलेति वाक्यसौन्दर्ये । गुम्फितव्यम् । ग्रथनीयम् । सामान्ये नपुंसकत्वम् । कस्य कृते मालिकेयं ग्रथनीया मया ?

उत्तरं दत्ते चेटी-**अह्माअं** इति । भर्तृदारिकायै राजकुमार्यै पद्मावत्यै । तादर्थ्ये चतुर्थी । अस्मदीयपद्मावत्यर्थं कौतुकमालिकामिमां ग्रथ्नातु भवतीत्यर्थः । अस्माकमिति पदं पूर्ववदात्मनो भक्तिविशेषं द्योतयितुं पद्मावत्यां स्नेहबाहुल्यं वहन्तीं वासवदत्तामपि सङ्ग्रहीतुं प्रायुज्यत चतुरया चेट्या ।

श्रुत्वेदं वासवदत्ता मनसि कुरुते विचारम्—**आत्मगत**मित्यादिना । एतदपि पूर्वोक्तं मालाग्रथनमपि, मया मद्द्वारा, कर्तव्यम् सम्पादनीयमासीत् ? अहमेवास्मिन् नियुक्ता मालाग्रथनकर्मणि ? यत्र ममास्ति प्रणयः, स प्रियो भवति दैवादद्य पद्मावत्या इति तदौपयिकमिदं कार्यं कथं नाम कर्तुं पारणीयं मयेत्याशयः । अहो इति खेदे । अकरुणाः निर्दयाः, खलु निश्चयेन, ईश्वरा देवाः समर्था लोका वा । मया-

---

वासव०—किसके लिये गूँथी जाय ?

दासी—हमारी राजकुमारी के लिये ।

वासव०—(स्वगत) यह भी मेरे द्वारा करना था ? आह ! देवता या समर्थ लोग भी निश्चय ही निर्दयी हैं ।

चेटी—(क) अय्ये ! मा दाणिं अण्णं चिन्तिअ । एसो जामादुओ मणिभूमीए ह्णाअदि । सिग्घं दाव गुह्लदु अय्या ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ख) ण सक्कुणोमि अण्णं चिन्तेदुं । [प्रकाशम्] हला ! किं दिट्ठो जामादुओ ?

(क) आर्ये ! मेदानीमन्यच्चिन्तयित्वा । एष जामाता मणिभूम्यां स्नायति । शीघ्रं तावद् गुम्फत्वार्या ।

(ख) न शक्नोम्यन्यच्चिन्तयितुम् । हला ! किं दृष्टो जामाता ?

ऽनभिलषणीयमिदं वस्तु मत्करेण सम्पादयितुं समर्था देवास्तदधिकारिणो नरा वा मयि नूनं निर्दयतां दर्शयन्ति, समर्थानां कृते किमशक्यम् ? सर्वं ते कर्तुमर्हन्तीति भावः ।

आवन्तिकां किमप्यन्तश्चिन्तयन्तीमभिलक्ष्य चेटी ब्रूते—अय्ये इति । इदानीं समुपस्थितेऽस्मिन् विवाहावसरे अन्यत् मा चिन्तयित्वा विषयान्तरं न विचारणीयम् । मङ्गलकार्यावसरे विचारान्तरमकृत्वा तदेव शीघ्रं निष्पादनीयमिदानीं भवत्येयर्थः । 'मा चिन्तयित्वा' इत्यत्र मायोगे त्वाप्रत्ययस्तु 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति सूत्रे अलंखल्वोरुपलक्षणार्थकत्वकल्पनया कथञ्चित्साध्यः । वस्तुतस्तु महाकवयः कुत्रचित्किमपि यथेच्छं प्रयुञ्जानाः प्रयोगविषये स्वतन्त्रतात्मनः ख्यापयन्तो निरङ्कुशत्वं स्वकीयं व्यञ्जयन्तितमाम् । एष समीपस्थः, जामाता वरः, मणिभूमौ मणिमयगृहे मणिमयवेदिकायां वा, स्नायति स्नानं करोति, 'ष्णै शौचे' इति भौवादिकस्येदं रूपम् । तावद्वाक्यालङ्कारे । विचारान्तरानुष्ठानस्य नायं समयः । मङ्गलस्नानमाचरत्यधुना जामाता । स्नानानन्तरमेव हि मङ्गलमालिका धारणीया वरेण । अतः सत्वरमेव सा ग्रथ्यतां भवत्येति तात्पर्यार्थः ।

आत्मगतमित्यादिना 'दुर्दैवादवसराभावाच्चेदानीं विचारान्तरं कर्तुं न पारयाम्यहं तपस्विनी'त्यात्मनि गूढार्थं विचार्य पुनः स्वभर्तृविषयकं वृत्तं श्रोतुमुत्कण्ठमाना प्रकटार्थं ब्रूते वासवदत्ता—**हलेति** । चेट्या समं विस्रम्भालापं कर्तुकामया प्रियप्रवृत्ति जिज्ञासमानया वासवदत्तया चेटीयं सखीबुद्ध्या हलेति सम्बोध्यते । किं इति । अपि नाम जामातुर्दर्शनं ते जातम् ?

दासी—आर्ये ! इस समय दूसरा न सोचें, ये दामाद मणिमय चौका पर नहा रहे हैं । इसलिये आप जल्दी गूँथ दें ।

वासव०—(स्वगत) दूसरा नहीं सोच सकती हूँ । (प्रकाश) अरी ! क्या दामाद को देखा ?

चेटी—(क) आम, दिट्ठो भट्टिदारिआए सिणेहेण अह्माअं कोदूहलेण अ ।

वासवदत्ता—(ख) कीदिसो जामादुओ ?

चेटी—(ग) अय्ये ! भणामि दाव, ण ईरिसो दिट्ठपुरुओ ।

वासवदत्ता—(घ) हला ! भणाहि भणाहि, किं दंसणीओ ?

(क) आम्, दृष्टो भर्तृदारिकायाः स्नेहेनास्माकं कौतूहलेन च ।
(ख) कीदृशो जामाता ?
(ग) आर्ये ! भणामि तावद्, नेदृशो दृष्टपूर्वः ।
(घ) हला ! भण भण, किं दर्शनीयः ?

आमेति । आमेत्यव्ययं स्वीकृतौ । अन्यत्किम् ? राजकुमार्याः पद्मावत्याः स्नेहादस्मदीयकौतूहलाच्च जामातुर्दर्शनसौभाग्यं लब्धं मयेति चेट्युक्तिः । तद्दर्शने राजकुमार्यामस्माकं स्नेहोऽस्मदीयतद्दर्शनोत्कटाभिलाषश्चेत्युभयं कारणमित्यर्थः ।

प्रियतमस्वरूपं पूर्णं जानत्यपि चेटीमुखेन तद्वर्णनं श्रोतुमिच्छन्त्युत्कण्ठातिशयेन चेटीं तत्स्वरूपं पृच्छति वासवदत्ता—**कीदिसो** इति । सुरूपः कुरूपो वा सः ? कथय, तत्स्वरूपं कीदृशम् ?

आवन्तिकाकुतूहलोद्वर्धनायोभयथापि सङ्गच्छमानमस्पष्टमाचष्टे चेटी-**अय्ये** इति । अत्र वाक्यार्थः कर्म, तावच्छब्दो वाक्यालङ्कारे । दृष्टपूर्वः पूर्वं दृष्टः, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । कथयाम्यहम्, एतज्जामातृसदृशः पुरुषो न कुत्रापि पूर्वं दृष्टोऽभूत् । अपूर्वदर्शनः स नूनं जामाता वर्तत इत्यभिप्रायः ।

औत्सुक्यमात्मनो दर्शयन्ती ततोऽभिधत्ते वासवदत्ता—**हलेति** । 'भण भण' इति श्रवणत्वरया द्विरुक्तिः । दर्शनीयः द्रष्टुं योग्यं, अर्थात्सुरूपः ? गूढमुक्तं त्वया । सुरूपः स कुरूपो वेत्यत्र न किमपि ते स्फुटीकरोति वचनम् । स्फुटं कथय शीघ्रम्, स किं सुन्दरः ?

दासी—हाँ, राजकुमारी के स्नेह और अपने कौतुक से देखा ।
वासव०—दामाद कैसे हैं ?
दासी—आर्ये ! कहती हूँ कि ऐसे दामाद कभी पहिले देखे ही नहीं ।
वासव०—अरी ! कहो कहो, क्या सुन्दर हैं ?

चेटी—(क) सक्कं भणिदुं सरचावहीणो कामदेवो त्ति ।

वासवदत्ता—(ख) होदु एत्तअं ।

चेटी—(ग) किण्णिमित्तं वारेसि ?

वासवदत्ता—(घ) अजुत्तं परपुरुससङ्कित्तणं सोदुम् ।

(क) शक्यं भणितुं शरचापहीनः कामदेव इति ।
(ख) भवत्वेतावत् ।
(ग) किन्निमित्तं वारयसि ?
(घ) अयुक्तं परपुरुषसङ्कीर्तनं श्रोतुम् ।

आवन्तिकाप्रश्ने चेट्युत्तरं ददाति—**सक्कं** इति । जामाता पूर्वतोऽनुवर्तते । स किल जामाता पुष्पमयाभ्यां वाणकार्मुकाभ्यां विरहितः साक्षात्कामदेव इति कथयितुं शक्यते । कामदेवः किल वाणकार्मुकाभ्भां समन्वितः श्रयते, अयन्तु ताभ्यां विहीनोऽपि सौन्दर्यातिरेकात्तथात्वेनोपलक्ष्यत इति भावः । स्वरूपेणावतीर्णः कामो वाणकार्मुकौ धत्ते, एतद्रूपेणावतीर्णस्तु न तथेति तात्पर्यम् । भेदेऽपि न्यूनताद्रूप्यरूपकालङ्कृतिरत्र ।

चेट्या वचनमिदं निशम्य प्रियतमस्वरूपं मूर्तमिव पश्यन्ती वियोगविकला तदुद्दीपकमधिकं श्रोतुमनिच्छन्ती प्रियप्रेम्णात्मानं विस्मृत्य वासवदत्ता ब्रूते—**होदु** इति । भवतु अलमिति यावत्, एतावत् इयत्, वर्णनमिति शेषः । पर्याप्तमियत् तत्स्वरूपवर्णनम्, नेतोऽधिकं किमपि वर्णय ।

इत्थं निषेधन्तीमावन्तिकां पृच्छति चेटी—**किण्णिमित्तं** इति । किं निमित्तं यस्यां वारणक्रियायामिति किन्निमित्तम् । क्रियाविशेषणमिदम् । जामातृविषयकं वर्णनं कुर्वतीं मां किमर्थं निषेधसि ? किं तात्पर्यं तन्निवारणस्य ते ?

रभसादुक्तचरमात्मनोऽवस्थाविचारेण समर्थयन्ती चेट्या वचनमुत्तरयति वासवदत्ता—**अजुत्तं** इति । सङ्कीर्तनम् वर्णनम् । परपुरुषवर्णनं पतिव्रताभिर्नाकर्ण-

---

दासी—विना धनुष और बाण के कामदेव हैं—ऐसा कहा जा सकता है ।
वासव०—इतना ही बस ।
दासी—क्यों मना करती हैं ?
वासव०—पराये पुरुष का वर्णन सुनना ठीक नहीं ।

चेटी—(क) तेण हि गुह्मदु अय्या सिग्घं ।

वासवदत्ता—(ख) इअं गुह्मामि । आणेहि दाव ।

चेटी—(ग) गह्णदु अय्या ।

वासवदत्ता—[वर्जयित्वा विलोक्य] (घ) इमं दाव ओसहं किं णाम ?

(क) तेन हि गुम्फत्वार्या शीघ्रम् ।

(ख) इयं गुम्फामि । आनय तावत् ।

(ग) गृह्णात्वार्या ।

(घ) इदं तावदौषधं किं नाम ?

नीयमित्यतो यावच्छ्रुतं तावदेव पर्याप्तम्, नाधिकमन्यदहं किमपि श्रोतुमीहे । अत एव त्वां निवारयामि । नान्यथा किमपि सम्भावयेति भावः ।

तेण होति । तेन हि नूनं तेन कारणेन, एवं चेत्तर्हीत्यर्थः । मालिकारूपं कर्म पूर्वतोऽनुस्तृतम् । यद्येवं तर्हि बाढम्, न वदिष्यामि । मङ्गलमालिका परं भवत्या सत्वरं गुम्फनीयेत्येवं किल वदिष्याम्येवेत्यभिप्रायश्चेटीवचनस्य ।

तत्कार्यं कर्तुमुद्यता वासवदत्ताह—**इअमिति** । 'इयं गुम्फामी'त्यनेन गुम्फितुमहमुद्यतास्मीति सूचितम् । 'आनये'त्यानयनक्रियायाः कर्म च पुष्पाद्युपकरणरूपं प्रसङ्गानुरोधाद्गम्यम् । तावत्पदं वाक्यमलङ्करोति । एषाहं मङ्गलस्रजं गुम्फितुमुद्यतास्मि । आनीयतां तदर्थं त्वया पुष्पाद्युपकरणमित्यर्थः ।

इत्थं पुष्पाद्यानयने नियुक्ता चेटी पुष्पादिसामग्रीमुपनयन्ती ब्रवीत्यावन्तिकाम्—**गह्णदु** इति । पुष्पादिसामग्रीयं गृह्यतां भवत्येत्यर्थः । गृह्णातु इत्युक्त्या तत्समर्पणमार्थम् ।

चेट्या दत्तेषु पुष्पेषु पुष्पातिरिक्तं किमपि वस्तु पश्यन्ती पृच्छति चेटीमावन्तिका—**वर्जयित्वेत्यादि** । अत्रापि पुष्पोपकरणग्रहणं वासवदत्ताकर्तृकमर्थाद्

दासी—ऐसा है, तो आप जल्दी गूँथें ।

वासव०—अच्छा, गूँथती हूँ । लाओ तो सही ।

दासी—आप लें ।

वासव०—(कुछ हटाकर और देखकर) यह औषधि कौन सी है ?

चेटी—(क) अविहवाकरणं णाम ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ख) इदं बहुसो गुम्हिदव्वं मम अ पदुमावदीए अ । [प्रकाशम्] इमं दाव ओसहं किं णाम ?

(क) अविधवाकरणं नाम ।

(ख) इदं बहुशो गुम्फितव्यं मह्यं च पद्मावत्यै च । इदं तावदौषधं किं नाम ?

गम्यम् । वर्जयित्वा पृथक् कृत्वा अर्थात्पुष्पातिरिक्तं वस्तु । विलोक्य तन्निरीक्ष्य । **इमं दाव** इति । तावन्नामपदे वाक्यालङ्कारौ । पुष्पेषु निवेशितः कोऽयमोषधिविशेष इति वाक्यार्थः । अत्र केचन 'वर्जयित्वे'त्येतस्य 'पुष्पभाजनात्पुष्पाणि बहिर्निःसार्ये'त्यर्थं कुर्वन्ति । अत्र किल वर्जनं विलोकनं च तस्यैवास्ति वस्तुनः, यस्य विषयेऽग्रिमः प्रश्नः । एवं सति कैश्चित्प्रदर्शितोऽर्थः स कथं नाम सङ्गतो भवेदिति विज्ञैरेव निरूपणीयम् ।

आवन्तिकाप्रश्नेऽस्मिन्नुत्तरमाह चेटी—**अविहवाकरणं णामेति** । नामशब्दः प्रसिद्धौ । अविधवाकरणम्, न विधवा अविधवेति नञ्समासः, ततः अविधवा क्रियतेऽनेनेति करणे ल्युट् । औषधमिदं स्त्रीणां सौभाग्यं सम्पादयतीति प्रसिद्धिः । अतः सौभाग्यसम्पादनमिदं गुम्फनीयमत्रेत्यर्थः । आत्मनः सौभाग्यरक्षायै पत्युः प्रीतेः सम्पादनाय च मङ्गलमाल्ये वनस्पत्यादिकं किमपि गुम्फनीयमिति स्त्रीणामाचारः ।

ईदृशोपयोगिनस्तस्य वस्तुनो गुम्फनं चित्ते प्रशंसन्त्यावन्तिकाह—**आत्मगतमिति** । बहुशः अवश्यमित्यर्थः । मह्यम् आत्मार्थम् । यत इदं वस्तु सौभाग्यसम्पत्त्या आवश्यकम्, ततः स्वार्थं पद्मावत्यर्थं च मयैतद्गुम्फनमवश्यं करणीयमत्रेति तात्पर्यम् । सौभाग्यमूलकस्य प्रियतमजीवनस्य तावदात्मनोऽप्यभीष्टतया तद्गुम्फनावश्यकत्वोक्तिरुचिता वासवदत्तायाः । मानसमिदं विचार्य तद् गुम्फित्वा तादृशं वस्त्वन्तरं च दृष्ट्वा प्रकटरूपेण पुनस्तद्विषये 'किमिदमौषध'मिति पुनः पृच्छति वासवदत्ता—**इमं दाव** इति । प्रागुक्तोऽर्थः ।

दासी—यह सोहाग बढ़ानेवाली है ।

वासव०—(मन में) मेरे और पद्मावती के लिये यह अवश्य गूँथनी चाहिये । (प्रकाश) यह दूसरी कौन सी औषधि है ?

चेटी—(क) सवत्तिमद्दणं णाम ।

वासवदत्ता—(ख) इदं ण गुह्मिदव्वं ।

चेटी—(ग) कीस ?

वासवदत्ता—(घ) उवरदा तस्य भय्या, तं णिप्पओअणं त्ति ।

(क) सपत्नीमर्दनं नाम ।
(ख) इदं न गुम्फितव्यम् ।
(ग) कस्मात् ?
(घ) उपरता तस्य भार्या, तन्निष्प्रयोजनमिति ।

उत्तरं चेट्याः—**सवत्तिमद्दणं** इति । अत्रापि नामशब्दः प्रसिद्ध्यर्थः । सपत्नीमर्दनम्, सपत्नी मर्द्यतेऽनेनेति पूर्ववत्करणे ल्युट् । औषधमिदं सपत्नीं मर्दयति । सपत्नीमदमर्दनेऽस्मिन्नौषधे सन्निवेशिते सति तद्धारयित्र्याः सम्भविष्यन्नपि सपत्नीद्वेषः किमपि कर्तुं न प्रभवतीत्याशयः ।

पद्मावतीसपत्नीभविष्यन्त्या ममैतेन वस्तुना मर्दनं भविष्यतीति तद्गुम्फनं सहसा निषेधति वासवदत्ता—**इदं णेति** । सपत्नीमदमर्दनमिदमौषधं नात्र मया गुम्फितुं युज्यते ।

तदनन्तरं चेट्याः प्रश्नः—**कीस** इति । कस्मात्कारणादिदम् ? एतस्याऽगुम्फने किं कारणम् ?

सहसोक्तेनैतेन वचसाऽऽत्मनः स्वरूपं प्रकटीकृतमिवाभिलक्ष्य पुनः स्वोक्तिं समर्थयन्त्या वासवदत्ताया उत्तरम्—**उवरदेति** । उपरता मृता, तस्य उदयनस्य राज्ञः, भार्या वासवदत्ता, तदिति हेत्वर्थमव्ययम्, निर्गतं प्रयोजनं यस्मात्तन्निष्प्रयोजनमिति बहुव्रीहिः । इदमौषधं कर्तृ पूर्वतोऽनुवृत्तम् । उदयनभूपतेः पत्न्या वासवदत्ताया मृत्युः सञ्जात इति सपत्न्या अभावादस्यौषधस्यात्र गुम्फने प्रयोजनं किमपि नास्तीति शब्दार्थः । 'वासवदत्ताग्नौ दग्धे'ति प्रथमाङ्ककथा-

---

दासी—सौत के मद को चूर करनेवाली ।
वासव०—यह न गूँथी जायगी ।
दासी—क्यों ?
वासव०—उनकी स्त्री मर गई, इसलिये यह व्यर्थ है ।

[प्रविश्यापरा]

चेटी—(क) तुवरदु तुवरदु अय्या। एसो जामादुओ अविहवाहि अब्भन्तरचउस्सालं पवेसीअदि।

वासवदत्ता—(ख) अइ ! वदामि, गह्ण एदं।

(क) त्वरतां त्वरतामार्या। एष जामाता अविधवाभिरभ्यन्तरचतुश्शालं प्रवेश्यते।

(ख) अयि ! वदामि, गृहाणैतत्।

सम्वद्धां कार्यविशेषसम्भावितां लोकप्रसिद्धिमनुसृत्योक्तिरियं वासवदत्तायाः। एतदौषधस्याऽगुम्फने वासवदत्ताया मानसं तात्पर्यं त्वेतदेव-यदिदमौषधमत्र गुम्फितं मां मर्दयेत्, तेनाहं हतप्रभा भवेयम्।

मङ्गलस्रङ्निष्पत्तये गतां प्रथमां चेटीं विलम्बं कुर्वतीं विचार्य तां त्वरयितुं द्वितीयस्याश्चेट्याः प्रवेशमाह—**प्रविश्यापरेति**।

तदुक्तिमाह—**तुवरदु** इति। 'त्वरतां त्वरताम्' इति भृशार्थे द्विरुक्तिः। आर्यया भवत्या विवाहमङ्गलस्रजो गुम्फनेऽत्यन्तं शीघ्रता कर्तव्या। कथमिति चेदाह—**एसो** इति। अविधवाभिः सौभाग्यवतीभिः, अभ्यन्तरचतुःशालम्, अभ्यन्तरेऽन्तःपुरे चतुःशालम्, अन्तःपुरस्थं विवाहगृहमिति यावत्। सुवासिन्यो जामातरमेनं विवाहगृहं प्रवेशयन्ति। अस्याः स्रजः साम्प्रतमेवावश्यकता वर्तते। अत एषा सत्वरमेव पूर्यतामिति भावः।

त्वरमाणाया द्वितीयचेट्या वचनमिदं निशम्य स्रग्गुम्फनं पूरितवत्या वासवदत्ताया उक्तिरियम्-**अइ** इति। अयीति कोमलामन्त्रणे, द्वितीयचेट्याः सम्बोधनमिदम्। वदामि कथयामि, ग्रहीतुमिति शेषः। एतदिति सामान्ये नपुंसकम्, कौतुकस्रजमित्यर्थः। कथयाम्यहं ग्रहीतुमिमाम्, गृह्यतामियं स्रक्। मत्कार्यं पूर्णम्, मत्कर्तृको विलम्बो नास्तीत्यर्थः। एतदनन्तरं चेटीहस्ते तस्याः स्रजः समर्पणं 'वासवदत्ताकर्तृकमर्थाद् गम्यम्।

(दूसरी दासी का आना।)

दू०दासी—जल्दी करें, जल्दी। ये दामाद सुहागिनों द्वारा कोहबर में लाये जा रहे हैं।

वासव०—अरी ! कहती हूँ कि यह ले।

चेटी—(क) सोहणं। अय्ये ! गच्छामि दाव अहं।

[उभे निष्क्रान्ते।]

वासवदत्ता—(ख) गदा एसा। अहो ! अच्चाहिदं। अय्यउत्तो वि णाम परकेरओ संवुत्तो। अविदा ! सय्याए मम दुक्खं विणोदेमि, जदि णिद्दं लभामि।

(क) शोभनम्। आर्ये ! गच्छामि तावदहम्।

(ख) गतैषा। अहो ! अत्याहितम्। आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः। अविदा ! शय्यायां मम दुःखं विनोदयामि, यदि निद्रां लभे।

तां मङ्गलस्रजं गृहीत्वा तत्सुन्दरतां प्रशंसन्ती ततो जिगमिषन्ती द्वितीयचेट्याह—**सोहणं** इति। गुम्फनं मङ्गलस्रजं वोद्दिश्य सामान्यतः 'शोभन'मिति नपुंसकपदप्रयोगः। तावदिति वाक्यसौन्दर्ये। सुन्दरमिदम्, भवत्या गुम्फितेयं स्रङ् मनोहारिणी। साम्प्रतं गम्यते मया। इत्युक्त्वा प्रथमया चेट्या सह निर्गता।

'उभे निष्क्रान्ते' इत्यनेन द्वयोश्चेट्योर्निर्गमनं सूचितम्। वासवदत्तायास्तु प्रच्छन्नरूपायास्तत्र विवाहोत्सवे जनसंमर्दे गन्तुमनौचित्यात्तन्नोक्तम्।

द्वयोश्चेट्योर्गमनानन्तरं वासवदत्ता मनसा समं भाषते—**गदा** इति। एषा चेटी अथवा माला। 'अहो ! अत्याहितम्, आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः' इत्यस्यार्थः प्रागुक्तः। 'अविदा' इति विषादसूचकमव्ययम्। मम, स्वीयमित्यर्थः। 'विनोदयामि लभे' इति वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लटौ। विनोदनं दूरीकरणम्। 'विवाहमङ्गलस्रजं गृहीत्वा चेटी गतवती। अधुना पद्मावत्या विवाहो भविष्यति। हन्त ! कष्टम्, आर्यपुत्रो मयि प्रीतिमानपि साम्प्रतं पद्मावतीप्रियः सञ्जातः। कथं नाम कष्टमिदं सहिष्ये ? शय्यामधिशय्य स्वकीयं कष्टमिदमपनेष्यामि, यदि दैवा-

---

दासी—आर्ये ! यह तो बहुत सुन्दर गूँथी गयी। अब मैं जाती हूँ।

(दोनों दासियां चली गईं।)

वासव०—यह गई। क्या ही अनर्थ है। आर्यपुत्र (पति) भी पराये हुए। हाय !

[निष्क्रान्ता ।]

तृतीयोऽङ्कः ।

अथ चतुर्थोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति विदूषकः ।]

विदूषकः—[सहर्षम्] (क) भो ! दिट्ठिआ तत्तहोदो वच्छ-

(क) भोः ! दिष्ट्या तत्रभवतो वत्सराजस्याभिप्रेतविवाहमङ्गलरम-

न्निद्रामधिगमिष्यामि । दुःखापहन्त्री निद्रैव मे शरणम् । परन्तु मन्ये सापि मत्कृते दुर्लभा' इति प्रलपन्ती वासवदत्ता निर्गता ।

पूर्वोक्तं चिन्तयन्त्या वासवदत्ताया निर्गमनमाह—**निष्क्रान्ता** इति ।

अङ्कसमाप्तिं दर्शयति—**तृतीयोऽङ्क** इति ।

इति श्रीस्वप्नवासवदत्तव्याख्यायां प्रबोधिन्यां तृतीयोऽङ्कः ।

चतुर्थाङ्कप्रारम्भं प्रतिजानीते—**अथ चतुर्थोऽङ्क** इति ।

तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्योदयनस्य पद्मावतीविवाहसम्बन्धान्तरनिष्पत्तिं सूचयित्वा चतुर्थेऽस्मिन्नङ्के परस्परं तयो रतिभावपरिपोषं वासवदत्ताविषयकं प्रणयमप्यनुस्यूतमुदयनस्य दर्शयिष्यंस्तदनुरूपां संवादभङ्गीं घटयितुं सपरिवारपद्मावत्युदयनप्रवेशं च सूचयितुमङ्कारम्भे विदूषकचेटीप्रयोक्ष्यमाणप्रवेशकमुखेन पूर्वं विदूषकस्य प्रवेशं दर्शयति कविः—**ततः प्रविशतीति ।**

विदूषको हि विचित्रवाग् वसन्तादिपदव्यपदेश्यो हास्यरसप्रधानः पात्रविशेषः । अयं च भोजनप्रियो ब्राह्मणो राज्ञः सुहृत्त्वेनैव सर्वत्र नाटकेषूपवर्ण्यते । तथा च तल्लक्षणं **दर्पणे**—'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः । हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः' । निष्पन्ने च राज्ञो विवाहमङ्गले तत्सुहृदो विदूषकस्यास्य हर्षो युज्यते । तमेव साम्प्रतमदसीयं मानसोद्गारमाह—**भो** इति ।

यदि नींद आजाती तो सेज (पलंग) पर मेरा दुख दूर हो जाता ।

(जाती है ।)

तीसरा अङ्क समाप्त

(तब विदूषक आता है ।)

विदू०—(हर्ष से) अजी महीराज उदयन के मनचाहे मङ्गलमय विवाह का शुभ समय

राअस्स अभिप्पेदविवाहमङ्गलरमणिज्जो कालो दिट्ठो। भो! को णाम एदं जाणादि—तादिसे वयं अणत्थसलिलावत्ते पक्खित्ता उण

णीयः कालो दृष्टः। भो! को नामैतज्जानाति—तादृशे वयमनर्थसलिला-

दिष्ट्या दैवेन, तत्रभवतो मान्यस्य, राजत्वात्पूज्यत्वोक्तिरियम्, वत्स-राजस्योदयनस्य, इदं च पदमभिप्रेतपदेन सह सम्बध्यते। अभिप्रेतविवाहमङ्गल-रमणीयः, अभिप्रेतमभीष्टं यद् विवाहमङ्गलं पद्मावतीपरिग्रहमहोत्सवस्तेन रमणीयः सुन्दरः, कालः अतीतः समयः, दृष्टः साक्षात्कृतः, अस्माभिरिति शेषः। यत्र च सुहृदो राज्ञ उदयनस्याऽभिमतो विवाहोत्सवः समं पद्मावत्या संवृत्तः, स किल सुन्दरः समयोऽस्माकं पुरो विधिवशादिदानीमुपस्थितोऽभूदित्यर्थः। पुरुषप्रयत्ना-ऽसाध्यस्य मङ्गलकार्यस्यैतस्य संसिद्धौ नियतमतर्किताऽघटितघटनापटुतमं दैवमेव कारणं जातमिति भावः। तदेवास्य दैवघटितत्वं स्फुटीकरोति—**भो** इति। नामेति वाक्यालङ्कारे। एतद् वक्ष्यमाणम्, जानातीति भूतार्थे लट्। क एवं चिन्तितवानि-दम्? न कोऽपीत्यर्थः। किमिदमित्याह—**तादिसे** इति। तादृशे महत्तमेऽति-भयङ्करे, अनर्थसलिलावर्ते, अनर्थो राज्यापहारलक्षणं वत्सराजेनाऽनुभूयमानमनाहार-देहाऽसंस्कारादिलक्षणं च दुःखं स एव सलिलावर्तः अम्भोभ्रमः तत्र। आवर्तशब्दे-नैव सलिलभ्रमरूपार्थेऽवगते पुनरत्र प्रयुक्तः सलिलशब्दः स्पष्टार्थः। 'स्यादावर्तो-ऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। यत्र च मध्ये गर्तरूपे पतितो जनश्चक्राकारजलीयगतिवि-शेषाद्वाहितः परिभ्रमन्नन्तर्नीयमानोऽतिकष्टाद् वहिरुपैति, स तावज्जलान्तःस्थानवि-शेष आवर्तपदेनोच्यते। प्रक्षिप्ता निपातिताः, वयं राज्ञा समन्विताः सर्व एव राज-कीया इति यावत्, उन्मङ्क्ष्यामः ततो वहिर्भविष्यामः। 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिं-वृत्तेऽपि' इत्यनेन असम्भावनार्थायामनवक्लृप्तौ लृटः प्रयोगोऽयम्। अपहृतराज्येन वासवदत्तावियोगविकलेन राज्ञा तत्समसुखदुःखैरस्माभिश्च साक्षात्परम्परया वा यन्नाम तादृशं महत्कष्टमनुभूतं दैवबलात्तस्मादुन्मुक्ता वयं भूयः पद्मावतीपरिग्रहैक-हेतुकवर्णयिष्यमाणप्रासादवासादिसम्भवाऽनिर्वचनीयसुखविशेषानुभूतिभाजनं भवि-ष्याम इतीदं केन सम्भावितमासीत्? नियतमेतदचिन्तितोपनतं सर्वथेत्यर्थः।

हमलोगों को बड़े ही सौभाग्य से देखने को मिला। कहो जी, कौन भला यह जानता था कि हमलोग वैसे (भयानक राज्यापहरणरूप) अनर्थकारी चक्कर में गिराये हुए भी फिर बाहर

उम्मज्जिस्सामो त्ति । इदाणिं पासादेसु वसीअदि, अन्देउरदिग्घिआसु ह्लाईअदि, पकिदिमउरसुउमाराणि मोदअखज्जआणि खज्जीअन्ति त्ति अणच्छरसंवासो उत्तरकुरुवासो मए अणुभवीअदि । एक्को खु महन्तो

र्वर्ते प्रक्षिप्ताः पुनरुन्मङ्क्ष्याम इति । इदानीं प्रासादेषूष्यते, अन्तःपुरदीर्घिकासु स्नायते, प्रकृतिमधुरसुकुमाराणि मोदकखाद्यानि खाद्यन्त इत्यनप्सरस्संवास उत्तरकुरुवासो मयानुभूयते । एकः खलु महान् दोषः,

---

दैवमेवास्मान् कष्टमयीं तादृशीं दशामनुभाव्य पुनः प्रमदमयीं तामिदानीमारोपयामासेति भावार्थः । राज्ञा सममनुभूयमानं तदेव सुखं वर्णयति—**इदाणिम्** इति । प्रासादेषु राजभवनेषु, 'हर्म्यादि धनिनां वासः प्रासादो देवभूभुजाम्' इत्यमरः, उष्यते निवासः क्रियते, वसतेः कर्मणि यकि कित्त्वात्सम्प्रसारणम् । अन्तःपुरदीर्घिकासु, अन्तःपुरं स्त्रीणां निवासस्थानं तस्य दीर्घिकासु वापीषु, 'वापी तु दीर्घिका' इति कोषः, स्नायते स्नानं क्रियते । एतेनास्य राज्ञः सुहृदः सर्वत्राऽप्रतिहतगतित्वमतिविश्वासास्पदत्वं च व्यक्तीकृतम् । प्रकृतिमधुरसुकुमाराणि, प्रकृत्या स्वभावेन न तु कृत्या मधुराणि मिष्टानि सुकुमाराणि मृदुलानि च, स्वभावतो मिष्टैर्मृदुभिश्च पदार्थैर्निर्मितानीति यावत् । मृदुतया च चर्वण आयासो न भवतीति खाद्यपदार्थानां सौकुमार्यस्य वर्णनम् । मोदकखाद्यानि, मोदका लड्डुकादयस्तद्रूपाणि खाद्यानि भोज्यवस्तूनि, खाद्यन्ते भुज्यन्ते । इति अतो हेतोः, अनप्सरःसंवासः, नास्ति अप्सरसां स्वर्वेश्यानां संवासः सहवासो यत्रेत्येतादृशः, उत्तरकुरुवासः, उत्तराः कुरवो नाम काचिद् देवभूमिः तत्र वासोऽवस्थानम्, मयेति स्वात्मनो निर्देशः, अनुभूयतेऽनुभवगोचरीक्रियते । स्वर्गीयाणि सुखान्यत्रोपलभ्यन्ते मया । किन्तु स्वर्गेऽप्सरसो वसन्ति, अत्र च तासामभाव इत्येव ततो वैलक्षण्यमिति व्यतिरेकः । अहं किलास्मिन् समये प्रियसुहृद्वत्सराजीयनूतनविवाहमङ्गलमहिम्ना प्रासादवासान्तःपुरविहारमधुरभोजनोपचितप्रभूतदिव्यसुखसौभाग्यशाली नूनमिमां भूमिं स्वर्गमेव मन्ये किन्तु खिद्ये यदप्सरसामत्र साहचर्यं नास्तीत्यर्थः । एतादृक्सुखविशेषानुभवेऽप्यतिमात्रभोजनवशादात्मनो दुःखं दर्शयति **एक्को** इति । दोषो

निकल आवेगें । इस समय तो राजमहलों में रहते हैं, जनानखाने (अन्तःपुर) की बावड़ियों में नहाते हैं, स्वभावतः मीठा और मुलायम लड्डुवा आदि खाने की चीजों को खा रहे हैं, इससे यही जान पड़ता है कि हम स्वर्गसुख का अनुभव कर रहे हैं । केवल यहाँ अप्सराओं

दोसो, मम आहारो सुट्ठु ण परिणमदि, सुप्पच्छदणाए सय्याए णिद्दं ण लभामि। जह वादसोणिदं अभिदो विअ वत्तदि त्ति पेक्खामि! भो! सुहं णामअपरिभूदं अकल्लवत्तं च।

ममाहारः सुष्ठु न परिणमति, सुप्रच्छदनायां शय्यायां निद्रां न लभे। यथा वातशोणितमभित इव वर्तत इति पश्यामि। भोः! सुखं नामयपरिभूतमकल्यवर्तं च।

विकारः, समुत्पन्न इति शेषः सुष्ठु सम्यक्, परिणमति परिपाकं गच्छति। सुप्रच्छदनायाम्, अपीत्युपरिष्टाद्योजनीयमत्र, सु सुन्दरं कोमलं प्रच्छदनमास्तरणं यत्र तस्याम्। प्रकर्षेण छद्यत आस्तीर्यतेऽनेनेति प्रच्छदनम्, 'आधृषाद्वे'ति णिजभावपक्षे 'छदि अपवारणे' इत्यतः करणे ल्युट्। यथा येनेति यावत्, पूर्वोक्तेन हेतुनेत्यर्थः, वातशोणितम्, वातरक्तनामा रोगविशेष इति यावत्। यत्र हि वातरक्ते दूषिते सती अस्वप्नाहाराऽपरिपाकप्रभृतीन् विकारानुद्भावयतः, स खलु वातरक्ताख्यो निगद्यते रोगः। अभितः समन्तत इव, इवशब्दो वाक्यसौन्दर्ये, देहमभिव्याप्येत्यर्थः, वर्तते उपस्थितोऽस्ति। पश्यामि जानामि, दृशिरत्र ज्ञानार्थः। इह तावदेतर्हि मधुमनोहराऽऽहारसौभाग्यसमन्वितस्यापि गुरुतर एकोऽयं विकारः समुद्भूतो वर्तते, यत्किल—'जीर्णं न जायतेऽन्नं कोमलशयनेऽपि नैति निद्रा मे'। अतोऽहं मन्येऽधुना वातरक्तव्याधिना समाक्रान्तोऽस्मीति। ईदृशावस्थाविशेषस्य पुनर्दुःखात्मकत्वमेव द्रढयति—**भो** इति। आमयपरिभूतम्, आमयेन रोगेण परिभूतमाक्रान्तं संसृष्टमिति यावत्, अकल्यवर्तम्, कल्यवर्तः प्रातराशः 'कलेवा' इत्यपभ्रंशेन भाषायां प्रसिद्धं प्रातःकालिकं भोजनं, तन्नास्ति यत्रेत्येवम्भूतम्, एतादृशविशेषणद्वयविशिष्टं सुखं, न, सुखमिति शेषः। सुखमपि व्याधिसम्बन्धेन समन्वितमाहारपरिपाकाभावात्प्रातराशयोगविरहितं सत् सुखपदेन व्यवहार्यं नैव भवतीति भावः। युज्यते तावदजीर्णामयग्रस्तता यथेच्छमत्यधिकं भुञ्जानस्य भोजनभट्टस्य विदूषकस्यैषा।

का ही अभाव है। किन्तु एक बड़ा भारी दोष है कि मुझे खाना अच्छीतरह नहीं पचता और कोमल गद्दी की सेज पर नींद भी नहीं आती। मानों वातरक्त की बीमारी मुझ में चारो ओर से आ समाई है। जो रोग से आक्रान्त हो और जिसमें कलेवा (प्रातर्भोजन) न मिलता हो वह सुख, सुख नहीं माना जाता।

[ततः प्रविशति चेटी ।]

चेटी—(क) कहिं णु खु गदो अय्यवसन्तओ ? [परिक्रम्यावलोक्य] अह्मो ! एसो अय्यवसन्तओ । [उपगम्य] अय्य ! वसन्तअ ! को कालो, तुमं अण्णेसामि ।

विदूषकः—[दृष्ट्वा] (ख) किंणिमित्तं भद्दे ! मं अण्णेससि ?

(क) कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तकः ? अहो ! एष आर्यवसन्तकः। आर्य ! वसन्तक ! कः कालः, त्वामन्विष्यामि ।

(ख) किन्निमित्तं भद्रे ! मामन्विष्यसि ?

स्वामिन्या महाराजदर्शकपत्न्या आज्ञया नूतनजामातू राज्ञः प्रवृत्तिमधिगन्तुमिच्छन्त्यास्तदर्थं च राज्ञो मित्रं विदूषकमन्विष्यन्त्याः साम्प्रतं चेट्याः प्रवेशमनुरूपं दर्शयति कविः—**ततः प्रविशतीति ।**

विदूषकदर्शनोत्सुकतामात्मनः प्रकटीकरोति चेटी—**कहिं णु खु** इति । नु खलु इति वाक्यपूरणाय । वसन्तक इति विदूषकस्याभिधानम्, आर्येति तद्विशेषणं च पूजनीयजामातृमित्रस्य तस्यापि पूज्यत्वं द्योतयितुम् । श्रीमता विदूषकेण क्व गतं स्यात् ? कथं कुत्र वा तस्योपलब्धिर्भवेदिदानीम् ? तदन्वेषणार्थमितस्ततः परिभ्रम्य कुत्रचन स्थाने च तं दृष्ट्वा हर्षोक्तिं दर्शयति—**अह्मो** इति । अयमत्र मान्यो वसन्तको वर्तते । समीपं गत्वा ब्रूते—**अय्येति** । कः कालः कियान् समयः, व्यतीत इति शेषः । चिरादहं तत्र भवतोऽन्वेषणे लग्नास्मीत्यर्थः ।

आत्मानमन्विष्यन्तीं विलोक्य चेटीं तत्कारणं पृच्छति विदूषकः—**किंणिमित्तम्** इति । किं निमित्तमस्यां क्रियायामिति किन्निमित्तम्, क्रियाविशेषणमिदम् । 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याण'मिति कोषाद्भद्रशब्दः कल्याणवचनः, स चोपचारात्तद्वत्यपि प्रयुज्यते, विशेष्यानुसारेण चात्र स्त्रीत्वम् । 'भद्रमस्या' इत्यर्थे 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यनेनाऽर्शआदेराकृतिगणत्वेनाच्प्रत्यये वा स्त्रियां भद्राशब्दः सिध्यति ।

(तब दासी आती है ।)

दासी—आर्य वसन्तक (विदूषक) कहाँ गये ? (घूमकर) अच्छा माननीय वसन्तक ये हैं । (पास पहुँच कर) आर्य वसन्तक ! आपको ढूँढ़ते हुए मुझे कितनी देर हुई ।

विदू०—(देख कर) भद्रे ! मुझे क्यों खोज रही हो ?

चेटी—(क) अह्माणं भट्टिणी भणादि–अवि ह्लादो जामादुओ त्ति।

विदूषकः—(ख) किंणिमित्तं भोदि ! पुच्छदि।

चेटी—(ग) किमण्णं। सुमणोवण्णअं आणेमि त्ति।

(क) अस्माकं भट्टिनी भणति—अपि स्नातो जामातेति।

(ख) किन्निमित्तं भवति ! पृच्छति ?

(ग) किमन्यत्। सुमनोवर्णकमानयामीति।

तत्सम्बुद्धौ भद्रे इति। कल्याणशीले ! इति तदर्थः। अथवा भद्रे ! सभ्ये !, भद्रशब्दः सभ्यार्थः। अयि ! कथय, किमर्थमेतन्ममान्वेषणं ते ? किं वा मत्कार्यमिति वाक्यार्थः।

तदन्वेषणकारणमाह चेटी—**अह्माणं इति**। भट्टिनी अनभिषिक्ता राज्ञः स्वामिनी, महाराजदर्शकस्य पत्नीति यावत्, भणति पृच्छतीत्यर्थः। अपिशब्दः प्रश्नवचनः, अयं च वाक्यारम्भे प्रायः प्रयुज्यतेऽस्मिन्नर्थे। 'स्नात' इति गत्यर्थाकर्मके'त्यादिना कर्तरि क्तः, जामाता वत्सराज उदयनः। अस्मत्स्वामिन्या मन्मुखेन पृच्छयते, यत्किल जामातृ राज्ञः स्नानं जातं न वा ? इदं च त्वत्तो ज्ञातुं शक्यते, अतस्त्वामहमन्विष्यामीत्यर्थः। 'अस्माकं भट्टिनी'त्युक्त्या स्वामिन्यां गौरवभाव आत्मनः प्रकटीकृतश्चेट्या।

विदित्वापि निजान्वेषणकारणं चेट्याः पुनस्तत्कृतं जामातृस्नानप्रश्नमुद्दिश्य विदूषकः प्रश्नयति ताम्–**किण्णिमित्तम्** इति। भवति ! शोभने ! दीप्त्यर्थकाद् भाधातोर्डवतुप्रत्यये कृते स्त्रियां ङीपि सम्बुद्धौ रूपमिदम्। किन्निमित्तं किमर्थम्। अयि ! किं प्रयोजनमुद्दिश्य ते स्वामिन्या कृतोऽयं प्रश्नः।

उत्तरयति चेटी—**किमण्णम्** इति। अन्यत्किम्, वक्ष्यमाणमिदमेव निमित्तमित्यर्थः। सुमनसश्च वर्णकं चेत्यनयोः समाहारः सुमनोवर्णकम्, समाहारद्वन्द्वोऽयम्, तेनैव क्लीवत्वमेकत्वं च। 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इति कोषात् स्त्रियां बहुत्वे च प्रयुज्यमानः सुमनःशब्दः पुष्पमभिधत्ते। अत्र हि सुमनःशब्देन

दासी—हमारी स्वामिनी पूछती हैं कि क्या जामाता नहा चुके ?

विदू०—अरी ! (तुम्हारी मालकिन) क्यों पूछती है ?

दासी—दूसरा क्या ? चन्दन, फूल, माला आदि लाऊँ–इस लिये।

विदूषकः—(क)ह्लादो तत्तभवं। सव्वं आणेदु भोदी वज्जिअ भोअणं।
चेटी—(ख) किणिमित्तं वारेसि भोअणं ?
विदूषकः—(ग) अधण्णस्स मम कोइलाणं अक्खिपरिवट्टो विअ

(क) स्नातस्तत्रभवान्। सर्वमानयतु भवती वर्जयित्वा भोजनम्।
(ख) किन्निमित्तं वारयसि भोजनम् ?
(ग) अधन्यस्य मम कोकिलानामक्षिपरिवर्त इव कुक्षिपरिवर्तः संवृत्तः।

पुष्पस्रक्, वर्णकशब्देन च चन्दनं गृह्यते 'आनयामी'ति विध्यर्थे लट्, 'आनेय'मिति तदर्थः। किमत्रेतरत्कारणम् ? क्रियमाणेऽस्मिञ्जामातुः स्नानविषयके प्रश्ने कारणमेतदेव खलु, यन्मया पुष्पस्रक् चन्दनं चानेतव्ये। स्नानानन्तरं पुष्पस्रक् धारणीया चन्दनं च लेपनीयं शरीरे जामात्रा। यदि नाम तदीयं स्नानं सम्पन्नं, तर्हि साम्प्रतमानयाम्यहं पुष्पस्रजं चन्दनं च तत्कृते। तत्कथ्यतामिदं याथातथ्येन त्वया।

निशम्येदं चेटीवचो वचनं प्रयुङ्क्ते विदूषकः—**ह्लादो** इति। तत्रभवान् उदयनो भूपतिः, वर्जयित्वा त्यक्त्वा। सञ्जातः स्नानविधिर्भूपतेरुदयनस्य। अतस्तदर्थं त्वया भोजनं विनेदानीं सर्वमानेतव्यमित्यर्थः। अत्रेदं तात्पर्यम्—समुपस्थिते सति भूपतेः कृते भोजने तत्सुहृदा विदूषकेणापि तद्भोक्तुं लभ्येत। किन्तु स्वभावतो भोजनप्रियोऽपि सूचितपूर्वाऽजीर्णरोगग्रस्तोऽयं न तावदिदानीं भोजनाय स्पृहयति सः। 'आनीतं च भोजनं चेतो बलादाकर्षे'दित्यतस्तन्निषेधं चाकार्षीत्। इत्यङ्कारमस्वारस्यं प्रकटय्यापि भोजनानयने विदूषकोऽप्रस्तुतभोज्यपदार्थानयननिषेधमुखेन स्वात्मनो भोजनप्रियतामाविष्कृतवानिति।

इत्थं किल भोजनानयनं निषेधन्तं विदूषकं प्रति चेटी तन्निराकरणे कारणं जिज्ञासमाना 'किमर्थं तन्निषिध्यत' इत्येवं पुनरात्मनः पृच्छां दर्शयति-**किणिमित्तम्** इति। भोजनं भोजनानयनमित्यर्थः।

स्वकर्तृकेऽस्मिन्भोज्यपदार्थोपस्थापनप्रतिषेधे हासकारणं कारणं प्रकटयति विदूषकः—**अधण्णस्सेति**। अधन्यस्य भाग्यहीनस्येत्यर्थः। अक्षिपरिवर्त इव, परिवर्तः परिवर्तनं परितो भ्रमणमिति यावत्, अक्ष्णोः परिवर्तोऽक्षिपरिवर्तः स यथा।

विदू०—वे नहा चुके। भोजन-सामग्री छोड़ तुम सब पदार्थ ला सकती हो।
दासी—खाने की चीज लाने को क्यों मना कर रहे हैं ?
विदू०—मैं बड़ा अभागा हूँ, क्योंकि-कोइलों की आँख जिस भाँति उलट पड़ती है या

कुक्खिपरिवट्टो संवुत्तो।

चेटी—(क) ईदिसो एव्व होहि।

विदूषकः—(ख) गच्छदु भोदी। जाव अहं वि तत्तहोदो सआसं गच्छामि।

[निष्क्रान्तौ।]

(क) ईदृश एव भव।

(ख) गच्छतु भवती। यावदहमपि तत्रभवतः सकाशं गच्छामि।

परिपूर्वाद् वृत्धातोर्भावे घञि परिवर्तशब्दः सिध्यति। कुक्षिपरिवर्तः उदरविकारः, संवृत्तः सञ्जातः। अयं भावः—'नेत्रपरिवर्तनं कोकिलानामिव मन्दभाग्यस्य ममोदरविकारो भुक्ताऽपरिपाकरूपः साम्प्रतं वरीवर्तीत्यत एवाहं भोजनमानेतुं निषेधामि त्वाम्। राजा तु मां विहाय नैकाकी भोजनं कुर्यात्कदापि, अहं च भोजनमुपस्थितं कथमपि त्यक्तुं कर्तुं च न शक्नुयाम्। यथेच्छं भोक्तुमददानोऽयमुदरविकारो हन्ताऽतितरां कष्टायते। अतो हि भोक्तुमसमर्थोऽधुना ध्रुवमहं मन्दभाग्योऽस्मी'ति।

विदूषकस्योक्तिमिमां निशम्य चेटी सहासं वितनुते प्रेम्णा शुभाऽऽशंसनं तत्र—**ईदिसो** इति। वाक्येऽस्मिन्नौचित्यात् 'सदा' इति पदमध्याहरणीयम्। ईदृशः उदरविकारवान्। उदरविकारेणाक्रान्त एव त्वं सर्वदा वर्तस्व, आस्तां च तावत्ते शाश्वतं साहचर्यमसुना विकारेणेत्यर्थः।

इदमीदृशं चेट्या समं संलप्य साम्प्रतं पद्मावत्युपसर्पणाय चेटीं विसृष्टुमिच्छन् कार्यान्तरकरणाभिप्रायेण स्वयमपि सुहृदः श्रीमतो नरपतेः समीपं जिगमिषन् विदूषकः प्राह—**गच्छदु** इति। गच्छतु अर्थात्पद्मावत्याः समीपम्। यावदित्यस्य अधुनेत्यर्थः।

विदूषकप्रस्तावानुसारं तयोश्चेटीविदूषकयोस्ततः प्रस्थानं दर्शयति कविः—**निष्क्रान्ताविति।**

रोग-पूर्ण लाल लाल हो जाती है, उसी तरह मेरे पेट में भी उलट फेर हो गया है कि खाया हुआ समय पर ठीक पचता नहीं।

दासी—ऐसे ही आप (सदा) बने रहें।

विदू०—तुम जाओ। अब मैं भी राजासाहब के पास जाता हूँ।

(दोनो चले गये।)

प्रवेशकः

[ततः प्रविशति सपरिवारा पद्मावती आवन्तिकावेषधारिणी वासवदत्ता च ।]

चेटी—(क) किण्णिमित्तं भट्टिदारिआ पमदवणं आअदा ?

पद्मावती—(ख) हला ! ताणि दाव सेहालिआगुह्मआणि पेक्खामि कुसुमिदाणि वा ण वेत्ति ।

(क) किन्निमित्तं भर्तृदारिका प्रमदवनमागता ?

(ख) हला ! ते तावत् शेफालिकागुल्मकाः पश्यामि कुसुमिता वा न वेति ।

प्रवेशक इति । उक्तपूर्वमेतस्य लक्षणं विष्कम्भकलक्षणप्रदर्शनप्रसङ्गे द्वितीयाङ्कप्रारम्भे, तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् । अयं च चेटीविदूषकाभ्यामनुदात्तभाषितेन प्रयोजितः सन् वृत्तं वत्सराजोदयनविवाहसम्बन्धलक्षणं वर्तिष्यमाणं च पुष्पहरणादिरूपं कथांशं निर्दर्शितवानिति ।

कविरिदानीं भाविघटनानुरूपप्रसङ्गानुरोधेन सपरिवारां पद्मावतीं समं वासवदत्तया प्रमदवनं प्रवेशयति—**तत** इत्यादिना ।

सुमनोवर्णकग्रहणादिकार्यार्थं गते सत्यन्तःपुरं भर्तरि तत्रानुपस्थाय प्रमदवनमागतां पद्मावतीं तत्प्रदेशागमनकारणं पृच्छति चेटी—**किण्णिमित्तम्** इति । अयि ! राजकन्ये ! भवत्याः पतिरिदानीमन्तःपुरे वर्तते, तदुपसर्पणमुपेक्ष्य भवती किं प्रयोजनमुद्दिश्य प्रमदवनमेतदागता ।

चेटीप्रश्नानुसारं प्रमदवनागमनप्रयोजनं स्वं दर्शयति पद्मावती—**हला** इति । हलेति चेट्याः सम्बोधनम् । अत्र यद्यपि 'हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इति कोषप्रामाण्येन चेटीं प्रति 'हञ्जे' इति प्रयोक्तुमुचितं, तथापि चेटीमिमां सखीनिर्विशेषं पश्यन्त्यास्तामुद्दिश्य पद्मावत्या 'हला' इत्याह्वानं नाऽसङ्गतम् । एवमेवाग्रेऽपि सर्वत्राकलनीयम् । ते प्रसिद्धाः प्रयत्नसंवर्धिता अदूरतो दृश्यमाना इति यावत्-तावत्पदं वाक्यालङ्कृतौ । शेफालिकागुल्मकाः, शेफालिकाख्या वृक्षविशेषाः । शेफालिका च 'हरसिंगार, पारिजाता' इत्येवं लोके प्रसिद्धा । गुल्मा एव

(प्रवेशक)

(परिजन-सहित पद्मावती तथा उज्जैन-निवासिनी के वेश में वासवदत्ता आती है ।)

दासी—राजकुमारी नजरबाग में किस लिये आई ?

पद्मा०—अरी ! वे हरसिंगार (परिजाता) के गुच्छे खिले या नहीं यह मैं देखती हूँ ।

चेटी—(क) भट्टिदारिए ! ताणि कुसुमिदाणि णाम, पवालन्तरिदेहिं विअ मौतिआलम्बएहिं आइदाणि कुसुमेहिं।

पद्मावती—(ख) हला ! जदि एव्वं, किं दाणिं विलम्बेसि ?

(क) भर्तृदारिके ! ते कुसुमिता नाम, प्रवालान्तरितैरिव मौक्तिकलम्बकैराचिताः कुसुमैः।

(ख) हला ! यद्येवं, किमिदानीं विलम्बसे ?

गुल्मकाः, स्वार्थे कः। मूलादारभ्य शाखावधिको वृक्षस्य भागः 'प्रकाण्ड' उच्यते, तद्रहिता वृक्षा हि 'गुल्म'नाम्ना व्यवह्रियन्ते। तथा च 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः', 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ' इत्यमरौ। कुसुमिताः, कुसुमानि पुष्पाणि सञ्जातानि येषां तादृशाः, 'तदस्य सञ्जात'मित्यादिना इतच् प्रत्ययः। 'पश्यामी'ति क्रियापद च वाक्यसमाप्तिसूचकात् 'इति'शब्दादनन्तरं योज्यम्, इति पूर्वप्रदर्शितो वाक्यार्थः कर्मरूपः। अयि ! सखि ! तेषु शेफालिकावृक्षेषु पुष्पाण्युद्गतानि नवेत्येवावलोकयाम्यहम्। अत एतद्दिदृक्षयैव साम्प्रतमत्रागतास्मीति भावः।

प्रमदवनागमनप्रयोजनं निशम्यैवं पद्मावत्याः शेफालिकाकुसुमोद्गमसम्बन्धिनि प्रश्ने प्रतिपादयत्युत्तरं चेटी—**भट्टिदारिए** इति। ते इत्यनेन पूर्वप्रक्रान्ताः शेफालिकागुल्मका गृह्यन्ते, 'नामे'त्यत्र निश्चयार्थकम्। प्रवालान्तरितैः, प्रवालैर्विद्रुममणिभिरन्तरितानि व्यवहितानि युक्तानीति यावत् तैः, मौक्तिकलम्बकैरिव, मुक्ता एव मौक्तिकानि तेषां लम्बकानि ललन्तिकाभिधाः कण्ठभूषणविशेषाः तत्सदृशैः, कुसुमैरित्यस्योपमानमिदम्, 'लम्बकं तु ललन्तिका' इति कोषः। आचिताः व्याप्ताः परिपूर्णा इति यावत्, दृश्यन्ते इति शेषः। शेफालिका ध्रुवं विकसिताः सन्ति। पश्य, मूलेऽरुणानि तदूर्ध्वं च धवलान्येतानि पुष्पाणि खलु प्रवालमिश्रमुक्तामणिनिर्मितकण्ठभूषणसदृक्षाणि लक्ष्यन्ते। इतस्ततो लग्नानि कुसुमानि लम्बमानकण्ठाभरणानीव प्रतीयन्त इति कुसुमानां ललन्तिकासाम्यं प्रतिपादितमत्र।

शेफालिकाविकासमाकलय्य पद्मावती चेटीं तत्कुसुमावचयनक्रियायां नियोक्तुमिच्छन्ती ब्रूते—**हला** इति। एवं, शेफालिकाः कुसुमिता इति यावत्। विलम्बसे

दासी—राजकुमारी ! वे तो खिल गये, बीच बीच में मूँगों से मिले हुए मोतियों के हारों की भाँति फूलों से परिपूर्ण हैं।

पद्मा०—यदि ऐसा है, तो क्यों देर कर रही हो ?

चेटी—(क) तेण हि इमस्सिं सिलावट्टए मुहुत्तअं उपविसदु भट्टिदारिआ। जाव अहं वि कुसुमावचअं करेमि।

पद्मावती—(ख) अय्ये ! किं एत्थ उपविसामो ?

वासवदत्ता—(ग) एव्वं होदु।

(क) तेन हि अस्मिन् शिलापट्टके मुहूर्तकमुपविशतु भवती। यावदहमपि कुसुमावचयं करोमि।

(ख) आर्ये ! किमत्रोपविशावः ?

(ग) एवं भवतु।

विलम्वं करोषि, अर्थात्कुसुमावचये। यदि सखि ! शेफालिका विकसितास्तर्हि साम्प्रतं तत्कुसुमावचये किमिति त्वया विलम्वः क्रियते ? अतिशीघ्रं तानि कुसुमान्यवचीयन्तामित्यर्थः।

इत्थं पद्मावतीवचनमाकर्ण्य कुसुमावचयं प्रतिजानीते चेटी—**तेण हीति**। तेन हि अतो हेतोः, पुष्पावचयस्येदानीं मया करणीयत्वादित्यर्थः। अस्मिन् समीपस्थे शिलापट्टके बृहत्पषाणफलके, मुहूर्तकं क्षणमिति क्रियाविशेषणम्। यावता कालेन मया कुसुमावचयं कृत्वागम्यते, तावत्कालपर्यन्तं भवत्या राजकुमार्या विशाले दृषत्फलकेऽस्मिन्नुपविश्य विश्रम्यताम्। अत्र 'मुहूर्तकमुपविशतु' इत्यनेन 'कार्येऽस्मिन् मत्कर्तृको विलम्वो न स्यात्, सत्वरमेवाहमवचितकुसुमा समागमिष्यामि भवत्याः समीप'मिति चेट्या सूचितम्।

चेटीवचनानुरोधाद् दृषत्फलके समुपवेष्टुमुद्यता पद्मावती स्थानमात्मोपवेशनयोग्यं निर्दिशन्ती तत्रोपवेशने आवन्तिकाया अनुमतिं प्रार्थयते—**अय्ये** इति। अयि माननीये ! स्थानेऽस्मिन्नावाभ्यामुपवेष्टव्यं किमु ? अत्रोपवेशनमिदानीमस्मदीयं भवत्यै रोचते ?

आत्मनोऽनुमतिं तत्रोपवेशने दर्शयत्यावन्तिका-**एव्वम्** इति। वाढम्, अत्रोपविश्यतामावाभ्यामित्यर्थः।

दासी—तब तो इस पत्थरकी चट्टान पर राजकुमारी घड़ी भर बैठें। तबतक मैं भी फूलों को बटोरती हूँ।

पद्मा०—(आवन्तिका से) आर्ये ! क्या हम दोनों यहाँ बैठें ?

वासव०—हाँ, ऐसा ही हो।

[उभे उपविशतः।]

चेटी—[तथा कृत्वा] (क) पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ अद्धमणसिलावट्टएहिं विअ सेहालिआकुसुमेहिं पूरिअं मे अञ्जलिं।

पद्मावती—(दृष्ट्वा) (ख) अहो। विइत्तदा कुसुमाणं। पेक्खदु

(क) पश्यतु पश्यतु भर्तृदारिका अर्धमनःशिलापट्टकैरिव शेफालिकाकुसुमैः पूरितं मेऽञ्जलिम्।

(ख) अहो ! विचित्रता कुसुमानाम्। पश्यतु पश्यत्वार्या।

'उभे उपविशतः' इत्यनेन द्वयोर्वासवदत्तापद्मावत्योरुपवेशनं दर्शितम्।

अवचितपुष्पा चेटी पद्मावतीमुपगम्य ब्रूते—**पेक्खदु** इति। तथा कृत्वा पुष्पाण्यवचित्य तैर्हस्तद्वयमापूर्य। 'पश्यतु पश्यतु' इति पौनःपुन्ये द्विःप्रयोगः, तेन च सौन्दर्यममीषां कुसुमानां लोचनासेचनकं सूचितम्। अर्धमनःशिलापट्टकैरिव, अर्थानुकूल्यसामर्थ्याभावादत्रार्धपदं व्यस्तं युज्यते, अर्धे मूलभागे मनःशिलायाः 'मैनसिल' इति लोके प्रसिद्धस्य गिरिप्रभवरक्तवर्णधातुविशेषस्य पट्टकैः खण्डैरिव, स्थितैरिति शेषः। 'धातुर्मनःशिलाद्यद्रेः' 'मनःशिला मनोगुप्ता' इत्यमरौ। पूरितं पूर्णम्, 'पूरयतेः क्तः। अञ्जलिं कनिष्ठिकाप्रदेशतः संयोजितौ पुटरूपतां प्रापितौ हस्तौ, 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः। 'कुसुमैः परिपूर्णमञ्जलि'मित्यस्य 'अञ्जलिस्थानि पुष्पाणी'ति तात्पर्यम्। अयि ! राजकुमारि ! ममेदं पाणिद्वयमिदानीं शेफालिकाप्रसूनैः परिपूर्णं वर्तते। अमूनि किल कुसुमानि कथं नाम सुन्दरतां वहन्ति ? मुहुरालोचनीयमेतदमीषां सौन्दर्यं भवत्येति भावः। इदमित्थं निगद्य चेट्यास्तत्समर्पणं पद्मावत्यै व्यङ्ग्यमर्यादया बोद्धव्यम्। इह किल शेफालिकापुष्पाणामारुण्येन मूलप्रदेशे मनःशिलाशकलसादृश्यं दर्शितं कविना। तानि च शकलानि लम्बमानान्येवात्र कवेः शेफालिकाकुसुमोपमानत्वेनाभिमतानीति।

चेट्या दत्तानि तानि पुष्पाण्यादाय दृष्ट्वा च पद्मावती तत्सौन्दर्यं प्रशंसन्त्याह—**अहो** इति। विचित्रता श्वेतरक्तेत्युभयविधवर्णसौन्दर्यशालिता। प्रायः

(दोनों बैठती हैं।)

दासी—(फूलों को बटोर कर) देखिये, राजकुमारी ! देखिये, आधे भाग में मैनसिल के टुकड़ों की तरह हरसिंगार के फूलों से मेरी अँजुली भर गई।

पद्मा०—(देखकर) वाह ! क्या ही विचित्र ये फूल हैं। आप देखें तो सही।

पेक्खदु अय्या ।

वासवदत्ता—(क) अहो ! दस्सणीअदा कुसुमाणं ।

चेटी—(ख) भट्टिदारिए ! किं भूयो अवइणुस्सं ?

पद्मावती—(ग) हला ! मा मा भूयो अवइणिअ ।

(क) अहो ! दर्शनीयता कुसुमानाम् ।
(ख) भर्तृदारिके ! किं भूयोऽवचेष्यामि ?
(ग) हला ! मा मा भूयोऽवचित्य ।

कुसुमान्येकवर्णानि भवन्ति, एतानि तु वर्णद्वयवन्तीति नूनं विस्मयकरत्वमेतेषाम् । को नाम तान्येतान्यवलोक्य विस्मयविकस्वरस्वान्तो न स्यात् ? इत्येवमुक्त्वा तानि पुष्पाण्यावन्तिकां दर्शयन्ती ब्रूते–**पेक्खदु** इति । अत्रापीयं वीप्सा पौनःपुन्ये, अर्थाक्षिप्तमत्र पुष्परूपं तत्सौन्दर्यरूपं वा कर्म । अयि ! मान्ये ! वारंवारमवलोकनीयं तत्रभवत्या भवत्या 'कुसुमानि कथं तावदेतानि सौन्दर्यं दर्शयन्ती'ति ।

तेषां पुष्पाणाममन्दं सौन्दर्यमभिनन्दन्ती ब्रूते वासवदत्ता—**अहो** इति । दर्शनीयता सुन्दरता । अयि ! अमूनि किल पुष्पाणि विचित्रं सौन्दर्यं दर्शयन्ति ।

उभाभ्यां पद्मावत्यावन्तिकाभ्यां कृतं प्रसूनप्रशंसनं श्रुत्वा पुनः प्रसूनानयनप्रस्तावमुपस्थापयन्ती पृच्छति चेटी पद्मावतीम्—**भट्टिदारिए** इति । अवचेष्यामीति विध्यर्थे लृट्, अवचिनुयामिति तदर्थः । अयि ! राजकन्ये ! किमिदानीं पुनः प्रसूनान्यवचेतव्यानि मया ?

चेट्याश्चिकीर्षितं प्रसूनावचयनं निषेधति पद्मावती—**हला** इति । हलेति चेट्याः सम्बोधनम्, 'मा मे'ति द्विरुक्तिर्निषेधं द्रढयति । अयि ! सखि ! न तावदिदानीं प्रसूनावचयस्ते कार्यः । नास्ति तत्प्रयोजनं किमपि । अत्र मायोगे 'अवचित्ये'ति क्त्वाप्रत्ययः पाणिनीयशासनविरुद्धो महाकवीनां निरङ्कुशत्वात्कृतो वेदितव्यः ।

कृते च पद्मावत्या तन्निषेधे तत्र कारणजिज्ञासां दर्शयत्यावन्तिका—

वासव०—ये फूल तो बड़े ही दर्शनीय हैं ।
दासी—राजकुमारी ! क्या फिर और चुनूँ ?
पद्मा०—अरी ! नहीं, और मत चुनना ।

वासवदत्ता—(क) हला ! किंणिमित्तं वारेसि ?

पद्मावती—(ख) अय्यउत्तो इह आअच्छिअ इमं कुसुमसमिद्धिं पेक्खिअ सम्माणिदा भवेअं।

वासवदत्ता—(ग) हला ! पिओ दे भत्ता ?

(क) हला ! किन्निमित्तं वारयसि ?

(ख) आर्यपुत्र इहागत्येमां कुसुमसमृद्धिं दृष्ट्वा सम्मानिता भवेयम्।

(ग) हला ! प्रियस्ते भर्ता ?

हला इति। आवन्तिका चेयं वासवदत्ता कार्यगौरवं कलयन्ती सपत्नीमपि तां पद्मावतीं प्रियसखीसमानभावेन सम्भावयतीति पूर्वं भूयः प्रतिपादितम्। अतश्च 'हला' इति सम्बुद्धिः पद्मावतीं प्रति युज्यते तस्याः। सखि ! पद्मावति। वैचित्र्यममीषां कुसुमानां पूर्वं प्रशंसितवत्यसि। साम्प्रतं रुचिराण्यपि तानि पुनराहर्तुं किमिति चेटीं निषेधसि ?

तन्निषेधकारणं प्रकटीकरोति पद्मावती—**अय्यउत्तो** इति। कुसुमानां समृद्धिराधिक्यं परिपूर्णतेति यावत्, ताम्। सम्मानिता आदृता, 'भवेय'मिति सम्भावनायां लिङ्। अत्र 'सम्माणिदा (सम्मानिता)' इति कर्मवाच्यप्रयोगानुरोधाद् 'अय्यउत्तेण (आर्यपुत्रेण)' इति तृतीयान्तः प्रयोक्तुं युज्यते कर्ता। 'अय्यउत्तो (आर्यपुत्रः)' इत्ययं प्रथमान्तकर्तृपदप्रयोगस्तु चिन्त्यः। 'पेक्खिअ (दृष्ट्वा)' इत्यनन्तरं 'पसीदे, तेण च (प्रसीदेत् तेन च)' इति मध्ये मुद्रणप्रमादात् त्रुटितं वा योजनीयम्। इत्थं सति कल्पिते 'प्रसीदे'दित्यनेन सम्बद्धः प्रथमान्तः कर्ता सङ्गच्छेत। सम्भावयेऽहमत्रागतो मत्प्रियः समन्तात् पुष्पितं प्रमदवनं पश्यन् प्रसन्नो ममादरं कुर्यादित्यर्थः। अयमाशयः—'मत्प्रयत्नविशेषसम्पादितप्रसूनसुषमासम्भारवीक्षणोत्फुल्लमानसो मदीयकार्यसन्तुष्टो मम स्वामी गौरवं दर्शयन् मयि परां प्रीतिं कलयंस्तैर्मामलङ्कुर्यात्। कुसुमैर्हीनता च प्रमदवनस्य तन्मानसं दुःखाकुर्यात्ततश्च मयि प्रीतिरपि तदीया नूनं न्यूनतां दध्यात्। अतो हेतोरहं नेतोऽधिकं पुष्पावचयं रोचयामी'ति। अथवा 'अय्यउत्तो'इति प्रथमान्तपाठे 'सम्माणिदो भवे' इति पाठः कल्पनीयः।

पतिप्रीतिविषयकं ध्वनिमार्गेण प्रस्तावमुपक्षिप्तं पद्मावत्या अवगत्य तत्प्रीतेरियत्तां तत्र परिच्छेत्तुमिच्छन्तीं पृच्छति पद्मावतीं वासवदत्ता—**हला** इति।

वासव०—हे सखि ! क्यों मना करती हो ?

पद्मा०—आर्यपुत्र यहाँ आकर फूलों की यह बहार (देख प्रसन्न होंगे, उससे) मैं संमानित होऊँगी।

वासव०—सखि ! तुम्हें पति प्यारे हैं ?

पद्मावती—(क) अय्ये ! ण जाणामि, अय्यउत्तेण विरहिदा उक्कण्ठिदा होमि ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ख) दुक्खरं खु अहं करेमि । इअं वि णाम एव्वं मन्तेदि ।

(क) आर्ये ! न जानामि, आर्यपुत्रेण विरहितोत्कण्ठिता भवामि ।
(ख) दुष्करं खल्वहं करोमि । इयमपि नामैवं मन्त्रयते ।

सखि ! पतिमेतं प्रेमदृष्ट्या पश्यसि त्वम् ? अपि नाम ते वर्तते सहजं प्रेम पत्यौ ?

नवोढानुरूपलज्जाभावगोपितामुत्कण्ठाविशेषप्रकाशितां पतिविषयिणीमात्मनः प्रीतिं ध्वनयति पद्मावती—**अय्ये** इति । 'राजमन्त्रिणो यौगन्धरायणस्य स्वसारमिमां स्वसमीपे न्यासरूपेण स्थापितामावन्तिकामादरदृष्ट्या पश्यति पद्मावती'ति तामुद्दिश्य पद्मावतीप्रयुक्तम् 'आर्ये' इति सम्बोधनपदं युज्यते । 'न जानामी'त्यत्र पूर्वप्रश्नार्थः कर्म, विरहिता वियुक्ता । 'अयि ! मान्ये ! आर्यपुत्रो मम प्रीतिपात्रं वर्तते न वे'त्येवं किमपि न ज्ञायते, किन्तु तद्वियुक्तया पर्युत्सुकया भूयते मयेत्यर्थः । आर्यपुत्रेण विना विमनायमानाहं तद्वियोगं न सोढुं शक्नोमीति तात्पर्यम् । अत्र 'न जानामी'ति नवोढाभावसुलभलज्जाभावाच्छन्नं प्रेम पद्मावत्या प्रियवियोगकालिकोत्कण्ठाभावप्रदर्शनाद् ध्वनिमर्यादया स्फुटं व्यक्ततां नीतम् । एतेन 'पतिर्मे प्रियो वर्तत' इत्येवमावन्तिकाप्रश्नोत्तरमशाब्दं चतुरया पद्मावत्या स्फुटं प्रतिपादितम् ।

श्रुतैतत्पद्मावतीवचसो वासवदत्ताया मानसं वितर्कं दर्शयति कविः—**दुक्खरम्** इति । दुष्करं दुःखेन कर्तुं शक्यम्, असम्भाव्यमिति यावत्, 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' इत्यनेन खल् । अत्रार्थं प्रेमेति कर्म, खलु निश्चये । 'अहो ! यत्र सहजं निःसामान्यमनन्यगोचरं प्रेमाहं बिभर्मि, तत्रैव पद्मावत्यसौ प्रीतिमती वर्तते । स नूनमुभयाकृष्टश्चलचित्तो नैकत्र विशिष्टं स्थिरं प्रेम कर्तुं शक्नोति, येन किल द्वयोः प्रियतमेन भूयते । न ज्ञायते मदीयं तद्विषयकं प्रेमेदं तत्प्रीतिमत्तां सम्पाद्य कथङ्कारं साफल्यमधिगच्छेदित्यतो नूनमिदमसम्भाव्यमेवाहं कर्तुं प्रवृत्तास्मि, यत्किल तत्प्रीतिमत्त्वसम्भावनया तमार्यपुत्रं प्रेमदृशा पश्यामी'ति गूढमाकूतं वासवदत्तायाः । तदेव दुष्करत्वं दर्शयते—**इअं वि** इति । अत्र नामेत्यलङ्कारो वाक्यस्य ।

पद्मा०—आर्ये ! यह मैं नहीं जानती, पर उनके बिना जी नहीं लगता ।
वासव०—(स्वगत) मैं बड़ा ही कठिन करती हूँ । यह भी तो इसी प्रकार कहती है ।

चेटी—(क) अभिजादं खु भट्टिदारिआए मन्तिदं—पिओ मे भत्तेति।

पद्मावती—(ख) एक्को खु मे सन्देहो।

वासवदत्ता—(ग) किं किं?

(क) अभिजातं खलु भर्तृदारिकया मन्त्रितं–प्रियो मे भर्तेति।
(ख) एकः खलु मे सन्देहः।
(ग) किं किम्?

मन्त्रयते गूढं भाषते। अनया पद्मावत्यापि यदा पूर्वोक्तमिदं निगद्यते, तदा निःसन्देहमेव मे तत्रानुरागस्तदनुरागसम्पादनविषये चिरात्साफल्यं तदभावं वा कलयेदित्यर्थः। एतेन—'साम्प्रतमहं सर्वथा सङ्कटे पतितास्मी'ति वासवदत्तायाश्चित्तानुवर्ती विषादोदयो व्यङ्ग्यः। अस्त्ययं प्रेम्ण एव महिमा, येन किल मध्ये मध्ये स्थिरभावपरिवर्तनं कृत्वा चित्ते भावान्तरमुत्थाप्यत इत्यलम्।

पद्मावत्या गूढोक्तेरभिप्रायं प्रकाशयति प्रशंसनपुरःसरं चेटी—**अभिजादम्** इति। अभिजातं कुलीनतोचितम्, खलु निश्चये, मन्त्रितं गूढमुक्तम्। राजकुमार्या श्रीमत्या 'पत्यौ मम प्रेम वर्तते' इतीदृशं नूनं कुलीनतासदृशं त्रपावशाद् गूढं ध्वनिमार्गेणोक्तम्। इत्थमेव कुलीनया वक्तव्यमित्यर्थः। अथवा मन्त्रितं कथितम्। अत्र च पक्षे—आत्मनः प्रेम पत्यौ यत्प्रकाशितं वचसा राजकुमार्या, तत्तु कुलीनतासदृशमेव कृतम्। युज्यत एव कुलीनायाः प्रेम पत्याविति भावः।

सम्प्रति पद्मावती वासवदत्ताया आत्मनश्च प्रियविषयां प्रीतिं परिच्छेत्तुकामाऽऽवन्तिकां वक्ति—**एक्को** इति। खल्विति वाक्यसौन्दर्ये। वक्ष्यमाण एकोऽयं संशयो वर्तते मे, स चायमपनोद्यस्त्वया यथोचितमुत्तरं दत्त्वेत्याशयः।

कीदृशस्ते संशय इति तं तन्मुखाच्छ्रोतुमिच्छन्ती वासवदत्ताह—**किं किम्** इति। द्विरुक्तिरियं तत्सूचने त्वरयति पद्मावतीम्।

दासी—'पति मुझे प्रिय हैं' यह राजकुमारी ने अपनी कुलीनता के अनुकूल ही कहा।
पद्मा०—मुझे एक सन्देह है।
वासव०—क्या? क्या?

पद्मावती—(क) जह मम अय्यउत्तो, तह एव्व अय्याए वासवदत्ताए त्ति ?

वासवदत्ता—(ख) अदो वि अहिअं !

पद्मावती—(ग) कहं तुवं जाणासि ?

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (घ) हं, अय्यउत्तपक्खवादेण

(क) यथा ममार्यपुत्रस्तथैवार्याया वासवदत्ताया इति ?
(ख) अतोऽप्यधिकम् ।
(ग) कथं त्वं जानासि ?
(घ) हम्, आर्यपुत्रपक्षपातेनातिक्रान्तः समुदाचारः । एवं तावद्

तदेव संशयविषयकं प्रष्टव्यमुपक्षिपति पद्मावती—**जह इति** । अत्र प्रसङ्गानुरोधात् 'प्रिय' इति योज्यम् । यादृशं यत्परिमाणमार्यपुत्रे मम प्रेम, तादृशं तत्परिमाणमेव तद्वर्तते वा पूज्यायास्तत्र वासवदत्तायाः ? संशयश्चैष एवास्ति ममेत्यर्थः । उज्जयिनीवासिनीयं सूचितपूर्वं पत्युर्दर्शनसौभाग्यमिव पत्यौ वासवदत्ताप्रीतेरियत्तामपि कलयितुमर्हतीति स्थाने प्रश्नोऽयमावन्तिकां प्रति पद्मावत्याः ।

तत्रोत्तरमावन्तिका ब्रूते—**अदो वीति** । अत्रापि 'प्रिय' इत्यार्थम् । अतोऽपि त्वदपेक्षयापि, अधिकमिति क्रियाविशेषणम्, अस्तीति सामान्यक्रियाक्षेपः । यावत्प्रेम ते पत्यौ वर्तते, ततोऽप्यधिकरूपेण तस्या इत्यर्थः ।

'कथमिदं त्वया ज्ञायते, यत्किल तस्यास्तत्र मत्तोऽधिकं प्रेमे'त्याशयकं पुनः प्रश्नं करोति पद्मावती—**कहम् इति** ।

पद्मावतीप्रश्नाकर्णनेनात्मस्वरूपप्रकाशनभिया स्वकीयोक्तौ सानुतापं मानसं वितर्कमाचरति वासवदत्ता—**हम् इति** । हमिति शङ्कावितर्कानुतापसूचकमव्ययम् । आर्यपुत्रस्य पत्युः पक्षपातेन प्रेम्णा तन्महिम्नेति यावत्, समुदाचार आचारो मर्यादा, स चाऽत्र स्वरूपगोपनरूपः, अतिक्रान्त उल्लङ्घितः । अहो ! पत्युः

पद्मा०—जैसे मुझे आर्यपुत्र (प्रिय) हैं, वैसे ही आर्या वासवदत्ता को भी हैं ?
वासव०—इससे भी अधिक ।
पद्मा०—तुम कैसे जानती हो ?
वासव०—(स्वगत) हुँ ! आर्यपुत्र की तरफदारी (पक्षपात) से मैं व्यवहार को भूल

अदिक्कन्दो समुदाआरो। एव्वं दाव भणिस्सं [प्रकाशम्] जइ अप्पो सिणेहो, सा सजणं ण परित्तजदि।

पद्मावती—(क) होदव्वं।

चेटी—(ख) भट्टिदारिए! साहु भत्तारं भणाहि—अहं पि वीणं सिक्खिस्सामि त्ति।

भणिष्यामि। यद्यल्पः स्नेहः, सा स्वजनं न परित्यजति।

(क) भवितव्यम्।

(ख) भर्तृदारिके! साधु भर्तारं भण—अहमपि वीणां शिक्षिष्य इति।

प्रेम्णो महिम्ना मुग्धयाऽत्यन्तमनुचितं कृतमेतन्मया यन्नाम यत्नेन गोपनीयमप्यात्मनो रूपं तादृशेन वचसा प्रकाशितम्। इत्येवमनुतप्य तत्रोत्तरमुपलभ्याह-**एव्वम्** इति। तावद्वाक्यसौन्दर्यें। वक्ष्यमाणमीदृशं वचोऽत्र प्रयोक्तव्यं मयेत्यर्थः। तदेव प्रकटं ब्रूते—**जइ** इति। स्वजनं स्वात्मीयवर्गम्। 'परित्यजती'त्ययं वर्तमानत्वाविवक्षया सम्भावनार्थे लट्। परित्यजेदिति तदर्थः। न्यूनश्चेदभविष्यत्प्रेमा पत्यौ वासवदत्तयास्तर्हि सा स्वजनपरित्यागं कदापि नाकरिष्यत्*। न हि स्वल्पे सति प्रेम्णि सम्भवत्येतत्। अतो निश्चितमनुमातुं शक्यते तस्याः समधिकं प्रेम पत्याविति भावः।

स्वजनपरित्यागेन हेतुना प्रेमाधिक्यं कल्पयितुं युज्यत इत्याह पद्मावती—**होदव्वम्** इति। अनेनेति कर्तुराक्षेपः। एतत्त्वदुक्तं सम्भवतीत्यर्थः।

'भर्तुर्वीणावादनकौशलं शिक्षित्वा यथा वासवदत्ता भर्तृवल्लभा सञ्जाता, तथा त्वमपि तत्कौशलशिक्षणेन भर्तुः प्रीतिपात्रतामधिगन्तुं चेष्टस्वे'त्याशयेन वचनं प्रयुङ्क्ते पद्मावतीमुद्दिश्य चेटी—**भट्टिदारिए!** इति। साधु सम्यक्, सादरमित्यर्थः। 'अहमपी'त्यपिशब्दो 'वासवदत्ता वे'त्यर्थं बोधयति। वीणां वीणावादनम्।

गई या मेरा सदाचार सीमा से बाहर हुआ। अच्छा तो इस तरह कहूँगी। (प्रकाश) यदि उसका प्रेम थोड़ा होता तो वह कभी आत्मीय लोगों को न छोड़ती।

पद्मा०—हो सकता है।

दासी—राजकुमारी! पति से अच्छे ढंग से कहना कि मैं बीन सीखूँगी।

---

* भर्तुरनुसरणं कर्तुकामया वासवदत्तया कृतः स्वजनपरित्यागस्तु प्रतिज्ञानाटिकायां द्रष्टव्यः।

पद्मावती—(क) उत्तो मए अय्यउत्तो ।
वासवदत्ता—(ख) तदो किं भणिदं ?
पद्मावती—(ग) अभणिअ किञ्चि दिग्घं णिस्ससिअ तुह्णीओ संवुत्तो ।
वासवदत्ता—(घ) तदो तुवं किं विअ तक्केसि ?

(क) उक्तो मयार्यपुत्रः ।
(ख) ततः किं भणितम् ?
(ग) अभणित्वा किञ्चित् दीर्घं निःश्वस्य तूष्णीकः संवृत्तः ।
(घ) ततस्त्वं किमिव तर्कयसि ?

'वासवदत्ता यथा वीणावादनं शिक्षिता भवता, तथाऽहमपि तदिदं शिक्षणीयास्मी'ति राजकन्यया श्रीमत्या सादरं प्रार्थनीयस्तत्रभवान् भर्ता ।

स्वकृतां तद्विषये तत्प्रार्थनां सूचयति पद्मावती–**उत्तो** इति । आर्यपुत्रमहं तनर्थं प्रार्थितवतीत्यर्थः ।

ततः स त्वां तदुत्तरं किमाचष्टेत्याहावन्तिका—**तदो** इति । अत्र 'तेने'त्यार्थः कर्ता । प्रश्नोऽयं वासवदत्तायाः स्वविषयकप्रियप्रेमपरीक्षाभिलाषिण्यास्तदुत्तरवचनश्रवणकौतूहलमाविष्कुरुते ।

आवन्तिकाप्रश्नमेनं निशम्य पद्मावती ब्रूते–**अभणिअ** इति । तूष्णीकस्तूष्णींशीलः, मौनीति यावत् । आर्यपुत्रेण तु मदीयं तत्प्रार्थनावचनमाकर्ण्य तदुत्तरं किमप्यनुक्त्वा दीर्घं निःश्वसता केवलं मौनमेवाऽवलम्बितम् । एतेन च तात्कालिकतदवस्थाप्रदर्शनेन वासवदत्तागतशिष्यजनोचितगुणगणस्मरणमहिम्ना स्नेहमग्ने वत्सचित्ते दत्तपदो विषादभावः सुगूढं ध्वनितः कविना ।

तत्र किल पद्मावत्या मानसं तर्कं जिज्ञासुर्वासवदत्ता पुनराह—**तदो** इति । ततः तत्र, सप्तम्यां तसिः । इवेति पदप्रयोगो वाक्यसौन्दर्यं दर्शयितुम् , तर्कयसि अनुमानं करोषि । तत्र तावद्भर्तृकृते दीर्घनिःश्वासे मौनधारणे च कीदृशं तवानुमानम् ? किमत्र कारणं सम्भावयसि त्वम् ?

पद्मा०—मैंने आर्यपुत्र से कहा था ।
वासव०—तब उन्होंने क्या कहा ?
पद्मा०—बिना कुछ कहे ही ऊँची साँस लेकर चुप हो गये ।
वासव०—उसपर तुम क्या अनुमान करती हो ?

पद्मावती—(क) तक्केमि अय्याए वासवदत्ताए गुणाणि सुमरिअ दक्खिणदाए मम अग्गदो ण रोदिदि त्ति ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ख) धण्णा खु ह्मि, जदि एव्वं सच्चं भवे ।

[ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च ।]

विदूषकः—(ग) ही ! ही ! पचिअपडिअबन्धुजीवकुसुमविरलवाद-

(क) तर्कयाम्यार्याया वासवदत्ताया गुणान् स्मृत्वा दक्षिणताया ममाग्रतो न रोदितीति ।

(ख) धन्या खल्वस्मि, यद्येवं सत्यं भवेत् ।

(ग) ही ही ! प्रचितपतितबन्धुजीवकुसुमविरलपातरमणीयं प्रमद-

तद्विषये स्वकीयं तर्कं दर्शयति पद्मावती-तक्केमि इति । दक्षिणतायाः औदार्यात्, रोदितीति लङ् भूतार्थे। एतदेवात्रानुमिनोम्यहं यदेतं मत्कृतं वीणावादनशिक्षणप्रस्तावमुपलभ्य तदानीं तत्र विषये पूर्वं दत्तशिक्षणाया वासवदत्तायाः श्लाघनीयगुणानां स्मरणात्तस्य तादृगवस्थया भवितुं युज्यते। उदारतया च मत्पुरो नारोदीत्सः। अन्येन च केनापि तादृश्यां दशायां शोकावेगवशात्सम्भवन्तमश्रुपातं निरोद्धुं न कदापि प्रभूयेतेति भावः ।

पद्मावत्या वितर्कमेनमाकर्ण्य धन्यंमन्या वासवदत्ता स्वगतं भाषते-**धण्णा** इति । एवं पद्मावतीवितर्कितम् । पद्मावत्या अनुमानमिदं वास्तवरूपतां चेत्कलयेत्तर्हि निःसन्देहमधुना धन्यास्मि संवृत्ता । अन्यूनाऽनुस्यूतनिःसामान्यपतिप्रेमसम्भावनयाऽनया नूनं मे जीवनमिदानीं सफलमित्याशयः ।

अथेदानीं पद्मावतीं प्रेयसीमन्विष्यतो वत्सराजस्य राज्ञः सुहृदा विदूषकेण सह प्रमदवनप्रवेशं दर्शयति कविः—**ततः प्रविशतीति ।**

समयोचितं तत्र विदूषको वचनमुद्गिरति—**ही ही** इति । 'हीही'त्ययमत्रा-

---

पद्मा०—आर्या वासवदत्ता के गुणों का स्मरण कर उदारता के कारण मेरे आगे नहीं रोए—ऐसा मैं समझती हूँ ।

वासव०—(स्वगत) यदि यह सत्य है, तो मैं धन्य हूँ ।

(तब राजा और विदूषक आते हैं ।)

विदू०—अहाहा ! बटोरने पर भी थोड़े थोड़े गिरे हुए दुपहरिया के फूलों से यह नजर-

रमणिज्जं पमदवणं। इदो दाव भवं।

राजा—वयस्य ! वसन्तक ! अयमयमागच्छामि।

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते

दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः।

वनम्। इतस्तावद् भवान्।

ऽऽनन्दसूचको ध्वनिविशेषः। प्रचितपतितबन्धुजीवकुसुमविरलपातरमणीयं, प्रचिता-न्यवचितानि पतितानि च यानि बन्धुजीवकुसुमानि 'दुपहरिया'इत्याख्याप्रसिद्धबन्धूकपुष्पाणि तेषां विरलेनेतस्ततः पातेन पतनेन हेतुना रमणीयं सुन्दरम्, अस्तीति शेषः। अवचयावशिष्टानि बन्धूककुसुमान्यत्रेतस्ततः पतितानि वर्तन्ते। तेन प्रमदवनस्यैतस्य सौन्दर्यं चित्तमाह्लादयतीत्यर्थः। मार्गं दर्शयन् राजानमाह–इदो इति। इतः दृश्यमानादस्मात्प्रदेशात्, तावद्वावयसौन्दर्ये। 'आगच्छतु' इति शेषः। अमुना मत्सूचितेन मार्गेण भवताऽऽगन्तव्यमधुनेत्यर्थः।

तदनु राजाऽभिधत्ते—**वयस्येति**। अत्र 'अयमय'मिति द्विरुक्तिरियमुद्दीपनसाधनप्रमदवनकमनीयताविलोकनसम्भवोत्कलिकाकुलस्य राज्ञो वासवदत्तावियोगवैकल्यं पद्मावतीदर्शनस्पृहयालुतां च द्योतयति। अयि! मित्र! वसन्तक! एषोऽहं त्वत्सूचितं पन्थानमनुसरामीत्यर्थः।

तदेवात्मनो मदनज्वरवैकल्यमभिधावृत्त्या बोधयति विदूषकं राजा–**कामेनेति**। तदा प्रद्योतनृपतेः सचिवेन कृतस्य मे निग्रहस्य*समये, उज्जयिनीम् अवन्तिराजनगरीं, गते प्रयाते, अवन्तिराजतनयां वासवदत्तां, स्वैरमिच्छानुसारं, दृष्ट्वा नयनपदवीं नीत्वा, कामप्यनिर्वाच्याम्, अवस्थां मोहमयीं दशां, गते प्राप्ते, मयि मदन्तरिति यावत्, कामेन मन्मथेन, पञ्च तत्सङ्ख्याकाः, इषवो बाणाः, पातिताः प्रतिरोपिताः निखाता इत्यर्थः। 'पञ्चबाणेन प्राप्तवासवदत्तादर्शने राजनि पञ्चापि

बाग सुन्दर दिखाई दे रहा है। आप इधर से (आइये)।

राजा—मित्र! वसन्तक! यह, यह मैं आया।

उस समय जब मैं उज्जैन में गया और अवन्तिराज-तनया वासवदत्ता को पूरी तरह

---

*स्पष्टं चेदं प्रतिज्ञायौगन्धरायणे।

तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं
पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः ? ॥ १ ॥

विदूषकः—(क) कहिं णु खु गदा तत्तहोदी पदुमावदी, लदा-

(क) कुत्र नु खलु गता तत्रभवती पद्मावती, लतामण्डपं गता भवेत्,

वाणाः प्रयुक्ता' इत्यनेन राज्ञो मनसि तदा वासवदत्ताविषयप्रेमोत्पत्तेः परा काष्ठा सूचिता। अद्यापि ततश्चिरतिथे सममेऽतिगतेऽपि, हृदयं मदीयं मनः, तैः कामप्रयुक्तैर्घातकैः पञ्चभिर्वाणैः, सशल्यं कीलितमेव वर्तते, भूयश्च पुनरपि पद्मावतीं विषयीकृत्य, वयं विद्धाः अहं ताडितोऽस्मि, 'अस्मदो द्वयोश्चे'ति वहुत्वम्। पञ्चापि ते वाणा अद्यावधि मद्धृदये लग्ना एव सन्ति, हा! हन्त! ततोऽप्यपरितुष्यता निष्करुणेन कामेन पुनरिदानीं मयि वेधनमारब्धमिति भावः। किन्तु, यदा यदि, मदनः कामः, पञ्चेषुः पञ्चेषवो वाणा यस्येत्येतादृशः प्रसिद्धः, तर्हि तेन षष्ठः पञ्चातिरिक्तः षष्ठसङ्ख्याकः, अयं व्यथयन्निति यावत्, शरो वाणः, कथं कुतः, पातितः प्रक्षिप्तः, अर्थान्मयि। पञ्चवाणेन पञ्चापि वाणान्निपात्य निःशेषितवाणेन सता मयि पातयितुमिदानीं पुनरयं षष्ठो वाणः कुत आनीतः? शरैरसङ्ख्यैर्विध्यतस्तस्य पञ्चवाणता विस्मयं जनयतीति भावः। वस्तुतस्तु—पञ्चवाणपदे पञ्चशब्दो विस्तारवचनः। पञ्च विस्तृता असङ्ख्या इति यावत्, वाणा यस्येति विग्रहः। एवं च न कोऽप्यत्र विरोधः। 'परप्रेमास्पदवासवदत्तावियोगवैश्वानरोऽद्यापि ज्वलयत्येव माम्। पुनरियमपरापि पद्मावतीविषयिण्युत्कटोत्कण्ठा सम्प्रत्यतीव व्याकुलीकरोति मे मानसम्। अहो! दुर्दैवान्महति सङ्कटे [सम्पतितोऽस्मी'ति चिन्ताभावमन्तर्नाटयति राजा। अत्र वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम्, लक्षणं चास्य दर्शितचरम्॥ १॥

प्रियतमादर्शनोत्कण्ठितं सुहृदं राजानमभिलक्ष्य पद्मावतीविषये विविधान् वितर्कानुपक्षिपति विदूषकः—**कहिं णु खु** इति। लतामण्डपं समन्ततो लताभिराच्छन्नं स्थलं कुञ्जमिति यावत्। क्व तावत्पूज्या पद्मावती प्रस्थिता भवेत्? कुञ्जं

से देख कर जब कि मेरी विचित्र दशा हो रही थी, कामदेव ने अपने पाँचों बाण मेरे ऊपर गिराये। उनसे मेरा हृदय अभी तक निष्कटक नहीं ही हुआ कि फिर भी हम वेधे गये। जब कि कामदेव के पाँच ही वाण हैं, तब यह छठा वाण उसने कहाँ से फेंका?॥ १॥

विदू०—माननीया पद्मावती कहाँ भला गईं, कुञ्ज में गई हों, अथवा बाघ की खाल से

मण्डवं गदा भवे, उदाहो असणकुकुमसञ्चिदं वग्धचम्मावगुण्ठदं विअ पव्वदतिलअं णाम सिलापट्टअं गदा भवे, आदु अधिअकडुअगन्धसत्त-च्छदवणं पविट्ठा भवे, अहव आलिहिदमिअपक्खिसङ्कुलं दारुपव्वदअं

उताहो असनकुसुमसञ्चितं व्याघ्रचर्मावगुण्ठितमिव पर्वततिलकं नाम शिलापट्टकं गता भवेत्, अथवा अधिककटुकगन्धसप्तच्छदवनं प्रविष्टा भवेत्, अथवा आलिखितमृगपक्षिसङ्कुलं दारुपर्वतकं गता भवेत्। ही!

गता स्यादित्येको वितर्कः। वितर्कान्तरमाह—**उदाहो** इति। उताहो अथवा, 'आहो उताहो किमुत' इत्यमरः, असनकुसुमसञ्चितम्, असनानां सर्जकवृक्षाणां, 'सर्जकाऽसनबन्धूके'त्यमरः, कुसुमैः पुष्पैः सञ्चितं व्याप्तम्, अत एव व्याघ्रचर्माव-गुण्ठितं शार्दूलचर्माच्छादितमिव, तद्वत्प्रतीयमानमिति यावत्, पर्वततिलकं नाम-तन्नामधेयं पर्वतशिखरं, तिलकस्योर्ध्वस्थानीयत्वादत्र तत्पदेन शिखरं गृह्यते, शिलापट्टकम् उपवेशनयोग्यं चतुष्कोणं शिलाखण्डम्। व्याघ्रचर्माणीव प्रतीय-मानानि सर्जकपुष्पाणि यत्र भूयः समन्तात्प्रसृतानि वर्तन्ते, तादृशं शैलशिखरस्थं पर्वततिलकनामकं शिलाशकलमुपवेष्टुं प्रयाता स्यात्किमु? पुनस्तृतीयं वितर्कं दर्शयति—**आदु** इति। अधिककटुकगन्धसप्तच्छदवनम्, अधिकं कटुकोऽतिकटु-र्गन्ध आमोदो येषां तादृशां सप्तच्छदानां सप्तपर्णवृक्षाणां वनं तत्प्रचुरं स्थलमिति यावत्, प्रविष्टा तदन्तर्गता। पुष्पसुगन्धिसप्तपर्णपादपव्राताऽऽवृतं स्थलविशेषमा-श्रिता वा स्यात्? चतुर्थमन्यं वितर्कं कलयति—**अहव** इति। आलिखितमृग-पक्षिसङ्कुलम्, आलिखितैश्चित्ररूपेण विन्यस्तैः मृगैः पशुभिः पक्षिभिश्च सङ्कुलं, पूर्णम्, दारुपर्वतकं काष्ठनिर्मितं पर्वतप्रतिकृतिम्, 'इवे प्रतिकृता'विति कन्। चित्रलिखिता यत्र भूयांसः पशुपक्षिणो विलसन्ति, तं कृत्रिमकाष्ठमयपर्वतं प्रस्थिता भवेत्किंवा? एतादृशो विकल्पानुद्भाव्य सुहृन्मनोविनोदाय विषयान्तरमाश्रयन्

मढे हुए की भाँति रंग-विरंगी असन के फूलों से लदे हुए पर्वततिलक नामक पत्थर की चौकी पर गई हों, या उत्कट—गन्धवाली छतिवन (सप्तपर्ण) के वन में गई हों, किंवा जहाँ पशु और पक्षियों के चित्र लिखे हैं, उस लकड़ी के पहाड़ पर गई हों। (ऊपर देखकर) अहा हा!

गदा भवे। [ऊर्ध्वमवलोक्य] ही! ही! सरअकालणिम्मले अन्तरिक्खे पसारिअबलदेववाहुदंसणीअं सारसपन्तिं जाव समाहिदं गच्छन्तिं पेक्खदु दाव भवं।

राजा—वयस्य! पश्याम्येनाम्,

ऋज्वायतां च विरलां च नतान्नतां च सप्तर्षिवंशकुटिलां च निवर्तनेषु।

ही! शरत्कालनिर्मलेऽन्तरिक्षे प्रसारितबलदेवबाहुदर्शनीयां सारसपङ्क्तिं यावत् समाहितं गच्छन्तीं पश्यतु तावद् भवान्।

दत्तोर्ध्वदृष्टिः सन् वदति—ही ही इति। ही हीति प्रसन्नतासूचकम्। अत्र वाक्ये यावत्तावत्पदे वाक्यालङ्कृतये प्रयुक्ते। अन्तरिक्षे आकाशे, प्रसारितवलदेववाहुदर्शनीयाम्, प्रसारितौ विस्तारितौ वलदेवस्य वलरामस्य बाहू भुजाविव दर्शनीयां मनोहराम्, 'पसादिअ' इति पाठे प्रसादितौ प्रसादं नैर्मल्यं प्रापितावित्यर्थः, समाहितं सावधानं सम्यग्रूपेण सुन्दरं यथा स्यात्तथा, गच्छन्तीं चलन्तीं सारसपङ्क्तिं सारसाख्यपक्षिविशेषश्रेणिम्। शरत्समयनिर्मलाकाशप्रदेशशालिनां पङ्क्तिवन्धेन सुन्दरं गच्छतां बलदेवबाहुसदृक्षाणां सारसपक्षिणां यूथं दृश्यतामिदानीं भवता। कथमेतन्मनोहरं दृश्यते। तदिदमक्ष्णोर्लक्ष्यतामानीय क्षणं मनो विनोदनीयं नेत्रे च सफलयितव्ये इति भावः।

ततो राजा ब्रूते—वयस्येति। विदूषकदर्शितां सारसश्रेणिमुद्दिश्य 'एना'मिति निर्देशः। अन्वादेश इदम एनादेशः। मित्र! विलोकयेऽहं त्वत्सूचितां सारसपङ्क्तिमिमां गगनाङ्गणे।

निगद्येदं तामेव सारसपङ्क्तिं विवर्णयिषुर्विशिनष्टि पद्येन—ऋज्वायतामिति। अत्र पूर्वार्धे चत्वारश्चकाराश्चत्वारि विशेषणानि समुच्चिन्वन्ति। ऋज्वायताम्, ऋजुः सरला आयता दीर्घा च तां घनामिति यावत्, विरलां क्वचन मध्ये

शरद् ऋतु के कारण निर्मल आकाश में फैलाई हुई वलरामजी की भुजाओं की तरह सुन्दर सारस-पक्षियों की इस पंक्ति को आप देखें कि वह कैसी सुन्दरता से जा रही है।

राजा—मित्र! इसे देखता हूँ।

यह कहीं सीधी है, कहीं फैली है, कहीं विरल है और ऊँची नीची है। जब कहीं मुड़ती

निर्मुच्यमानभुजगोदरनिर्मलस्य सीमामिवाम्बरतलस्य विभज्यमानाम्॥२॥

चेटी—(क) पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ एदं कोकणदमाला-

(क) पश्यतु पश्यतु भर्तृदारिका एतां कोकनदमालापाण्डररमणीयां

मध्ये स्थितां, नता च उन्नता च तां नतोन्नतां बन्धुरां नीचोच्चप्रदेशेषु विद्यमानां, निवर्तनेषु वामदक्षिणयोस्तिर्यग् विवलनेषु, सप्तर्षिवंशकुटिलां सप्तर्षिवंशस्तदाख्य-तारकामण्डलं तद्वत्कुटिलां वक्राकारेण स्थिताम्। पुनस्तामेवोत्प्रेक्षते–निर्मुच्यमा-नेति। निर्मुच्यमानो मुच्यमानकञ्चुकः कञ्चुकहीन इति यावत्, यो भुजगः सर्पः तदुदरवन्निर्मलस्य स्वच्छस्य, अम्बरतलस्य गगनाङ्गणस्य विभज्यमानां क्रियमाणविभागां घनविरलत्वादिरूपेण पार्थक्यं दर्शयन्तीं, सीमां मर्यादां विभागसूचिकां रेखामिव, तदाकारतया प्रतिभान्तीम्, 'एनां पूर्वोक्तां गगनस्थां सारसपङ्क्तिमहं पश्यामो'ति पूर्वेणान्वयः। सारसपङ्क्तिश्चेयं गगनभागे गतिविशेषकौशलं दर्शयन्ती क्वचिद् घना क्वचिद्विरला क्वचनोन्नता क्वचिच्चावनता दृश्यते। यदा च कुत्रचित्पार्श्वतो विवलनं कुर्वती कुटिलां गतिमालम्बते, तदा तु वक्रसन्निवेशेन सप्तर्षितारकामण्डलेन सादृश्यं लभते। शङ्के, गगनस्य मानसूचिका विभागप्रदर्शिका सेयं सीमेव समुद्भासत इति। कविनात्र शरत्समागमान्निर्मलं मेघनिर्मुक्तमाततं चाकाशं निर्मुक्तसर्पोदरेणानुमितम्। वसन्ततिलकानाम वृत्तम्, लक्षणमुक्तं प्राक्॥२॥

इतो राजा विदूषकसूचनानुसारं सारसावलिमित्थं वर्णयति। ततश्च पूर्वतः प्रविष्टा चेट्या समं सवासवदत्ता पद्मावती प्रमदवनैकदेशे यथासुखं पर्यटन्ती वर्तते। तत्र तावच्चेटी तामेव सारसपङ्क्तिं गगनाङ्गणभूषायमाणामुद्वीक्ष्य राजकुमारीं पद्मावतीं प्रतीत्थं तन्निरीक्षणमुद्दिश्य वचोऽभिधत्ते-**पेक्खदु** इति। अत्र पेक्खदु पेक्खदु इत्यसौ द्विरुक्तिरादरार्था। कोकनदमालापाण्डररमणीयाम्, कोकनदानां श्वेतकमलानां माला पङ्क्तिः स्रग् वा सेव पाण्डरा श्वेता रमणीया मनोहरा च ताम्, 'विशदश्वेतपाण्डराः' इत्यमरः। इदं च सारसपङ्क्तेर्विशेषणम्। यद्यपि 'रक्तोत्पलं कोकनद'मिति कोषानुरोधात्कोकनदशब्दो रक्तकमलार्थस्य वाचको विद्यते,

---

है तो ठीक सप्तर्षियों के मण्डल की भाँति टेढा मेढ़ा भी हो जाती है। अत एव तत्काल ही केंचुली छोड़ने वाले साँप के पेट की तरह स्वच्छ आकाश के–पृथग् विभाग के रूप से स्पष्ट होने वाली–सीमा की भाँति प्रतीत होती है॥२॥

दासी—राजकुमारी! देखिये, श्वेतकमल की माला के समान धवल और सुन्दर तथा

पण्डररमणीअं सारसपन्तिं जाव समाहिदं गच्छन्तिं। अम्मो ! भट्टा।

पद्मावती—(क) हं ! अय्यउत्तो। अय्ये ! तव कारणादो अय्यउत्तदंसणं परिहरामि। ता इमं दाव माहवीलदामण्डवं पविसामो।

सारसपङ्क्तिं यावत् समाहितं गच्छन्तीम्। अहो ! भर्ता।

(क) हम् ! आर्यपुत्रः। आर्ये ! तव कारणादार्यपुत्रदर्शनं परिहरामि। तदिमं तावन्माधवीलतामण्डपं प्रविशामः।

तथापि प्रसङ्गानुरोधादौचित्याच्च सोऽयं श्वेतकमलरूपमर्थं बोधयत्यत्र। यावत्पदं वाक्यालङ्कृतौ। 'समाहितं गच्छन्ती'मित्यस्यार्थः प्रागुक्तः। श्वेतकमलमालेव श्वेततां सुन्दरतां च बिभ्राणा सारसश्रेणिरियं गतिविषये सौष्ठवं प्रकटयन्ती दर्शनपथं नेतव्या सादरमिदानीं श्रीमत्या राजकुमार्येत्यर्थः। इतस्ततोऽक्षिणी निक्षिपन्ती तदनु सहसा तत्रैव समीपे भर्तृदारिकायाः पद्मावत्याः प्रियतमं नायकमवलोक्य तां दर्शयन्ती साश्चर्यमाह—**अम्मो** इति। भर्ता पतिः, अर्थात्पद्मावत्याः। अत्रोपगत इति शेषः। अयं तावद्भर्तृदारिकायाः प्राणप्रियः प्रियः प्रदेशेऽस्मिन् समागतः। किमधुना प्रतिपत्तव्यमस्माभिरिति भावः।

प्रियदर्शनाल्लज्जमाना ससङ्कोचं वदति पद्मावती—**हम्** इति। हमिति सङ्कोचमन्तर्गतं ध्वनयति। अहो ! श्रीमान् पतिर्देवोऽयमत्रैवोपगत इत्यर्थः। ततस्तदानीं करणीयं निवेदयत्यावन्तिकाम्। **अय्ये** इति। तव कारणात् त्वदर्थम्, आर्यपुत्रदर्शनम्, आर्यपुत्रकर्तृकमस्मत्कर्मकं दर्शनम् परिहरामि वर्जयामि। अयि ! मान्ये ! त्वं तावत्परपुरुषं द्रष्टुं नेहसे, भर्ता च मे समीप एव सम्प्रति वर्तते। दैववशादुपस्थितस्यैतस्य दर्शनं तु परं स्पृहयाम्यहम्। परमस्माकं तत्सांमुख्ये सति सञ्जाते ते नियमो भज्येत। अतस्तदर्थं कमप्युपायमाचरामि, येन सोऽयमस्मान् विलोकयितुं न पारयेदित्याशयः। तमेव चिन्तितमुपायं दर्शयति—**ता** इति। तत् तस्मात्कारणात्, तावच्छब्द एवार्थकः। इमं समीपतो दृश्यमानम्। आर्यपुत्रदर्शनं परिहर्तुं वासन्तीलताकुञ्जमेव समीपवर्तीदं प्रविश्यतामस्माभिः।

सावधानी से जाती हुई इस सारसों की पंक्ति को देखिये। अरे ! स्वामी (आ पहुँचे)।

पद्मा०—हे, आर्यपुत्र। आर्ये ! तुम्हारे लिये (आर्यपुत्र हमलोगों को न देख सकें इसलिये) आर्यपुत्र के दर्शन को त्यागती हूँ। तो इस माधवीलता के मण्डप में जाँय।

वासवदत्ता—(क) एव्वं होदु ।

[तथा कुर्वन्ति ।]

विदूषकः–(ख) तत्तहोदी पदुमावदी इह आअच्छिअ णिग्गदा भवे ।

राजा—कथं भवान् जानाति ?

(क) एवं भवतु ।

(ख) तत्रभवती पद्मावतीहागत्य निर्गता भवेत् ।

कुञ्जेऽस्मिन् प्रविष्टा वयं प्रच्छन्नरूपेण स्थितास्तद्विलोचनपथस्य नैवातिथीभविष्याम इत्यतस्तदेव कुञ्जं सत्वरं शरणीयकरणीयमिति भावः । एवं किल करणे पद्मावत्या मानसं तात्पर्यमेतदप्यासीद्, यदत्र गूढस्थितया मया निर्बाधं विस्रम्भभाषितं भर्तुः श्रोतुं लभ्येत ।

सम्मतिमत्रार्थे दर्शयत्यात्मन आवन्तिका—**एव्वम्** इति । एवं कुञ्जेऽत्र प्रवेश इति यावत् । सुष्ठूक्तं त्वया, समयोचितं वासन्तीकुञ्जं गच्छामेत्यर्थः ।

तत्र तासां सर्वासां प्रवेशमाह—**तथा कुर्वन्तीति** ।

पद्मावतीप्रभृतीनामित्थं लताकुञ्जप्रवेशं प्रदर्श्य प्रियाविरहकातरस्य राज्ञो वृत्तं वर्णयिष्यन्विदूषकोक्तिमवतारयति कविः—**तत्तहोदी** इति । अयि ! मित्र ! प्रदेशमिममालक्ष्य समयेऽस्मिन्ननुमानमेवं भवति मे, यदत्र पद्मावत्या श्रीमत्या समागत्य कियच्चिरं भवत्प्रतीक्षया स्थित्वा ततो निराशया प्रस्थितं स्यादित्यर्थः । राज्ञः कृते चिरात्पद्मावत्या मार्गणे लग्नो विदूषकः क्वापि तामपश्यन्नत्र तदागमनचिह्नं किञ्चिदुपलभ्य तदौपयिकं सतर्कं वचनमिदं प्रायुङ्क्त ।

निशम्येदं वचो राजा तं पृच्छति—**कथमिति** । कथं केन लक्षणेनेति यावत् । पद्मावत्या इहागमनमितो निर्गमनं च पुनः केन लक्षणेन ज्ञायते त्वया ? पूर्वोक्तानुमानसाधकोऽत्र कस्तावत्तवानुकूलस्तर्कः ?

वासव०—ऐसा ही हो ।

(लतामण्डप में प्रवेश करती है ।)

विदू०—माननीया पद्मावती यहाँ आकर चली गई होंगी ।

राजा—तुम कैसे जानते हो ?

विदूषकः—(क) इमाणि अवइदकुसुमाणि सेफालिआगुच्छआणि पेक्खदु दाव भवं।

राजा—अहो! विचित्रता कुसुमस्य वसन्तक!।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ख) वसन्तअसङ्कित्तणेण अहं पुण जाणामि उज्जइणीए वत्तामि त्ति।

(क) इमानपचितकुसुमान् शेफालिकागुच्छान् प्रेक्षतां तावद् भवान्।
(ख) वसन्तकसङ्कीर्तनेनाहं पुनर्जानामि उज्जयिन्यां वर्त इति।

तदेव स्वकीयानुमानकारणं प्रकाश्यते विदूषकेण—**इमाणि** इति। अत्र शेफालिगुच्छकानुद्दिश्य तत्रापचितकुसुमत्वं विधेयम्। अपचितकुसुमान्, अपचितानि विध्वंसितानि त्रोटितानीति यावत्, कुसुमानि येभ्यस्तान्, गुच्छः स्तबकः, स्वार्थे कः, 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तवकः' इत्यमरः। तावदिति वाक्यालङ्कारे। इदमिदानीं निरूपयतु श्रीमान्, यदमीभ्यः शेफालिकाप्रसूनस्तवकेभ्यः प्रसून्यान्यपगतानि सन्ति। श्रीमतीं पद्मावतीं विना प्रमदवनादस्मात्पुष्पाणि केनापि न शक्यन्ते ग्रहीतुम्। अतस्तदागमनमत्राहं तर्कयामीति भावः।

विदूषकस्य तर्केऽस्मिन् किमप्यनुक्त्वा मनसैव तत्रानुमतिं कलयंस्तत्प्रसूनसौन्दर्यं प्रशंसति राजा—**अहो** इति। विचित्रता अनेकवर्णता सुन्दरतेति यावत्, अस्तीति शेषः। कुसुमस्येति जातावेकवचनम्। अयि! सखे! वसन्तक! कथमेतानि पुष्पाणि विचित्राणि मनोहारीणि दृश्यन्ते?

विदूषकमुद्दिश्य राज्ञा प्रयुक्तं 'वसन्तके'ति सम्बुद्धिपदमुज्जयिन्यां स्थितिसमये बहुशः श्रुतमासीद्वासवदत्तया। अद्य किल चिरात्तदेव पदं तं प्रति प्रियेण प्रयुक्तं निशम्य तया पुरातनसमयस्मरणं कुर्वत्या विमोहेन स्वगतं चिन्त्यते—**वसन्तअ** इत्यादि। सङ्कीर्तनं नामग्रहणम्, पुनःपदं वाक्यशोभायाम्, जानामि मन्ये सम्भावय इति यावत्। प्रियतमेन विहितं वसन्तकनामग्रहणमिदं पूर्वकालिकमुज्जयिनी-

---

विदू०—आप इन हरसिगार के गुच्छों को देखें, जिनमें से फूल चुन लिये गये हैं।
राजा—वसन्तक! क्या ही रंग-विरंगे फूल हैं।
वासव०—(स्वगत) वसन्तक का नाम लेने से तो मुझे मालूम पड़ता है कि मैं उज्जयिनी में ही हूँ।

राजा—वसन्तक ! अस्मिन्नेवासीनौ शिलातले पद्मावतीं प्रतीक्षिष्यावहे।

विदूषकः—(क) भो ! तह । [उपविश्योत्थाय] ही ! ही ! सरअकालतिक्खो दुस्सहो आदवो । ता इमं दाव माहवीमण्डवं पविसामो ।

(क) भोस्तथा । ही ! ही ! शरत्कालतीक्ष्णो दुस्सह आतपः । तदिमं तावन्माधवीमण्डपं प्रविशावः ।

वासमस्मिन्काले स्मारयति माम्, तदानीं बहुशस्तथानुभवादिति भावः ।

पुना राजा विदूषकमाह—**वसन्तकेति** । अस्मिन् समीपवर्तिनि, शिलातले दृषत्फलके । आसीनावुपविशन्तौ, 'आसु उपवेशने' इत्यतः शानचि 'ईदासः' इत्यनेन तस्य ईत्त्वम् । 'प्रतीक्षिष्यावहे' इति विध्यर्थे लृट्, 'प्रतीक्षावहै' इति तदर्थः । एतदेव समीपस्थं दृषत्फलकमुपविश्यावाभ्यां पद्मावती प्रतीक्षणीया । तदागमनमत्र सम्भाव्यते पुनः । अतस्तावत्कालपर्यन्तमत्रैवावस्थितिरावयोः साम्प्रतमित्याशयः ।

मित्रवरेण राज्ञा चिकीर्षितं शिलातलोपवेशं प्रति स्वीयामनुमतिं प्रदर्शयन् ब्रूते विदूषकः—**भो इति** । तथा साधु । राजन् । भवत्प्रस्तावोऽयमनुमोद्यते मया, शिलातलेऽस्मिन्नुपवेष्टव्यमावाभ्यामित्यर्थः । ततस्तत्र शिलातले क्षणमुपविश्य शरदातपसन्तापमनुभवन्नुत्थाय पुनराह—**ही ही** इति । ही हीति दुःखसूचकम् । शरत्कालतीक्ष्णः शरत्समयसम्बन्धात्तीव्रः, अत एव दुःसहः दुःखेन सोढुं शक्यः, 'ईषद्दुःसुषु' इत्यादिना खल् । तदित्यव्ययं हेत्वर्थे, तावदिति वाक्यालङ्कृतौ । 'प्रविशाम' इति लटः प्रयुक्तिर्विध्यर्थे । हन्त ! बाधन्ते भृशं तीव्रतराः शारदविभाकरांशवः सम्प्रति । अत्र किलातपतापान्न स्थातुं शक्यते किञ्चित् । अतः सन्निकृष्टैतद्वासन्तीलताकुञ्जाभ्यन्तरमेव गन्तव्यमिति भावः । अत्र वर्षापगमादनन्तरमुल्लसतः शारदोष्मणस्तापकारित्वं त्वनुभवसंवेद्यम् । अस्य च ग्रीष्मोष्मण इवाऽतीव दुःसहत्वं नास्ति, परं तदपेक्षया किञ्चिन्यूनदुःसहत्वं तावन्नापरोक्षम् ।

राजा—वसन्तक ! इसी पत्थर की चौकी पर बैठ पद्मावती की हम लोग प्रतीक्षा करें ।

विदू०—जी ! ठीक है (बैठ और फिर उठकर) ही ! ही !! शरद्-ऋतु का कड़ा घाम असहनीय है । इसलिये इस माधवी-कुञ्ज के मण्डप में चलें ।

राजा—बाढम् , गच्छाग्रतः ।

केचिदत्र महानुभावाः—प्रमदवने च्छायावहुले ऊष्मण उपलम्भविषये सम्भवत्कारणान्तरमूहितुमशक्नुवता विदूषकेण तत्रोष्मणि कृते दुःसहातपजनितत्ववर्णनेऽस्मिन्नसङ्गतत्वं भण्डतानुरूपतया कल्पितत्वं स्वव्याख्यायामुल्लिखन्ति । तत्र तावद्विचारणीयं सहृदयैः—यदि नाम शिलातले दुःसह्योष्णतासद्भावमुद्दिश्य राज्ञा ततः प्रदेशान्तरगमनप्रस्तावोऽकरिष्यत, विदूषकेण पुनस्तत्र वियोगजनितत्वादि कारणान्तरं तर्कयितुमपारयता मन्दबुद्धिना सौरातपजनितत्वमकल्पयिष्यत; ततो जातु विदूषकोक्तौ तस्यामसङ्गतत्वेन भण्डतानुरूपकल्पनारोपेण च पूर्वोक्तेन सङ्गतेनाऽभाविष्यत । अत्र तु नैतादृक् प्रसङ्गः । विदूषकेण किल शिलातिले समुपविष्टेन शारदातपस्य दुःसहत्वं वर्णयित्वा ततोऽन्यत्र गमनप्रस्तावो राज्ञः पुरस्तादुपस्थापितोऽत्र । इत्थं सति, न ज्ञायते, विदूषकेण सूचितमनुभवगोचरीकृतमूष्मणि दुःसहातपजनितत्वं नाम कारणमसङ्गतं मत्वा महानुभावैस्तत्र तैः कारणान्तरकल्पनायाः का वावश्यकता सम्भाविता ? प्रत्युत सम्भावितं किमपि कारणान्तरमेवाऽसङ्गतं प्रतिभायात्प्रत्यक्षापलापेन । प्रच्छायशीतलप्रमदवनसमीपवर्तिन्यमुष्मिन् शिलातले तादृशातपोपलम्भसम्भवो न्यून एवेति ततः स्थानान्तरप्रस्थानविधौ कारणत्वेन कल्पितामूष्मोपलब्धिमन्तरेण कारणान्तरस्य कल्पना तु करणीया स्यात्, किन्तु साऽप्यापातरमणीयैव नूनम् । नात्रोपलभ्यते पद्मावती, माधवीमण्डपे पुनस्तदवाप्तिः सम्भवतीत्यभिप्रायेण विदूषकेण पद्मावतीवियोगविकलं तत्र स्थले विमनायमानं राजानं सखायमुद्दिश्य ततः स्थानान्तरगमने तदीयवियोगवैकल्यादिकारणप्रदर्शनमनुचितं दुःसाहसं च मन्यमानेन बुद्धया तदेव दुःसहातपसन्तापरूपं कारणमुपन्यस्तं पर्यायोक्तविधया । विचित्रवचसो विदूषकस्य दोषवहुलेऽपि वचने क्वचित्कोऽपि कदाचिद् गुणोऽपि सम्भवति । अत्र चेदं व्यङ्ग्यार्थसुन्दरं वचो विदूषकस्य समयोचितकारितां बुद्धिमत्तां च भूयसीमाविष्करोतीत्यलमधुनाऽप्रसक्तानुप्रसक्त्या ।

बाढमिति । वाढं शोभनं स्वीकृतमिति यावत्, अर्थात्त्वदुक्तम् । अग्रतो गच्छेति मार्गप्रदर्शनाभिप्रायकम् । अयि ! सखे ! माधवीमण्डपप्रवेशप्रस्तावस्त्वया समीचीनः कृतः, अनुमतोऽयं मे । मार्गप्रदर्शनार्थं पुनस्त्वमग्रतो गच्छेः, अहन्तु त्वामनुगन्तुमुद्यतोऽस्मीत्यर्थः । मण्डपे तत्र पद्मावत्या दर्शनं सम्भवतीति राज्ञा विदूषकोक्तमनुमोदितम् ।

राजा—अच्छा, आगे चलो ।

विदूषकः—(क) एव्वं होदु ।

[उभौ परिक्रामतः ।]

पद्मावती—(ख) सव्वं आउलं कत्तुकामो अय्यवसन्तओ । किं दाणिं करेह्म ?

(क) एवं भवतु ।

(ख) सर्वमाकुलं कर्तुकाम आर्यवसन्तकः । किमिदानीं कुर्मः ।

एव्वम् इति । 'अग्रतो भूयते मया, त्वया च सखे ! मन्मार्गोऽनुगन्तव्य' इत्येवं विदूषकवचसोऽभिप्रायः ।

'उभौ परिक्रामतः' इत्यनेन द्वयो राजविदूषकयोर्माधवीलतामण्डपमुद्दिश्य गमनं सूचितम् ।

प्रमदवनमागतं प्रियतमं प्रेक्ष्य पुरा पद्मावती परपुरुषदर्शनं परिहरन्त्या आवन्तिकायाः कृते स्वरूपगोपनक्षमं सह तया माधवीमण्डपं प्रविशति स्मेति पूर्वं प्रतिपादितम् । परं यदेव राजदर्शनं परिहर्तुं तदानीं तया शरणीकृतमासीत्कुञ्जम् , तत्रापि तदिदानीं दैववशादुपस्थितं भवतीति तत्र स्वकीयप्रयत्नवैफल्यं दर्शयन्ती चिन्तां नाटयति पद्मावती—**सव्वम्** इति । सर्वं पद्मावतीरक्षणौपयिकं मत्कृतं सकलं प्रयत्नमिति यावत्, आकुलं कर्तुकामः विघातयितुं विफलतां नेतुमुद्यतः । मत्समीपे न्यासरूपेण स्थापितायाः श्रीमत्या आवन्तिकायाः प्रच्छन्नरूपाया राजदर्शनपरिहारार्थमद्ययावन्मया यो यः प्रयत्न आचरितः, स किल सकलो हन्त ! वैफल्यं नीयते सम्प्रति कुञ्जेऽस्मिन् राजानं प्रवेशयितुमिच्छता श्रीमद्विदूषकेण । किमधुना विधेयम् ? सहसोपनतमिदं पुना राजदर्शनं परिहर्तुं कस्तावदुपायः समाश्रयणीयः ? अहो ! किङ्कर्तव्यमूढा बुद्धिर्मे, किमपि समयेऽस्मिन्न स्फुरतीति भावः । सर्वथाऽभीष्टमपि प्रियदर्शनं भविष्यदुपेक्ष्य पुनस्तत्परिहारे किमप्युपायान्तरमन्विष्यन्त्याऽत्र पद्मावत्या सर्वतः स्वात्मनो निक्षेपरक्षणक्षमत्वं स्वीकृतपरिपालनकौशलं च सुस्पष्टं प्रकटीकृतम् ।

विदू०—ऐसा ही हो ।

(दोनों परिक्रमा करते हैं ।)

पद्मावती—आर्य वसन्तक सभी (बना बनाया खेल) बिगाड़ना चाहते हैं । अब हम लोग क्या करें ?

चेटी—(क) भट्टिदारिए! एदं महुअरपरिणिलीणं ओलम्बलदं ओधूय भट्टारं वारइस्सं।

पद्मावती—(ख) एव्वं करेहि।

[चेटी तथा करोति।]

(क) भर्तृदारिके! एतां मधुकरपरिनिलीनामवलम्बलतामवधूय भर्तारं वारयिष्यामि।

(ख) एवं कुरु।

तदानीं करणीयं राजदर्शनपरिहारोपायं निरूपयति चेटी—**भट्टिदारिए** इति। मधुकरपरिनिलीनाम्, मधुकरा भ्रमराः परिनिलीनाः पुष्परसपानार्थं निश्चलतया समन्ततोऽवस्थिता य त्र ताम्। क्तान्तस्य पूर्वनिपाते युक्तेऽपि परिनिलीनशब्दस्य परनिपातोऽत्र कथञ्चिदग्न्याहितादिवत् समाधेयः। परिनिलीनमधुकरामिति युक्तं पठितुम्। अथवा—मधुकरैः परिनिलीनां व्याप्तामित्यर्थः करणीयः। अवलम्बलताम्, पद्मावत्या इतरासां वा लतानामाश्रयभूतां वल्लीम्। यस्या अधस्तात्पद्मावत्युपविष्टा, यां वावलम्ब्येतरा लता अवस्थिताः सन्ति, तां लतामित्यर्थः। अवधूय कम्पयित्वा, भर्तारं भवत्याः प्रियं पतिं राजानं, वारयिष्यामि अर्थात्कुञ्जान्तः प्रवेशात्। अयि! राजकन्ये! न किल कोऽपि चिन्ताया अवसरः। मधुपाननिश्चलभ्रमरपूर्णा येयमाश्रयभूता लता वर्तते तामहं कम्पयामि। एतेन तावत्—एकत्रावस्थिता भ्रमराः सर्वतः प्रसरिष्यन्ति, त एव भवदीयं पतिं कुञ्जान्तःप्रवेशोद्यमान्निवारयिष्यन्तीत्यर्थः। परिचालितायां चैतस्यां लतायां तत्र परितः प्रसृत्य प्रवेशमार्गावरोधं करिष्यद्भ्यो भ्रमरेभ्यस्त्रासादेव नूनं भवत्याः पत्या नात्र प्रवेक्ष्यते। तत्तमेवैनमुपायं करोमीति भावः।

अत्रार्थे सम्मतिमाह स्वीयां पद्मावती—**एव्वम्** इति। त्वत्सूचितोऽयमुपायः सुन्दरो मयाऽनुमन्यते। एतदेव करणीयं त्वया करणीयमिदानीमित्यर्थः।

चेटी तथा करोतीति पूर्वोक्तं लताकम्पनं सूचितम्।

दासी—राजकुमारी! भौंरों से लदी इस शाखा को, जिसका सहारा आपने वा लताओं ने लिया है, हिलाकर मालिक को (आने से) रोकती हूँ।

पद्मा०—ऐसा ही करो।

(दासी वैसा ही करती है।)

विदूषकः—(क) अविहा अविहा, चिट्ठदु चिट्ठदु दाव भवं ।

राजा—किमर्थम् ?

विदूषकः—(ख) दासीएपुत्तेहिं महुअरेहिं पीडिदो ह्मि ।

राजा—मा मा भवानेवम् । मधुकरसन्त्रासः परिहार्यः ।

(क) अविह अविह, तिष्ठतु तिष्ठतु तावद् भवान् ।
(ख) दास्याः पुत्रैर्मधुकरैः पीडितोऽस्मि ।

पूर्वसूचितानुसारं माधवीलताकुञ्जाभ्यन्तरं प्रवेष्टुमुद्यतस्तत्र प्रवेशद्वारे भ्रमर-बाधामनुभवन् विदूषको राज्ञो गतिं निवारयन् ब्रूते—**अविहा** इति । अविहेत्य-व्ययं विषादसूचकम्, भृशार्थे च तस्यात्र द्विरुक्तिः । 'तिष्ठतु तिष्ठत्वि'ति द्विः-प्रयोगः सम्भ्रमं व्यनक्ति, तावद्वाक्यालङ्कृतौ । अहह ! महत्कष्टं समुपस्थितम् । स्वीयां गतिं निरुध्य स्थीयतामत्रैव भवता । न तावदितोऽग्रे समागन्तव्यम् ।

किमर्थमिति । किमिति नाग्रे समागन्तव्यं मया ? 'मद्गतिनिवृत्तौ किं तावदन्तर्गतं ते कारण'मिति तत्कारणं ज्ञातुमिच्छतो विदूषकं प्रति प्रश्नोऽयं राज्ञो निवर्तितगतेः ।

उत्तरं विदूषकस्य तदुपरि—**दासीएपुत्तेहि** इति । दास्याः पुत्रैरिति निन्दा-याम्, नीचैरिति तदर्थः । 'षष्ठ्या आक्रोशे' इत्यनेन चात्र षष्ठीविभक्तेर्न लुक् । अत्र किल परितो भ्रमन्ति भ्रमराः । एते च नीचास्त्रासयन्ति मामित्यर्थः । अत्र दास्याः पुत्रैरित्युक्त्या भ्रमरेषु कोपः सूचितो भवति विदूषकस्य । तेन च—'गतिमस्मदीयां निरुन्धतो बाधमानान्दुष्टानेतान्निवार्यैव शक्यतेऽन्तर्गन्तुम् । अतस्तावदत्रैव तिष्ठतु भवान्, यावदहमेतान्नीचान्निवारयामी'ति विदूषकोक्तेस्तात्पर्यमवगन्तव्यम् ।

भ्रमरोद्भूतां बाधामनुभूय ततो निवारणेन तान् भ्रमरान् बाधितुमिच्छन्तं विदूषकं तदुद्योगान्निवर्तयन् राजा ब्रूते—**मा मेति** । ब्रवीत्विति शेषः, मा मेति

विदू०—हाय ! हाय ! ठहरिये, जरा आप ठहरिये ।
राजा—क्यों ?
विदू०—इन दुष्ट भौरों से सताया जा रहा हूँ ।
राजा—नहीं नहीं, तुम ऐसा न कहो । भौरों को दुख नहीं देना चाहिये ।

पश्य,

मधुमदकला मधुकरा मदनार्ताभिः प्रियाभिरुपगूढाः।
पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ताः स्युः॥ ३॥

द्विरुक्तिर्निषेधं द्रढयति। एवं कोपयुक्तं वचनमिति यावत्। मधुकराणां सन्त्रासो मधुकरसन्त्रासः, अस्मत्कर्तृको मधुकरकर्मकस्त्रासविशेषः, परिहार्यः दूरीकार्यः, न कार्य इति यावत्। भ्रमरेष्वेवं सरोषं वचो न प्रयोक्तव्यं भवता। इतो निवार्य न चैतेऽस्माभिस्त्रासयितव्या इति भावः। तत्र कारणं दर्शयन्नाह–**पश्येति**। भ्रमर-पीडायाः परिहारे वक्ष्यमाणं कारणं जानीहीत्यर्थः। तथाहि—

मधुमदकला इति। मधुमदकलाः, मधुनः पुष्परसस्य, 'मधु मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः, मदः पुष्परसपानजन्मा मानसो विकारविशेषः, तेन कला अव्यक्तमधुराः, अव्यक्तमधुरं यथा तथा कूजन्त इति यावत्, तथा मदनार्ताभिः कामाकुलाभिः, प्रियाभिर्भ्रमरीभिः, उपगूढाः आश्लिष्टाः। विशेषणद्वयेन चैतेन भ्रमराणां परमानन्द-मग्नानां वियोजने कारणीभविष्यतो निवारणस्यात्यन्ताऽनुचितत्वं दर्शितम्। पूर्वो-क्तविशेषणविशिष्टा मधुकरा भ्रमराः, पादन्यासविषण्णाः, पादयोर्न्यासेन अस्मत्कृतेन लतामण्डपाभ्यन्तरे चरणयोर्निक्षेपेण करणेन विषण्णा विषादं प्राप्ताः पीडिताः सन्तः, वयमिव अहमिवेति यावत्, कान्तावियुक्ताः प्रियाविरहिताः, स्युर्भवेयुः सम्भाव-नायां लिङ्। भ्रमरैस्तावत्सम्प्रति प्रियासहचरैर्मकरन्दास्वादमग्नैरमन्दानन्दसन्दोहः समनुभूयते मञ्जु गुञ्जद्भिः। कुञ्जे च करिष्यमाणः प्रवेशोऽस्मदीयोऽयं नूनं ततः सम्भ्रमादितस्ततो भविष्यतो भ्रमरान्प्रियाभिर्वियोजयेत्। इत्थं सति अहमिव ते वियो-गवैकल्यं प्राप्स्यन्ति। न चैतत्कर्तुमुत्सहे पुनर्वियोगमहिमानं पूर्णतया जानन्निति भावः। अत्र च 'वयमिवे'त्यनेन विरहस्य दुःसहत्वं सूचयतो वत्सराजस्य वासव-दत्ताविषयो हृद्गतः परतरो विषादभावः सुविशदं व्यक्ततां नीतः। एतेन–कार्य-गौरवात् प्रियां नूतनां परिणीतवतोऽपि राज्ञः प्रेम वासवदत्तायां पद्मावत्यपेक्षया विशिष्टं दर्शितम्। पद्येऽस्मिन्नार्यावृत्तम्। तथा च तल्लक्षणम् 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या' इति॥३॥

मकरन्द-पान से मत्त भौंरे काम-पीड़ित प्रियाओं से आलिङ्गित होते हुए, पैर की आहट से दुखी हो हम लोगों की भाँति कान्ताओं से वियुक्त हो जायँगे॥ ३॥

तस्मादिहैवासिष्यावहे ।

विदूषकः—(क) एव्वं होदु ।

[उभावुपविशतः ।]

(क) एवं भवतु ।

इत्थमिदं कुञ्जान्तःप्रवेशानौचित्यं प्रदर्श्य तत्रैव शिलातलेऽवस्थितिं रोचयति राजा-**तस्मादिति** । तस्मात् पूर्वोक्तान्मधुकरत्रासपरिहाररूपात्कारणादिति यावत्, इहैव लतामण्डपाद् बहिः शिलातल एव, आसिष्यावहे उपवेक्ष्यावः । मधुकरत्रासभिया कुञ्जान्तः प्रवेष्टुं नोचितमित्यतोऽत्रैव शिलातलेऽवस्थितिं कृत्वा पद्मावत्या आगमनं प्रतीक्षणीयमावाभ्यामिति भावः ।

अत्रार्थे सम्मतिमाह स्वीयां विदूषकः-**एव्वमिति** । नूनमिमं कुञ्जान्तःप्रवेशाभिलाषं त्यक्त्वा शिलातल एवावस्थितिरिदानीं करणीयेत्यर्थः ।

द्वयोस्तत्रोपवेशं दर्शयति-**उभावुपविशत** इति । एतदनन्तरं **तणगणपतिशास्त्रि**कृतव्याख्याने **स्वप्नवासवदत्ते**ऽस्मिन् **'राजा-[अवलोक्य] पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् । नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता'** ॥ इत्यधिकः पाठो दृश्यते । तत्र च **रामचन्द्र**कृते **नाट्यदर्पणे**ऽनुमानोदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे 'पादाक्रान्तानी'ति पद्यस्योपलब्धेः पूर्वोक्तः पाठः सुचिरं प्रचाराभावादिदानीं भ्रंशं प्राप्तोऽनुमीयत इत्युक्तम् । यत्किमप्यास्ताम्, पाठोऽयं पूर्वमासीत् प्रचाराभावेन च चिराद् भ्रष्टः केनापि मध्ये प्रक्षिप्तो वेत्यत्र नेदानीं निर्णेतुं पार्यते । अत्रैतन्निवेशनमन्तरेणापि पूर्वापरग्रन्थसङ्गतिरविच्छिन्नैवास्तीति न काप्येतस्यावश्यकता प्रतीयते । समुचितप्रमाणोपलम्भाभावाच्च मूले तन्निवेशनं नोचितमिति केवलं सङ्ग्रहाभिलाषाल्लोकलोचनपदवीमानेतुं च पाठोऽयं व्याख्यायां प्रदर्श्यते । स्फुटमर्थावगतये च तद्व्याख्यानं यथा-तत्र च शिलातले समन्ततो दत्तदृष्टी राजा विदूषकेण सूचितचरं शिलातलगतमूष्माणमनुभवंस्तत्र स्वीयमनुमान-

---

इसलिये हम दोनों यहीं बैठें ।

विदू०—अच्छा, यही सही ।

(दोनों बैठते हैं ।)

चेटी—(क) भट्टिदारिए ! रुद्धा खु स्म वयं ।
पद्मावती—(ख) दिट्ठिआ उवविट्ठो अय्यउत्तो ।
वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (ग) दिट्ठिआ पकिदित्थसरीरो अय्यउत्तो।

(क) भर्तृदारिके ! रुद्धाः खलु स्मो वयम् ।
(ख) दिष्ट्योपविष्ट आर्यपुत्रः ।
(ग) दिष्ट्या प्रकृतिस्थशरीर आर्यपुत्रः ।

माह—**अवलोक्येत्यादि** । अवलोक्य समन्ततो दृष्टिं दत्त्वाऽनुभवोचितं विचार्येत्यर्थः । वदतीति शेषः । तदेवाह—**पादाक्रान्तानीति** । पुष्पाणि भूमौ पतितानि शेफालिकाप्रसूनानि, पादाक्रान्तानि पददलितानि चरणन्यासेन मृदितानि सन्ति, इदम् अस्मदाश्रयीभूतं शिलातलं च, सोष्म ऊष्मणा सहितम् उष्णमिति यावत्, वर्तते । अतो हेतोर्नूनं निःसंशयं, काचिदवला, इहात्र शिलातले, आसीनोपविष्टासीत्पूर्वम् । एवं चेत्सेयमधुना कुतो नोपलभ्यत इत्याशङ्क्याह—**मामिति** । मां दृष्ट्वा अत्रागच्छतो मे दूराद्दर्शनं कृत्वा, सहसाऽकस्मादितः प्रदेशात्क्वापि गता पलायिता । अत्र च पुष्पाणां पददलितत्वेन समन्ततः प्रान्तेऽस्मिन्सञ्चरणं, शिलातल ऊष्मोपलब्ध्या च पूर्वमत्रोपविश्याऽचिरादित उत्थानं च कस्याश्चिदवलाया अनुमीयते । सम्भाव्यते च मद्दर्शनपरिहाराय तया कुत्रापि पलायितं स्यादिति भावः ।

तत्र द्वारान्तिक एव तयोर्द्वयोरुपवेशान्निर्गमनप्रतिरोधं स्वीयं सम्भावयन्त्याह चेटी पद्मावतीम्—**भट्टिदारिए** इति । खलु निश्चये, स्मेति वाक्यपूरकम् । अयि ! राजकन्ये ! एतयोः श्रीमद्राजविदूषकयोरत्र शिलातले सम्प्रत्युवेशेन सर्वा वयं कुञ्जेऽस्मिन् प्रतिरुद्धाः सञ्जाताः । तद्दृष्टिपरिहारेण नेतो निर्गन्तुं शक्यतेऽस्माभिरिति ।

अत्रावरुद्धभावेऽप्यात्मन आनुकूल्यं दर्शयति पद्मावती—**दिट्ठिआ** इति । दिष्ट्या दैवेन । आर्यपुत्रः श्रीमान् मे प्रियतमस्तावदत्रैव शिलातले समुपविष्टो न किलान्तः प्रविष्ट इत्येतदस्माकं सौभाग्यम् । संवृत्ते च कुञ्जान्तःप्रवेशे तस्य दर्शनं नूनमनिवार्यम्, तत्तु नापतितमित्येतन्नियतं सुदैवेन सञ्जातमिति भावः ।

प्रियदर्शनसौभाग्यं सहसेदं लब्ध्वा सानन्दं मानसं वचनमुद्गिरति वासवदत्ता—**दिट्ठिआ** इति । प्रकृतिस्थशरीरः, प्रकृतिस्थं स्वस्थं नीरोगं शरीरं वपुर्यस्य सः ।

दासी—राजकुमारी ! हम लोग यहाँ पर रोकी गई ।
पद्मा०—भाग्य से आर्यपुत्र (वहीं) बैठ गये ।
वासव०—(स्वगत) बड़ा ही सौभाग्य है कि स्वामी शरीर से स्वस्थ हैं ।

चेटी—(क) भट्टिदारिए ! सस्सुपादा खु अय्याए दिट्ठी !

वासवदत्ता—(ख) एसा खु महुअराणं अविणआदो कासकुसुम-रेणुणा पडिदेण सोदआ मे दिट्ठी ।

(क) भर्तृदारिके ! साश्रुपाता खल्वार्याया दृष्टिः ।

(ख) एषा खलु मधुकराणामविनयात् काशकुसुमरेणुना पतितेन सोदका मे दृष्टिः ।

अस्तीति शेषः । अतिचिराद् दृष्टिगोचरतां गच्छतः श्रीमतः प्रियतमस्य शरीर-मद्येदं दैवात्स्वस्थं दृश्यते । विरहावस्थायामस्वस्थता भृशं सुलभापि प्रेयांसमेनं न सा समाक्रान्तवतीति महत्सौभाग्यं ममेत्यर्थः ।

उपलभ्य भर्तुः शरीरस्वास्थ्यं वासवदत्ता पूर्वं मोदाश्रूणि पुनः स्वास्थ्येनैव हेतुना सूचितां भार्यान्तरगतचेतसः प्रेयसः स्वविषये स्नेहस्य न्यूनतां सम्भाव्य दुःखाश्रूणि तदानीं मुञ्चति स्म । चेटी च तामश्रूणि मुञ्चन्तीमवेक्ष्य तत्कारणजिज्ञा-सया पद्मावतीं प्रत्याह—**भट्टिदारिए** इति । साश्रुपाता अश्रुपातेन सहिता वाष्प-कलुषेति यावत् । खलु वाक्यसौन्दर्ये, आर्याया आवन्तिकायाः । दृष्टिरित्येकत्वं जातौ । अयि ! राजकुमारि ! श्रीमत्या आवन्तिकाया नयनाभ्यामिदानीमश्रूणि पतन्ति । किं कारणमेतस्य ?

आत्मनोऽश्रुपातं चेट्याऽवगतं विभाव्य तत्र पद्मावतीचेट्योरन्यथाशङ्कनं परि-हर्तुकामा नायकदर्शनादुद्गतं सात्त्विकभावमश्रूद्गमनहेतुभूतं निह्नुवाना स्वकीयाश्रुपाते सम्भवत्कारणान्तरं दर्शयति वासवदत्ता—**एसा** इति । खल्विति निश्चयार्थकम् । अविनयात् शासनाभावात् स्वच्छन्दमत्रेतस्ततो भ्रमणादिति यावत्, सोदका अश्रु-पूर्णा, सञ्जातेति शेषः । अत्र किल प्रदेशे भ्रमराः स्वैरं सर्वतो भ्रमन्ति, तेन काश-पुष्पाणां परागः परिपतति, स चेदानीं मच्चक्षुषोरन्तर्गतः । नूनमनेनैव हेतुना तत्रैता-न्यश्रूण्युद्गतानि सन्ति । एतदेवाश्रुपाते कारणं ममेत्यर्थः ।

दासी—राजकुमारी ! आर्या वासवदत्ता की आँखों से आँसू गिरते हैं ।

वासव०—भौरों की गड़बड़ से कास के फूलों की धूलि पड़ने के कारण मेरी आँखों में पानी आ गया ।

पद्मावती—(क) जुज्जइ।

विदूषकः—(ख) भो ! सुण्णं खु इदं पमदवणं। पुच्छिदव्वं किञ्चि अत्थि। पुच्छामि भवन्तं।

राजा—छन्दतः।

विदूषकः—(ग) का भवदो पिआ ? तदाणिं तत्तहोदी वासव-

(क) युज्यते।

(ख) भोः ! शून्यं खल्विदं प्रमदवनम्। प्रष्टव्यं किञ्चिदस्ति। पृच्छामि भवन्तम्।

(ग) का भवतः प्रिया ? तदानीं तत्रभवती वासवदत्ता, इदानीं

तदेतत्कारणमत्र सम्भवतीति पद्मावत्याह—जुज्जइ इति। भ्रमरपरिभ्रमण-वशादुत्पततां काशप्रसूनपरागाणां साम्पातान्नेत्रयोरस्रोद्गमोऽयं भवितुमर्हतीत्यर्थः।

अथास्मिन्समये 'तत्र स्थले तृतीयः कोऽपि नास्ती'ति रहस्यार्थप्रकाशनयोग्य-मवसरं पश्यन् सुहृदं राजानं प्रति 'प्रीतिपात्रं ते पद्मावती वासवदत्ता वे'त्येवं प्रश्नमुपक्षेप्तुकामस्तदुचितं वचः प्रस्तौति विदूषकः—भो इति। खल्विति वाक्या-लङ्कारे। प्रमदवनस्य शून्यत्वकथनादेव तत्र स्थाने रहस्यार्थप्रकाशनं स्थान इति सूचितम्। अयि ! राजन् ! प्रमदवनेऽस्मिन्नधुना नौ विहाय कोऽप्यन्यो नास्ति। पृच्छा च ममास्ति काचित्। अतोऽहं किमपि भवन्तं प्रष्टुमुद्यतोऽस्मीत्यर्थः। इह किल भवत्कथितं मद्विना कोऽपि न जानीयात्, अहं च भवतो नर्मसचिवः सखा, मत्तो गोपयितुं किमपि नोचितमित्यतो मदीयः प्रश्नोऽयं यथोचितमुत्तरणीयो निःशङ्कं भवतेति विदूषकोक्तेराशयः।

तत्राह राजा—छन्दत इति। छन्दोऽभिप्रायः, 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः, अभिप्रायानुसारमित्यर्थः। पृच्छेति शेषः। यदभीष्टं ते, तत्प्रष्टुमर्हसि। नात्र किमपि शङ्कनीयमिति भावः।

तमेव प्रश्नमात्मनो राज्ञः सन्निधौ समुपस्थापयति विदूषकः—का इति।

पद्मा०—ठीक है, हो सकता है।

विदू०—महाराज ! यह नजर-बाग सूना है। कुछ पूछना है। आपसे पूछता हूँ।

राजा—इच्छानुसार (निःसंकोच) पूछो।

विदू०—उस समय की वासवदत्ता या इस समय की पद्मावती, कौन आपको प्यारी है ?

दत्ता, इदाणिं पदुमावदी वा ।

राजा—किमिदानीं भवान् महति बहुमानसङ्कटे मां न्यस्यति ?

पद्मावती—(क) हला ! जादिसे सङ्कटे निक्खित्तो अय्यउत्तो ।

पद्मावती वा ।

(क) हला ! यादृशे सङ्कटे निक्षिप्त आर्यपुत्रः ।

प्रिया प्रीतिपात्रम्, अधिकमिति शेषः, प्रियतरेति यावत् । तदानीं तस्मिन्नतीते समये स्थिता, इदानीं समयेऽस्मिन्वर्तमाना । श्रीमन्मान्या वासवदत्ता भवतोऽधिकमासीत्प्रेमास्पदं, पद्मावती वा वर्तते ? कुत्राधिको भवतः स्नेहो वासवदत्तायां पद्मावत्यां वा ? उभयोः प्रीतितारतम्यं कथनीयं भवतेत्यर्थः ।

प्रश्नमेनं निशम्य तदुत्तरणस्य दुष्करत्वमेवाह राजा—**किमिदानीमिति** । किं किमर्थम् । बहुमानसङ्कटे बहुमानकथनरूपे क्लेशे, 'उभयोः का नाम बहुमते'-त्येतदुत्तरप्रदानरूपे दुष्करे कर्मणीति यावत् । न्यस्यति निपातयति । सखे ! वासवदत्ता तदा बहुमन्यत मया, पद्मावती वा साम्प्रतं बहु मन्यते ? उभयोः कतरस्यामधिकं मम प्रेम ? इत्येतत्कथनं तु मे दुष्करम् । एतत्कथनरूपेऽस्मिन् विषमे कर्मणि किमति निपातितोऽस्मि समयेऽस्मिन्भवता ? अत्र च 'अवर्णनीयस्तावन्मे वासवदत्ताविषयकः प्रणयविशेषः । इदानीं तस्या अभावात्तत्प्रकाशनं तु व्यर्थम् । तदपेक्षया च न्यूनं प्रेम मे पद्मावत्याम्—इत्येवं पुनः कथिते, विदूषकस्य मौखर्यात्कदाचित्ततस्तदवगत्य पद्मावत्या कुपितया भूयेत । अत एतत्प्रेमतारतम्यकथनं नैवोचितम्'—इत्येवं तावन्मानसाकूतं राज्ञः । 'विदूषकस्य च मानसेऽन्यथा शङ्का मा भू'दिति चातुर्येण यथार्थमनुक्त्वा केवलं तत्प्रश्नोत्तरणस्य दुष्करत्वं प्रश्नस्य च वैयर्थ्यमित्थं प्रतिपादितं राज्ञेति ।

विदूषकप्रश्नानन्तरं पतिदेवोक्तमित्थं वचनमाकर्ण्य पद्मावती कुञ्जान्तर्गता सखीं चेटीं प्रति ब्रूते—**हला** इति । अत्र वाक्यसमाप्तौ 'तत्तु स एव जानाति' इत्येवमध्याहरणीयम् । 'उभयत्र प्रेयस्योः का नाम ते प्रियतरे'त्येतादृशं पृच्छता विदूषकेण तदुत्तरप्रदानरूपे यादृशेऽतिदुष्करे कर्मणि नियुक्तोऽधुना प्रियतमः, तत्तु तं

राजा—क्यों तुम इस समय मुझे इस बड़े बहुत आदररूपी संकट में गिराते हो ?

पद्मा०—सखी ! (वसन्तक से) आर्यपुत्र जैसे संकट में गिराये गये ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) अहं अ मन्दभाआ।

विदूषकः—(ख) सेरं सेरं भणादु भवं। एक्का उवरदा, अवरा असण्णिहिदा।

(क) अहं च मन्दभागा।

(ख) स्वैरं स्वैरं भणतु भवान्। एकोपरता, अपरा असन्निहिता।

विहाय कोऽन्यो जानीयात्? नूनं तत्स्वसंवेद्यमेव। स्वापतितकार्यदुष्करत्वानुभवः स्वेनैव करणीय इत्यर्थः। 'आर्यपुत्रकर्तृकमेकस्यां वहुमानसूचनं त्वपरस्याश्चेतसि वहुलमीर्ष्याभावं जनये'दित्यनया शङ्कया प्रीतितारतम्यकथनमिदानीं तस्य नूनं दुष्करमेवेति भावः।

पद्मावत्या भाषितं श्रुतवती वासवदत्ता स्वात्मनोऽपि तामेव दशां दर्शयन्ती मानसं वितर्कमाह—अहं अ इति। अत्र चकारः पूर्वोक्तं समुच्चिनोति। तच्च 'यादृशे सङ्कटे निक्षिप्ता तत्तु अहमेव जानामी'त्येवंरूपम्। मन्दोऽल्पो भागो भाग्यं यस्याः सा मन्दभागा, पतिवियोगवैक्लव्यरूपां दुर्दैवदशामनुभवन्तीति यावत्। विदूषकेण ध्रुवं प्रश्नमेनमुपस्थाप्य प्रियतमेन सार्धमहमपि सर्वथा स्वसंवेद्ये सङ्कटे निपातितास्मीति शब्दार्थः। 'चिरविरहेऽपि भर्तुरुपलभ्यमानं शरीरस्वास्थ्यमिदं स्फुटमित्थं प्रत्याययत्यधुना—यन्मदीयोऽयं विरहो नूतनपरिणीतपद्मावतीसमागमेन विस्मृतातीतमत्प्रणयानुभावं कथमपि प्रियमेनं न नाम व्यथयतीति। अतो निःसंशयमार्यपुत्रेण पद्मावत्यामेव प्रणयविशेष आत्मनो निरूपणीयः। स च मया मन्दभाग्यया समयेऽत्र श्रवणीय इत्येवं महत्कष्टमापतितम्। एतच्च नूनमवर्णनीयं स्वसंवेदनीयमेवे'ति वासवदत्तोक्तेर्गूढोऽभिप्रायः।

प्रश्नोत्तरं दातुमनिच्छन्तं राजानमवलोक्य विदूषकः पुनस्तदेव प्रस्तौति—**सेरमिति**। स्वैरं निःशङ्कम्, द्विरुक्तिश्च निःशङ्कतातिशयद्योतिका। उपरता नष्टा, असन्निहिता दूरे स्थिता। भवतः प्रणयिन्योरेका पुरातनी प्रिया वासवदत्ता तु नोपलभ्यतेऽधुना, अन्या च नूतना पद्मावती समीपे न वर्तते। इत्थं सति 'भवदुक्तमेकत्र प्रणयविशेषं निशम्य तयोः कापि कुपिता भवे'दित्येतादृशः शङ्काया नाव-

---

वासव०—(स्वगत) मैं भी मंदभागिनी जिस संकट में गिराई गई।

विदू०—निःसंकोच आप कहिये। एक तो मर गई और दूसरी पास नहीं है।

राजा—वयस्य ! न खलु न खलु ब्रूयाम् । भवांस्तु मुखरः ।

पद्मावती—(क) एत्तएण भणिदं अय्यउत्तेण ।

(क) एतावता भणितमार्यपुत्रेण ।

सरः । अतः स्वच्छन्दं 'का नाम प्रियतरे'ति भवता यथार्थं कथनीयमिति भावः ।

विदूषकप्रश्नस्योत्तरं प्रदातुमनिच्छन्नाह राजा—वयस्येति । खल्विति वाक्याऽलङ्कृतौ । 'न खल्वि'ति वीप्सा च निषेधस्य दाढर्यं गमयति । 'ब्रूया'मित्यौचित्ये लिङ् । 'भवत्प्रश्नोत्तर'मित्यार्थं कर्म । मुखरः वावदूकः, रहस्यार्थं गोपयितुमसमर्थ इति यावत् । मित्रवर ! प्रीतितारतम्यविषये यत्तावत्पृष्टं भवता, तदुत्तरं नैव मया वक्तव्यम् । भवता तु प्रकृत्या वावदूकेन मदुक्तोऽयमर्थो न गोपयितुं शक्यते । अवश्यं यत्र कुत्रापि प्रकाश्येत । अतस्तत्प्रकाशनं नोचितं ममेति भावः ।

श्रुत्वैतद्वचनं राज्ञो हृद्गतं भावमवबुध्य कुञ्जान्तःस्था पद्मावत्याह—एत्तएणेति । एतावता पूर्वोक्तेन वचसा । श्रीमता प्रियतमेन विदूषकानुयुक्तेऽस्मिन्विषये यदासीद्वक्तव्यं, तत्तु समनन्तरोक्तेन वचसा निषेधमुखेन सूचितम् । तदुत्तरप्रदानप्रतिषेधमभिधाय तदुभयोरेकतरा निजप्रीतिविशेषास्पदं तेन ध्वनितेत्यर्थः । अत्रेदमवगन्तव्यम्—विदूषकस्य मुखरता हि राज्ञस्तदुत्तरप्रदानविधौ मनसि शङ्कां जनयति । 'पद्मावती प्रियतरे'त्येवं सति राजकीयगूढार्थाभिप्राये कल्पिते—वासवदत्ताया अभावात्तदीर्ष्यादेरनवसरेण तादृशार्थप्रकाशनान्न कोऽपि शङ्कावकाशः । 'वासवदत्ता प्रियतरे'त्येवं पुनस्तत्कल्पनायाम्—श्रुत्वैतत्पद्मावती सपत्नीभावसहजं द्वेषमवलम्बमाना न चैतत्सोढुं शक्नुयादिति शङ्का तत्र नूनं लब्धावकाशा । अतश्च वावदूकाद्विदूषकात्तादृशार्थप्रकाशनं शङ्कमानस्य राज्ञस्तदुत्तरप्रदानप्रतिषेधभाषितमिदं वासवदत्तायामेव प्रणयविशेषं गूढमाविष्करोति । अयमर्थो राज्ञा गोपितो न प्रकाशनीय इति तत्प्रकाशनमकृत्वा केवलं ज्ञानमात्मनस्तदीयं वचसानेन सूचितं पद्मावत्येति ।

रहस्यार्थप्रकाशनरूपामात्मविषयिणीं शङ्कां विदूषक इदानीं निराकरोति राज्ञः—

राजा—मित्र ! मैं कहूँगा ही नहीं । तुम तो मुखर (बकवादी मुँहफट) हो ।
पद्मा०—आर्यपुत्र ने तो इतने से कह दिया ।

विदूषकः—(क) भो! सच्चेण सवामि, कस्स वि ण आचक्खिस्सं। एसा सन्दट्ठा मे जीहा।

राजा—नोत्सहे सखे! वक्तुम्।

पद्मावती—(ख) अहो! इमस्स पुरोभाइदा। एत्तिएण हिअअं ण जाणादि।

(क) भोः! सत्येन शपे, कस्मा अपि नाख्यास्ये। एषा सन्दष्टा मे जिह्वा।

(ख) अहो! अस्य पुरोभागिता। एतावता हृदयं न जानाति।

भो इति। सत्येन धर्मेण, एषा रहस्यप्रकाशनात्मना सम्भविष्यद्दोषेणोपलक्षितेति यावत्, मे मयेत्यर्थः। अये! मित्र! सत्यस्य धर्मस्य शपथं कृत्वा ब्रवीमि, भवदुक्तं कुत्रापि न प्रकाशयिष्ये। प्रकाशिते च तत्राऽधर्मरूपं पातकं मे स्यात्। भवता किमपि तादृशं न शङ्कनीयं मयि, नाहं रहस्यमिदमुद्घाटयिष्ये। शङ्कितं च भवदीयं निराकर्तुं जिह्वामिमां सम्भावितदोषां दशनसन्दंशमध्ये कृत्वा निरुणध्मि दृढम्, यतश्चाहं किमपि वक्तुं न पारयिष्ये।

तत्रापि तत्कथनाऽनुत्साहं दर्शयत्यात्मनो राजा—**नोत्सहे** इति। मित्र! शपथं कृतवतोऽपि ते तद्विषयाऽप्रकाशनविषये विश्वासाभावात्किमपि तादृशं सूचयितुं नोत्साहो भवति मे। अतो वक्तुं तमर्थमसमर्थोऽस्मीत्यर्थः।

अद्यापि राज्ञो हृद्गतमज्ञातवतो विदूषकस्य मौर्ख्ये विस्मयमाविष्करोति पद्मावती—**अहो** इति। अस्य विदूषकस्य, पुरोभागिता दोषैकदर्शिता, 'दोषैकदृक् पुरोभागी' इति कोषः। एतावता इदमित्थं ध्वनिमार्गेण पुनः सूचनेनापीति यावत्, हृदयं हृद्गतमाशयम्, अर्थाद्राज्ञः। राजनि गूढवचने तादृशाऽतिगूढविषयाऽप्रकाशनरूपदोषारोपणं नाम साहसमिदानीं विदूषकस्येदं मूर्खतातिशयं द्योतयत्परमं मे मनसि विस्मयं जनयति। रहस्यविषयोद्घाटनरूपां भीतिं विदूषकात्सम्भावयता हि राज्ञा मुहुर्वासवदत्तायाः प्रीतिविशेषास्पदत्वं तावद् गूढमाविष्कृतम्। तदेतदधु-

विदू०—राजन्! सत्य की सौगन्ध, किसी से भी न कहूँगा। यह देखो मैंने जीभ काट खाई।
राजा—मित्र! कहने का उत्साह नहीं होता।
पद्मा०—हाय! इनकी दोषदृष्टि (हठ)। इतने से भी हृदय (की बात) नहीं जानते।

विदूषकः—(क) किं ण भणादि मम ? अणाचक्खिअ इमादो सिलावट्टआदो ण सक्कं एक्कपदं वि गमिदुं। एसो रुद्धो अत्त भवं।

राजा—किं बलात्कारेण ?

विदूषकः—(ख) आम, बलक्कारेण।

राजा—तेन हि पश्यामस्तावत्।

(क) किं न भणति मम ? अनाख्यायाऽस्माच्छिलापट्टकान्न शक्यमेकपदमपि गन्तुम्। एष रुद्धोऽत्र भवान्।

(ख) आम्, बलात्कारेण।

नापि विदूषकस्य बुद्धेः पन्थानं नारोहतीत्यस्य मूर्खतायाः परा काष्ठेयमिति भावः।

सौदार्दभावसुलभं तत्रार्थे सनिर्बन्धं वचः प्रयुङ्क्ते विदूषकः—**किं णेति**। मम मदग्रे। 'शिलापट्टका'दित्यत्र 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन पञ्चमी, शिलापट्टकं विहाय ततोऽन्यत्रेत्यर्थः। एषः अकथयन्। अयि! सखे! मत्प्रश्नविषयीकृतं प्रीतितारतम्यं न प्रकाश्यते किम् ? अप्रकाशिते च तस्मिन्नितः पदमेकमप्यन्यत्र गन्तुं न शक्यते भवता। अनिशम्योत्तरं भवदीयमस्माच्छिलातलादुत्थानं भवतो नानुमंस्ये। एषोऽहमधुना रुणध्मि भवन्तं तदेतदप्रकाशयन्तम्। पश्यामि, कथं नोच्यत इति।

विदूषकमित्थं बलात्कर्तुमुद्यतं पृच्छति राजा—**किमिति**। श्रोतुमिच्छसीति शेषः। बलपूर्वकं किमिदं मत्तो ज्ञातुमिच्छसि त्वम् ?

तदेतत्प्रसह्यैव श्रवणं प्रतिजानीते विदूषकः—**आमेति**। आमिति पूर्वोक्तस्वीकारः। एवम्, अत्र कः सन्देहः ? मित्र! बलात्कारेणैव नूनमिदं भवतः श्रोष्यामि।

तेन हीति। तेन हि एवं सति, पश्याम इत्यादरे बहुत्वम्, तावदिति वाक्यसौन्दर्ये। इत्थमिदं बलात्कारेण श्रोतुमिष्यते चेत्त्वया, मयापि दृश्यते कथमेत-

---

विदू०—क्या मुझे नहीं कहते ? बिना कहे इस पत्थर की चौकी को छोड़कर एक पैर भी नहीं जा सकते। यह आप यहाँ रोके गये।

राजा—क्या जबर्दस्ती से (जानना चाहते हो) !

विदू०—हाँ, जबर्दस्ती से।

राजा—तब तो देखते हैं।

विदूषकः—(क) पसीददु पसीददु भवं। वअस्सभावेण साविदो सि, जइ सच्चं ण भणासि।

राजा—का गतिः। श्रूयताम्—

पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः।

(क) प्रसीदतु प्रसीदतु भवान्। वयस्यभावेन शापितोऽसि, यदि सत्यं न भणसि।

च्छ्रूयत इति। पश्यामि, वलपूर्वकश्रवणप्रतिज्ञेयं ते सफला भवति मम वा तद्विषयाऽकथनप्रतिज्ञेति राज्ञो वचनस्याशयः।

दृढप्रतिज्ञे राज्ञि वलात्कारमात्मनोऽकिञ्चित्करं मत्वोपायान्तरं प्रस्तुवन्नाह विदूषकः–**पसीददु** इति। प्रसीदतु प्रसीदतु इत्येषा द्विरुक्तिः प्रसादातिशये। वयस्यभावेन शापितोऽसि मित्रतायाः शपथं ते दापयिष्यामि। 'प्रसद्यतां प्रसद्यता'-मिति वदन् मदीयवलात्करणकुपितं भवन्तमहं प्रसादयाम्यधुना। क्षम्यतां मे वलात्कारजनितोऽपराधः। किन्तु तत्रार्थे निजाग्रहं नैव त्यक्ष्यामि। पुनरपि यथार्थं मत्पृष्टप्रतिवचनं न दीयते चेद् भवता, तर्हि सत्यमिदमवगन्तव्यम्–यद् विहन्येत मित्रताऽऽवयोरिति। अतो मित्रतासम्वन्धरक्षणाय पुनर्मत्पृष्टं भवता प्रत्युत्तरणीयमेवेति भावः।

'उत्तरमश्रुत्वा हठी विदूषको न मंस्यते कथमपी'ति तदुत्तरप्रदानप्रवणतामात्मनो दर्शयन्नाह राजा—**का गतिरिति**। मित्रतासम्वन्धरक्षणाय सखे! तदेतद्वक्तुमेवापतितम्। किं करवाणि, सन्तोषार्थं ते तत्प्रीतितारतम्यं निवेदयितुमुद्यतोऽस्मि। सावधानमिदमाकर्णनीयं त्वया।

पूर्वोक्तं तदिदं वचनं प्रयुज्य राजा, विदूषकस्य तस्मिन् 'का नाम प्रियतरे'ति पूर्वप्रदर्शिते प्रश्ने चातुर्यपूर्णमुत्तरं प्रतिपादयति—**पद्मावतीति**। रूपं सौन्दर्यं शीलं सच्चरितं माधुर्यं प्रियभाषिता चेत्येतैः कारणीभूतैर्गुणैः, इतरेतरयोगो नाम द्वन्द्वसमासः, यद्यपि, पद्मावती तन्नाम्नी नवोढा नायिका, मम मे, वहुमता वहुमानास्पदं वर्तते। 'मतिवुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इत्यनेन 'ममे'ति षष्ठी। तथापि वहुमाना-

---

विदू०—मान जाइये, मान जाइये। मित्रता की शपथ, यदि सच नहीं कहते हैं।

राजा—क्या उपाय? (लाचारी है,) सुनो—

वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति ॥ ४ ॥

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) भोदु भोदु। दिण्णं वेदणं इमस्स परिखेदस्स। अहो! अञ्ञादवासं पि एत्थ बहुगुणं सम्पज्जइ।

(क) भवतु भवतु। दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य। अहो! अज्ञातवासोऽप्यत्र बहुगुणः सम्पद्यते।

स्पदत्वेऽपि, सा वासवदत्तावद्धं वासवदत्तयाऽतीतया प्रणयिन्या बद्धं स्वगुणैराकृष्टं, मे मनो मदीयं मानसं तु, न तावत् हरति नैव चोरयति, स्वोन्मुखं न करोतीति यावत्। पद्मावत्याः सौन्दर्यादिगुणेषु लुब्धोऽहं तत्र सखे! बहुमानं वहामि, परं वासवदत्ताप्रीतिपाशविवशं मे मनस्तया हर्तुं न शक्यते कथमपीत्यर्थः। अत्र पद्मावत्यां बहुमानं वासवदत्तायां च मनोबन्धमात्मनो निरूपयता सहृदयहृदयङ्गमा तथेयं चातुरी दर्शिता राज्ञा, यथेदं कदापि श्रुत्वापि पद्मावती तात्पर्यमेतदीयमित्थमवधार्य सन्तोषं वक्ष्यति स्वान्ते—'यदद्य सौभाग्यात्पत्युर्बहुमानास्पदमहं वर्ते, नवोढाहमिदानीं प्रौढवासवदत्ताप्रीतिबद्धं प्रियमनो न हर्तुं शक्नोमि, परं कालान्तरे परिचयातिरेकात्तन्नूनमेव हर्तुं शक्ष्यामी'ति। आर्या वृत्तम्, तल्लक्षणमुक्तं प्राक् ॥ ४ ॥

इत्थमिदमात्मनि प्रीतिविशेषं पत्याविष्कृतमवगत्य वासवदत्ता सप्रसादमात्मगतं वचो वक्ति—**भोदु** इति। 'भवतु भवत्वि'ति भृशार्थे द्विर्भावः, कर्ता चात्र परिखेदरूप उत्तरवाक्याद् गम्यः। अस्य विरहरूपस्य, परिखेदस्य क्लेशविशेषस्य, वेतनं दत्तं पुरस्कारो वितीर्णः, अर्थात्प्रियेण। अत्र पद्मावत्याः समीपे, अज्ञातवासः अज्ञातः केनाप्यविदितश्चासौ वासः स्थितिश्चेति कर्मधारयः, बहुगुणो यत्रेति बहुगुणः। प्रियवियोगविक्लवाया मम क्लेशाधिक्यमभितो वर्ततां नाम, तत्तूपेक्षणीयं मया। निशम्य चात्मनि भर्तुः प्रीतिविशेषं वियोगस्यैतस्य पुरस्कारं प्राप्तवत्यस्मि। श्रीमत्याः पद्मावत्याः सन्निधानेऽधुना प्रच्छन्नरूपेण क्लेशकारिणी स्थितिरपि

यद्यपि पद्मावती अपने रूप शील और माधुर्य से मुझे प्यारी है, फिर भी वासवदत्ता में लगे हुए मेरे मन को नहीं हरती ॥ ४ ॥

वासव०—(स्वगत) बस, बस। इस दुःख का पुरस्कार दे दिया, अर्थात् जो मैंने इतना दुःख उठाया उसका इनाम पा लिया। हाँ, यहाँ छिपकर पद्मावती के पास रहना भी अत्यन्त लाभदायक हो रहा है।

चेटी—(क) भट्टिदारिए ! अदक्खिण्णो खु भट्टा ।

पद्मावती—(ख) हला ! मा मा एव्वं । सदक्खिण्णो एव्व अय्यउत्तो, जो इदाणिं वि अय्याए वासवदत्ताए गुणाणि सुमरदि ।

(क) भर्तृदारिके ! अदाक्षिण्यः खलु भर्ता ।

(ख) हला ! मा मैवम् । सदाक्षिण्य एवार्यपुत्रः, य इदानीमप्यार्याया वासवदत्ताया गुणान् स्मरति ।

मे न तावद् दूषणास्पदम्, प्रत्युतैषा प्रियप्रेमातिरेकपरिचयप्रदायिनी गुणविशेषशालिनी सञ्जायत इति भावः ।

पूर्वोक्तेन वचसा वासवदत्तायां राज्ञः प्रीतिविशेषं तन्न्यूनतां च पद्मावत्यामवगत्य चेटी तदयुक्तं मन्वाना पद्मावतीं प्रत्याह—**भट्टिदारिए** इति । नास्ति दाक्षिण्यं यत्र सोऽदाक्षिण्यः । दाक्षिण्यं च सर्वासु नायिकासु समानप्रीतिमत्त्वम् । तथा च **साहित्यदर्पणे**—'अनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथित' इति । खलु निश्चये । भर्ता भवत्याः पतिः । अयि ! राजकुमारि ! वासवदत्तायां प्रणयविशेषं प्रकटयन्नूनं भवत्याः प्रियः सर्वत्र समानस्नेहशालित्वलक्षणेन दाक्षिण्यलक्षणेन शून्यो वर्तते । नेदं तस्य दाक्षिण्यम्, यदुभयोरेकत्र प्रीतिविशेषसन्धारणम् । युज्यते हि समानं प्रेम तस्योभयत्रेत्यर्थः ।

चेट्युक्तं निषेधन्ती भर्तारं च वासवदत्तागतचित्तं प्रशंसन्ती ब्रवीति पद्मावती—**हलेति** । 'मा मे'ति द्विरुक्तिर्निषेधं द्रढयति, एवं पूर्वोक्तम्, 'वादी'रिति शेषः । सखि ! एकत्र प्रीतिविशेषं वहत्यार्यपुत्रे 'दाक्षिण्यं नास्ती'ति नैव त्वया वक्तव्यम् । तदेव तत्र दाक्षिण्यं दर्शयति—**सदक्खिण्णो** इति । सदाक्षिण्यो दाक्षिण्यसहितः, दक्षिण इत्यर्थः । निःसन्देहं सर्वथा दाक्षिण्यभावं वहत्येव श्रीमानार्यपुत्रः, यो हि श्रीमत्या वासवदत्ताया अभावेऽपि तस्याः श्लाघनीयगुणानां स्मरन्नद्यापि तत्र प्रीतिभावं विभर्ति भूयांसम् । दाक्षिण्यं नाम कृतस्य निर्वहणम् । कृतपूर्वं प्रेमाणं निर्वहन्नेष न वाच्यो भवतीत्याशयः । इदं च सापत्न्यसुलभं द्वेषमनावहन्त्या ध्रुवं कुलीनत्वानुरूपमुक्तं पद्मावत्या ।

दासी—राजकुमारी जी ! राजा उदार नहीं है । (क्योंकि सबका समान प्यार नहीं करते ।)

पद्मा०—अरी ! नहीं, ऐसा नहीं । आर्यपुत्र समानानुरागी ही हैं, जो कि अब भी आर्या वासवदत्ता के गुणों की याद करते हैं ।

वासवदत्ता—(क) भद्दे ! अभिजणस्स सदिसं मन्तिदं ।

राजा—उक्तं मया । भवानिदानीं कथयतु । का भवतः प्रिया ? तदा वासवदत्ता, इदानीं पद्मावती वा ।

पद्मावती—(ख) अय्यउत्तो वि वसन्तओ संवुत्तो ।

(क) भद्रे ! अभिजनस्य सदृशं मन्त्रितम् ।
(ख) आर्यपुत्रोऽपि वसन्तकः संवृत्तः ।

भर्तुः प्रशंसायामुदारभावानुरूपं तथा वदन्तीं प्रशंसति पद्मावतीं वासवदत्ता—**भद्दे** इति । अभिजनस्य कुलस्य, 'कुलान्यभिजनान्वयौ' इत्यमरः । सदृशं योग्यमिति यावत् । 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्या'मित्यनेन तृतीयाविकल्पात्पक्षे'ऽभिजनस्ये'ति षष्ठी । मन्त्रितं कथितम् । अयि ! सभ्ये ! सुन्दरि ! वासवदत्तागुणानुरक्तं प्रियं प्रशंसन्ती पुनः सापत्न्यसहजमीर्ष्याभावमनावहन्ती त्वं सत्कुलोचितं तदेतदुक्तवत्यसि । श्लाघनीयकुलायास्ते वचनमेतदुदारं सर्वथा श्लाघनीयमेव । भर्तुरन्यासङ्गेऽपि तत्र कुलीनया खण्डिताभावो नावलम्बनीय एवेति भावः ।

विदूषकप्रश्नानुसारं प्रिययोरेकत्र प्रीतिविशेषमात्मनः संसूच्य गूढं राजा मुखरे विदूषके तद्रहस्योद्घाटनं सम्भाव्य तमपि तादृशार्थप्रकाशनापराधभाजनं चिकीर्षुस्तन्मुखादपि तदर्थप्रचिकाशयिषया स्वयमपि तत्र तादृशं प्रश्नमुपन्यस्यति-**उक्तं मयेति** । प्रिया बहुमता । मित्र ! भवद्वचनाऽनुरोधेन 'का मे प्रियतरे'ति तथ्यं कथितवानहम् । समयेऽस्मिन्भवतापि तदेतत्कथनीयम् । उभयोर्मध्ये का नाम भवतो बहुमता ? वासवदत्तां बहुमानदृष्टयाऽपश्यद्भवान् पश्यति वा पद्मावतीम् ? सुस्पष्टमेतदधुनाऽभिधीयतां भवतेति भावः ।

सुहृदं विदूषकं प्रति प्रीतितारतम्यविषयकं पत्युः प्रश्नमेनं निशम्य पद्मावती ब्रूते—**अय्यउत्तो वीति** । वसन्तकस्तन्नामधेयो विदूषक इवेति यावत् । विदू-

वासव०—भद्रे ! तुमने अपने कुल के अनुरूप कहा ।

राजा—मैंने कहा । अब तुम कहो—उस समय वासवदत्ता या इस समय पद्मावती, कौन तुम्हें अच्छी मालूम होती है ?

पद्मा०—आर्यपुत्र भी वसन्तक हो गए ।

विदूषकः—(क) किं मे विप्पलविदेण । उभओ वि तत्तहोदीओ मे बहुमदाओ ।

राजा—वैधेय ! मामेवं बलाच्छ्रुत्वा किमिदानीं नाभिभाषसे ?

विदूषकः—(ख) किं मं पि बलक्कारेण ?

(क) किं मे विप्रलपितेन । उभे अपि तत्रभवत्यौ मे बहुमते ।
(ख) किं मामपि बलात्कारेण ?

षको यथा प्रियतमं पूर्वं द्वयोः प्रीतितारतम्यं पृष्टवान्, साम्प्रतं तदेव प्रियतमो विदूषकं पृच्छतीति प्रियतमेनापि विदूषकेणेव सञ्जातमित्यर्थः ।

राज्ञः प्रश्नस्योत्तरं दातुमनिच्छन् विदूषक आह—**किं मे** इति । विप्रलपितेन अनर्थकेन वचसा, भावे क्तः । 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' इत्यमरः । तत्रभवत्यौ पूज्ये । ममैतत्कथनेन मित्र ! कोऽर्थः ? एकत्र नास्ति मे बहुमानः कुत्रापि । उभयोरपि मे समानैव दृष्टिः । मम तु बहुमानास्पदं श्रीमती वासवदत्ता पद्मावती चेत्युभयं वर्तते ।

तदिदं विदूषकस्योक्तिचातुर्यमाकलय्य पुनः प्राह तं राजा—**वैधेयेति** । वैधेयो मूर्खः, ? 'मूर्खवैधेयबालिशाः' इत्यमरः, 'माम्' इति कर्मपदं तावद् 'अभिभाषसे' इति क्रियापदेनान्वेति । एवं प्रीतितारतम्यम्, बलाच्छ्रुत्वा बलात्कारपूर्वकं निशम्य, अर्थान्मत्तः । अयि ! मूर्ख ! बलात्कारपूर्वकं तदानीमुभयोर्बहुमानविषयकप्रश्नस्योत्तरं मन्मुखान्निष्कास्य त्वया मम प्रश्नेऽस्मिन्न तावदुत्तरं दीयतेऽधुना ? अदत्ते सत्युत्तरे, जानीहि, त्वयेव मया बलात्कारः प्रयोक्ष्यते । अतो हि मित्र ! त्वया वक्तव्यमेवेत्यर्थः ।

उपालम्भपूर्णं राज्ञो वचनमाकर्ण्य तत्कर्तृकं बलात्कारं शङ्कमानो विदूषकः पृच्छति राजानम्—**किं मं पीति** । अर्थानुरोधादत्र 'पृच्छसी'ति क्रियापदमध्याहरणीयम् । आत्मनः प्रश्नस्य मन्मुखादुत्तरमाकर्णयितुं हठप्रयोगः करिष्यते किं भवता ?

विदू०—मेरे निरर्थक कहने से क्या लाभ ? मुझे तो दोनों आर्याएँ माननीय हैं ।
राजा—मूर्ख ! मुझ से जबर्दस्ती सुन कर अब तुम मुझसे क्यों नहीं कहते ?
विदू०—क्या मुझसे आप भी जबर्दस्ती (सुनना चाहते हैं) ?

राजा—अथ किम्, बलात्कारेण।

विदूषकः—(क) तेण हि ण सक्कं सोदुं।

राजा—प्रसीदतु प्रसीदतु महाब्राह्मणः। स्वैरं स्वैरमभिधीयताम्।

विदूषकः—(ख) इदाणिं सुणादु भवं। तत्तहोदी वासवदत्ता मे

(क) तेन हि न शक्यं श्रोतुम्।

(ख) इदानीं शृणोतु भवान्। तत्रभवती वासवदत्ता मे बहुमता।

तदेव करणीयं सूचयति राजा—अथ किमिति। अथ किम् किमन्यत्? अत्र कः सन्देह इत्यर्थः। पृच्छामीति शेषः। नूनं सखे! बलात्करिष्यामि त्वामहमत्र विषये। त्वन्मुखादिदं बलाच्छ्रोष्यामीति भावः।

बलात्कारस्य स्वविषये नैष्फल्यं दर्शयति विदूषकः—तेण हीति। तेन बलात्कारेण, हि निश्चये। मित्र! बलात्कारश्चेद्विधीयते मयि, तन्नूनं नाभिधास्ये। न शक्यते च भवता तदुत्तरमधिगन्तुं कुर्वता हठप्रयोगम्।

तत्र तावदात्मनो बलात्करणं निरर्थकमाकलय्य तत्प्रयोगेण च कुपितं विदूषकं प्रति सामोपायं प्रस्तुवन्नाह राजा—प्रसीदत्विति। क्रियापदद्विरुक्तिरेषा प्रसादनस्य शैघ्र्येऽतिशये च। 'महाब्राह्मण' इति परिहासवचनम्, तथोक्तिश्चैषा विदूषकस्य भोजनप्रियतामूढताद्यभिप्रायेण। विदूषको हि मूढो 'महाब्राह्मण'शब्दस्य 'अधमब्राह्मण'रूपमर्थविशेषं बोद्धुमपारयन् सामान्यतो 'विशिष्ट उदारो ब्राह्मण' इत्येवमर्थमवगच्छन्नात्मसंमानसम्भावनया प्रसीदेदिति राज्ञा तत्कृते तत्पदं युक्तं प्रयुक्तम्। स्वैरं स्वच्छन्दं निःशङ्कं च, द्विःप्रयोगस्तु स्वाच्छन्द्यस्य निःशङ्कतायाश्चातिशयं द्योतयति। पूर्ववाक्यगतं कर्तृपदमुत्तरवाक्ये तृतीयान्तेन विपरिणमय्य योजनीयम्। मित्रेण मदीयबलात्करणभीतिमसम्भाव्य शीघ्रं भृशं प्रसद्य निःशङ्कं स्वेच्छया वक्तव्यमुत्तरं मत्प्रश्नस्येत्यर्थः।

पूर्वोक्तसामवचनेन प्रसीदन् राज्ञः प्रश्नस्योत्तरं दित्सुराह विदूषकः—इदाणिम्

राजा—और क्या जबर्दस्ती से।

विदू०—तब तो सुना नहीं जा सकता।

राजा—कृपा करिये, महाराज! मान जाइये। इच्छानुसार बेधड़क कहिये।

विदू०—अब आप सुनें—पूजनीया वासवदत्ता मुझे अधिक सम्मत हैं। माननीया

बहुमदा। तत्तहोदी पदुमावदी तरुणी दस्सणीआ अकोवणा अणहङ्कारा महुरवाआ सदक्खिण्णा। अअं च अवरो महन्तो गुणो, सिणिद्धेण भोअ-णेण मं पच्चुग्गच्छइ वासवदत्ता-कहिं णु खु गदो अय्यवसन्तओ त्ति।

वासवदत्ता—(क) भोदु भोदु, वसन्तअ! सुमरेहि दाणिं एदं।

तत्रभवती पद्मावती तरुणी दर्शनीया अकोपना अनहङ्कारा मधुरवाक् सदाक्षिण्या। अयं चापरो महान् गुणः, स्निग्धेन भोजनेन मां प्रत्युद्गच्छति वासवदत्ता—कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तक इति।

(क) भवतु भवतु, वसन्तक! स्मरेदानीमेताम्।

इति। मित्रवर! मन्मुखादुत्तरं श्रोतुमुत्सुकेन भवता श्रूयतां तदिदमिदानीं मया निगद्यमानम्। बहुमानदृष्ट्या पश्याम्यहं श्रीमतीं वासवदत्ताम्। इत्थमात्मनो वासवदत्तायां बहुमानं संसूच्य 'कदाचिदेतदवगत्य पद्मावत्या मह्यं कुप्येते'ति तद्गुणानपि विवर्णयिषुः, सममेव वासवदत्तागतमात्मनो बहुमानस्य कारणीभूतमनुभूतचरं गुणविशेषं दिदर्शयिषन् वक्तुमुपक्रमते भोजनभट्टो विदूषकः—**तत्तहोदी।** इति। अकोपना शान्तस्वभावा, सदाक्षिण्या उदारा। 'अयं चापर' इत्यनेन पद्मावत्यां प्रदर्शितास्त एते गुणा वासवदत्तायामपि यथासम्भवमुपलभ्यन्त एवेति ध्वनितम्। स्निग्धेन सरसेन। प्रत्युद्गच्छतीति भूतार्थे वर्तमानता। अन्वेषणपुरःसरं संमुखमागत्य सम्भावयति स्मेति यावत्। अयि! सखे! माननीया श्रीमती पद्मावती यौवनं कामनीयकं शान्तस्वभावतमभिमानशून्यत्वं प्रियभाषितामौदार्यं चेत्यार्यैगुणगणं वहन्ती नूनं प्रशंसनीया। सत्स्वप्येतेषु गुणेषु तत्र वासवदत्तायां गुणविशेषोऽयमन्योऽनन्यसामान्यः समुपलब्धो मया—यदसौ 'श्रीमान् विदूषकः क्वास्ती'ति मामितस्ततोऽन्विष्योपलभ्य सरसं भोजनं मत्पुरस्तादुपस्थापयन्ती मदीयं महीयांसमादरं करोति स्मेति तस्यां वासवदत्तायां मे बहुमान उचित एवास्तीति भावः।

विदूषकमुखेन स्वां बहुमतां पद्मावतीं च गुणवतीं निशम्य स्वगतं वासवदत्ताह—**भोदु भोदु** इति। आभीक्ष्ण्ये (पौनःपुन्ये) भवतु भवत्विति द्विर्भावः।

पद्मावती युवती, सुन्दर, क्रोधहीन, अभिमानरहित, मिष्टभाषिणी तथा सभी लोगों पर समान अनुराग करने वाली हैं। यह भी दूसरा बड़ा भारी गुण है कि 'आर्य वसन्तक कहाँ गये' इस प्रकार खोजती हुई वासवदत्ता स्वादिष्ट भोजन से मेरा आदर करती थीं।

वासव०—अच्छा, अच्छा। वसन्तक! अब इन्हीं को याद करिये।

राजा—भवतु भवतु वसन्तक! सर्वमेतत् कथयिष्ये देव्यै वासवदत्तायै।

विदूषकः—(क) अविहा वासवदत्ता? कहिं वासवदत्ता? चिरा खु उवरदा वासवदत्ता।

(क) अविह्वा, वासवदत्ता? कुत्र वासवदत्ता? चिरात् खलूपरता वासवदत्ता।

पूर्वोक्तं वासवदत्तागुणवर्णनं कर्तुं, एतां बहुमतात्वेनाभिमतां वासवदत्ताम्। अयि! वसन्तक! त्वत्कर्तृकमिदं मदीयगुणवर्णनं पुनः पर्याप्तमिदानीम्, न तस्यावश्यकता। जानाम्यहं ते मानसं भावम्। समयेऽस्मिन्ममाऽनुपलब्ध्या मम स्मरणमेव केवलं कुर्वंस्तेनैवात्मानं विनोदयेति भावः। अथवा एतां पद्मावतीम्। अनुपलभ्यमानायां मयि मदीयस्मरणं दुःखदायकतया व्यर्थमेवास्तीत्यधुना पद्मावत्याः स्मरणं कुर्याः। सैव त्वां साम्प्रतं सम्भावयिष्यतीत्यर्थः। 'एदं' इति प्राकृतस्य 'एतत्' इति वा संस्कृतम्। एतत् प्रत्युद्गमनम्। अयमर्थः—सरसेन भोजनेन मत्कर्तृकं ते प्रत्युद्गमनमिदानीं त्वया स्मरणीयमेव। न ज्ञायते पुनरिदं कदा लभ्येतेति।

'श्रीमती वासवदत्ता बहुमता ममे'त्येवं वदन्तं विदूषकं प्रशंसन्नाह राजा—**भवतु भवत्विति**। एषाऽप्याभीक्ष्ण्ये द्विरुक्तिः। वासवदत्तायां बहुमानस्य वर्णनं पर्याप्तमिदानीमित्यर्थः। 'देव्यै वासवदत्तायै' इति सम्प्रदाने चतुर्थी कथञ्चित्साध्या। वस्तुतस्तु सम्प्रदानत्वाविवक्षया 'अकथितं चे'त्यनेन कर्मसंज्ञायां द्वितीया विभक्तिः प्रयोक्तुमुचिता। साधु मित्र! साधूक्तं त्वया, वासवदत्तागुणवर्णनं पुनः पर्याप्तम्। सकलमिदं ते वचनजातं देवीं वासवदत्तां सूचयिष्यामि। तयाप्यस्मदीयो भावो वेदितव्यः। 'अहं बहुमताऽस्मी'ति श्रुत्वा च मोदमाना बहुमानमात्मन्येषा कलयिष्यतीति भावः।

राजा किल वासवदत्ताप्रेममग्नः पूर्वोक्तं प्रलपितवान्। विदूषकस्तु वासवदत्ताया उपरमं तं स्मारयन्नाह—**अविहेति**। अविहेत्यव्ययं विषादे, वासवदत्तेति

राजा—बस, जी वसन्तक! बस ठीक है, देवी वासवदत्ता से यह सब मैं कह दूँगा।
विदू०—हाय! वासवदत्ता। वासवदत्ता कहाँ? वासवदत्ता को मरे बहुत दिन हुए।

राजा—[सविषादम्] एवम् ? उपरता ।

अनेन परिहासेन व्याक्षिप्तं मे मनस्त्वया ।

ततो वाणी तथैवेयं पूर्वाभ्यासेन निःसृता ॥ ५ ॥

पद्मावती—(क) रमणीओ खु कहाजोओ णिसंसेण विसंवादिओ ।

(क) रमणीयः खलु कथायोगो नृशंसेन विसंवादितः ।

क्वासौ कथयिष्यत इति शेषः । चिरात् बहोः समयात्, खल्विति वाक्यालङ्कारे । हा हन्त ! सखे ! अद्यापि वासवदत्ता ? भवानिदं प्रीतितारतम्यं तां कथयिष्यति ? क्वेदानीं सा ? सा तु विनष्टा । विनष्टायां च तस्यां भूयान्समयोऽतीतः ।

ततो राजा विषीदन् ब्रूते—**एवमिति** । सखे ! सत्यं ते वचः । वासवदत्ता हि परलोकं प्रस्थिता, न साम्प्रतं सोपलब्धव्या ।

अनेनेति । अनेन पूर्वोक्तेन 'वासवदत्ता पद्मावती वा प्रिये'त्येवंरूपेण, परिहासेन सलीलवचसा, त्वया मे मनो मदीयं चेतः, व्याक्षिप्तं मुग्धतां नीतं चञ्चलीकृतमिति यावत् । ततस्तस्मात्कारणात् मनसो मुग्धत्वाद्धेतोरिति यावत्, इयं वाणी 'सर्वमेतत्कथयिष्ये देव्यै वासवदत्तायै' इत्येवंरूपा, पूर्वाभ्यासेन प्राक्कालिकसंस्कारवलात्, तथैव तत्कालसदृश्येव, निःसृता निर्गता, मन्मुखादिति शेषः । प्रियाप्रीतितारतम्यरूपं त्वदुक्तं सलीलं वचनं निशम्य प्रमुदितश्चपलचित्तो वासवदत्तावियुक्तमहमात्मानं विस्मृतवानस्मि । वासवदत्तायाः सत्ताकाले च त्वदीयाऽविनयादिकं तां सूचयितुं बहुशोऽभ्यस्तमासीत्पुरा । मनसो मुग्धतया हि तत्तादृक्पूर्णकालिकाभ्यासवशात्तादृगेवेदं वचनं परवशस्य मे वदनान्निःसृतं साम्प्रतम्, बुद्धिपूर्वं तु मया नोक्तमिति भावः । अनुष्टुव् वृत्तमिदम् ॥ ५ ॥

रमणीआ इति । खल्विति वाक्यसौन्दर्ये । नृशंसेन क्रूरेण, 'नृशंसो घातुकः क्रूर' इति कोषः, दुष्टेनेति यावत्, विदूषकेणेत्यर्थः, विसंवादितः नाशितः । प्रियाविषयकप्रियतमप्रणयप्रकाशकतया हृदयङ्गमः प्रस्तुतस्तावदयं वार्तालापप्रसङ्गो

राजा—(खेद से) ऐसा ? मर गयी वासवदत्ता ।

इस परिहास से तो तुमने मेरा मन चंचल बना दिया । उससे, पहिले के अभ्यास से वैसी ही यह बात निकल पड़ी ॥ ५ ॥

पद्मा०—दुष्ट विदूषक ने सुन्दर कथाप्रसङ्ग को बिगाड़ दिया ।

वासवदत्ता—[आत्मगतम्] (क) भोदु भोदु, विस्सत्थह्मि । अहो ! पिअं णाम, ईदिसं वअणं अप्पच्चक्खं सुणीअदि ।

विदूषकः—(ख) धारेदु धारेदु भवं । अणदिक्कमणीओ हि

(क) भवतु भवतु, विश्वस्तास्मि । अहो ! प्रियं नाम, ईदृशं वचनमप्रत्यक्षं श्रूयते ।

(ख) धारयतु धारयतु भवान् । अनतिक्रमणीयो हि विधिः । ईदृश-

दुर्जनेन विदूषकेण वासवदत्ताया असत्तां स्मारयता सम्प्रत्यहो ! विघटितः । 'चिरात्खलूपरता वासवदत्ते'ति यद्यसौ नासूचयिष्यद्विदूषकस्तर्हि किं किं न प्रालपिष्यत्प्रीतिमुग्धः सोऽयमार्यपुत्रः । तेन च तदीयं किमपि मया हृद्गतं वेदितुमपारयिष्यतेति हार्दमाकूतं वचनमेतदुदीरयन्त्याः पद्मावत्याः ।

भोदु भोद्विति । पूर्वप्रदर्शितमेतं वचःप्रपञ्चमाकलयन्त्या वासवदत्तायाः ससन्तोषं मानसोद्गारोऽयम् । भवतु भवत्विति भृशार्थे द्विर्भावः । विश्वस्ता समुत्पन्नविश्वासा, अहो इति प्रशंसायाम्, नामेति निश्चयार्थकम्, अप्रत्यक्षं परोक्षम् । वासवदत्तां विनष्टां सूचयन्विदूषको हृदयङ्गमं तमेतं प्रस्तुतं कथाप्रसङ्गं विघटितवांस्ततश्चार्यपुत्रो मत्प्रीतिविषयकं किमप्यधिकं नोक्तवानित्यतः का नाम हानिः ? तावदेव तत्प्रियतमोक्तं पर्याप्तम् । तदीयाऽनिर्वचनीयनिर्व्याजप्रेम्णः प्रत्ययं प्राप्तवत्यस्मि, तद्विषये च न वर्तते क्वापि मे शङ्का । सन्तोषकरमिदं नूनं प्रशंसनीयम् यत्किलैतादृशप्रणयसूचकमार्यपुत्रप्रयुक्तं वचनं परोक्षमपि श्रवणाभ्यां पीयते मया । सर्वथाहं धन्यास्मि । प्रत्यक्षं प्रायः सर्वेऽपि प्रीतिवैभवं प्रकटयन्ति, परोक्षं तु तत्प्रकटनं कथं नाम न प्रशंसनीयं भवेदिति भावः ।

सुहृदं राजानं विषादभावापन्नमाकलयन्विदूषकस्तं समाश्वासयन्नाह—**धारेदु इति ।** धारयतु धारयत्विति दाढर्ये द्विरुक्तिः । स्वार्थिकोऽयं णिच्, धैर्यं कर्म । हि हेतौ, अनतिक्रमणीयः अनुल्लङ्घनीयः । ईदृशं कष्टकरम्, एतद् वियोगवैक्लव्यम्, सोढव्यमिति शेषः । मित्रवर ! शोकावेगं निरुध्य दृढतमं सन्धार्य धैर्यमिदानीं दुःख-

---

वासव०—[स्वगत] अच्छा अच्छा (प्रियतम का इतना ही कहना पर्याप्त है), मुझे विश्वास हो गया । ऐसा वाक्य, आड़ से (छिपकर) सुनाई देता है—यह बहुत ही प्यारा निश्चय प्रशंसनीय है ।

विदू०—सम्हल जाइये, आप सम्हल जाइये । दैव का उल्लंघन नहीं हो सकता । इस समय

विही । ईदिसं दाणि एदं ।

राजा—वयस्य ! न जानाति भवानवस्थाम् ! कुतः,

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम् ।
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्पं प्राप्ताऽऽनृण्या याति बुद्धिः प्रसादम् ॥

मिदानीमेतत् ।

मापतितमिदं सह्यतां भवता, यतो विधिगतिर्न केनाप्युल्लङ्घयितुं शक्या । भाव्यं भवत्येव । तदानीं भूयोऽनुभूतं तत्तादृशं सुखम्, इदानीं पुनर्वियोगवैक्लव्यमपि कष्टकरमिदं दैवोपनतं तूष्णीं सोढव्यमेव । अत्र न स्वातन्त्र्यं किमपि कस्यापीति भावः ।

विदूषकोक्तमाकर्ण्य विषादभावं नाटयन् राजा ब्रूते—**वयस्येति ।** अवस्थां दुःखदां दशाम्, ममेति शेषः । न ज्ञायते मित्र ! कष्टकरी विरहावस्था मे भवता । अत एतादृशमुपदिश्यते । कुत इति तस्याः कष्टकारणताप्रदर्शनम् ।

तथाहि—**दुःखमिति ।** बद्धं मूलं यस्य स बद्धमूलो दृढः, अनुरागः प्रियाविषयकं प्रेम, त्यक्तुं दुःखं दुस्त्यजः । स्मृत्वा स्मृत्वा तत्प्रेम्णो मुहुः स्मरणेन, दुःखं मे कष्टं, नवत्वं याति नवमिव सम्पद्यते । कष्टं पुनः प्राक्कालिकमपि स्मृतिबलेन तात्कालिकमिव सञ्जायत इति भावः । इह अस्मिन्प्रसङ्गे, यात्रागतिरुपायस्तु, एषा वक्ष्यमाणा वर्तते, यत् वाष्पं विमुच्य रोदनमित्यर्थः । भावार्थे त्वाप्रत्ययः । (तेन च) प्राप्तानृण्या प्राप्तं लब्धमानृण्यं तत्प्रेम्णो निष्कृतिर्यया सा, बुद्धिर्मनः, प्रसादं नैर्मल्यं, याति गच्छति, प्रसीदतीति यावत् । महीयान्खलु निस्तुलः श्रीमान् वासवदत्तायाः प्रणयमहिमा । विरहे च तत्स्मरणं मुहुर्दुःखमुद्बोधयति । तेन चातितरां मुग्धं व्याकुलं जायते मनः । रोदनेन हि दुःखभारो लघूभवतीति तदानीं रोदनमेव मनसश्चञ्चलस्याकुलस्य नूनं स्थिरीकरणोपायः । प्रीतिपात्रप्रेमसम्पादनाद् ध्रुवं मनोऽधमर्णं भवति, अश्रुपात एव तदृणनिर्यातनं नाम वियोगावस्थायाम् । इत्थं सति वियोगवशादवसन्नं मनः पर्याकुलं कथमपि प्रसन्नतामधिगच्छति । अतो हि

यह वियोग-दुःख (चुपचाप सहना ही होगा)।

राजा—मित्र ! तुम मेरी अवस्था को नहीं जानते । क्योंकि—

प्रियजनों में दृढ़ भये हुए प्रेम को छोड़ना कठिन है । बार-बार उसकी स्मृति करने से दुःख नया-सा हो जाता है । इस दशा में आँसू बहाना ही एकमात्र उपाय है । इससे प्रियजन के प्रेम से उऋण होकर मन प्रसन्न होता है ।

विदूषकः—(क) अस्सुपादकिलिण्णं खु तत्तहोदो मुहं। जाव मुहोदअं आणेमि। [निष्क्रान्तः।]

पद्मावती—(ख) अय्ये! बप्फाउलपडन्तरिदं अय्यउत्तस्स मुहं।

(क) अश्रुपातक्लिन्नं खलु तत्रभवतो मुखम्। यावन्मुखोदकमानयामि।
(ख) आर्ये! बाष्पाकुलपटान्तरितमार्यपुत्रस्य मुखम्। यावन्निष्क्रामामः।

विरहावस्थोचितं दौःस्थ्यमनुभवता नियतमधिगन्तव्यं मया रुदित्वैव साम्प्रतं स्वास्थ्यमिति भावः। अत्र च स्मृत्वे'ति हेत्वर्थे त्वाप्रत्ययश्चिन्त्यः। 'व्याकुलीभवत' इति पदाक्षेपात्कथञ्चित्समर्थनीयो वा। केचित्तु कृत्प्रत्ययान्तां 'दुःख'मिति क्रियां कल्पयित्वा समानकर्तृकतया त्वाप्रत्ययमुपपादयन्ति। इत्थमेव 'विमुच्ये'त्यत्रापि भावार्थे प्रयुक्तस्त्वाप्रत्ययो विचारणीयः। 'स्थातव्य'मिति पदाक्षेपेण वा स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। शालिनी वृत्तमिदम्, 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥ ६ ॥

सुहृदो वियोगदुःखाद्रुदितं दृष्ट्वा विदूषकः आह—**अस्सुपादेत्यादि**। अश्रुपातक्लिन्नम्, अश्रुपातेन रोदनजलोद्गेन क्लिन्नमार्द्रम्। क्लिन्नमित्यत्र क्लिद्यतेः क्तप्रत्यये 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इत्यनेन तकारदकारयोर्नत्वम्। खलु वाक्यालङ्कृतौ, यावदित्यस्य 'अत' इत्यर्थः। मुखोदकं मुखप्रक्षालनजलम्, मध्यमपदलोपी समासः। अहह! रुदितेन हेतुनाऽधुना माननीयस्य राज्ञो वदनं भृशमार्द्रं मलिनं सञ्जातम्। अतो मुखप्रक्षालनाय मया जलमानेतुं गम्यत इत्यर्थः। प्रस्तावोचितं विदूषकस्य सलिलाहरणाय निर्गमनं दर्शयति कविः—**निष्क्रान्त** इति।

'सन्निधावेव शिलातले समवस्थितं सविदूषकं राजानमाकलय्य वासवदत्तादयो माधवीकुञ्जं प्रविष्टास्तद्दर्शनपरिहाराय तत्रैवाऽवरुद्धाः सत्यो वहिर्निर्गन्तुं ततो न प्रभवन्ति स्मे'ति पूर्वं प्रतिपादितम्। अस्मिन्क्षणे तु पतदश्रुपूर्णेक्षणः प्रियतमो न किलास्मान् द्रष्टुं शक्नुयादिति कुञ्जान्निर्गमनावसरमुदीक्षमाणा पद्मावत्यावन्तिकां प्रति ब्रूते—**अय्ये** इति। वाष्पाकुलपटान्तरितम्, वाष्पेणाश्रुणा आकुलं व्याप्तम्, अतः पटेन वस्त्रेणेवान्तरितं व्यवहितमाच्छादितं चेति कर्मधारयः। यावदित्यस्य 'अधुने'त्यर्थः। अयि! मान्ये! प्रियतमस्य सम्प्रत्यश्रुपातमलिनी-

---

विदू०—आपका मुख आँसुओं के गिरने से मलिन हो गया है, तो मुख धोने के लिये पानी ले आता हूँ। (चला गया।)

पद्मा०—आर्ये! आर्यपुत्र का मुख अश्रु-पूर्ण होने से मानों कपड़े से ढँका हुआ है।

जाव णिक्कमह्म।

वासवदत्ता—(क) एव्वं होदु। अहव चिट्ठ तुवं। उक्कण्ठिदं भत्तारं उज्झिअ अजुत्तं णिग्गमणं। अहं एव्व गमिस्सं।

चेटी—(ख) सुट्ठु अय्या भणादि। उवसप्पदु दाव भट्टिदारिआ।

(क) एवं भवतु। अथवा तिष्ठ त्वम्। उत्कण्ठितं भर्तारमुज्झित्वाऽयुक्तं निर्गमनम्। अहमेव गमिष्यामि।

(ख) सुष्ठ्वार्या भणति। उपसर्पतु तावद् भर्तृदारिका।

कृतमेतन्मुखं प्रतीयते वस्त्रेणैवाच्छन्नम्। अश्रूणि किल वस्त्रकार्यमावरणं मुखे कुर्वन्ति प्रेयसः। एतेन स किलास्मान्न वीक्षितुमस्मिन्क्षणे क्षमो भविष्यतीति हेतोरितो निर्गच्छामो वयमित्यर्थः। समीचीनोऽयमवसरो निर्गमनस्येति पद्मावत्यावन्तिकायास्तत्रानुमतिमेतेन वचसा प्रार्थ्यते।

कुञ्जान्निर्गमनेऽनुमतिं प्रार्थयमानां पद्मावतीं प्रत्यब्रवीदावन्तिका—**एव्वमिति**। समीचीनस्ते विचारोऽयम्। इतो निर्गन्तव्यमधुनास्माभिरित्यर्थः। पुनः किञ्चित् समयोचितं विचार्य पद्मावतीं ततो निर्गमनान्निवारयितुकामा पक्षान्तरमुपक्षिपति—**अहवेति**। उज्झित्वा त्यक्त्वा, उपेक्ष्येति यावत्। अयि! पद्मावति! सर्वासां नो निर्गमनपक्षोऽयं न समीचीनः। त्वयात्रैव स्थीयताम्। त्वद्दर्शनविषयिणीं भृशमुत्कण्ठां वहन्तं प्रियतमं पतिमुपेक्षापथं नीत्वा नेतो निर्गन्तुमर्हसि त्वम्। एकाकिन्या मयैवेतः प्रस्थास्यते, न मया सार्धमिदानीं गन्तुमुचितं तवेति भावः। 'अत्रावस्थितायां मयि मदर्थमेषापि प्रियदर्शनाद्विरहिता भवती'ति तस्मात्प्रदेशादात्मनो निर्गमनप्रस्तावः समुपस्थापितोऽयं समयोचितो वासवदत्तया (ऽऽवन्तिकया)।

आवन्तिकयोपस्थापितं तमेतं प्रस्तावमनुमोदमाना चेटी ब्रूते—**सुट्ठु** इति। सुष्ठु उचितम्, आर्या आवन्तिका। उपसर्पतु, भर्तारमिति शेषः। तावद्वाक्यालङ्कारे। श्रीमत्याऽऽवन्तिकया वचनमेतदुचितं प्रस्तूयते। एतया गम्यतामितः। राजकुमार्या पुनर्भर्तुः समीपं गन्तव्यम्। कालेऽस्मिन्निदमेव कार्यं कार्यमिति भावः।

इस समय हम लोग निकल चलें।

वासव०—ऐसा ही सही। अथवा तुम यहीं ठहरो। उत्कण्ठित भये हुए स्वामी को छोड़कर तुम्हारा यहाँ से जाना ठीक नहीं। मैंही जाऊँगी।

दासी—आर्या ठीक कहती हैं। आप स्वामी के पास जायें।

पद्मावती—(क) किं णु खु पविसामि ?

वासवदत्ता—(ख) हला ! पविस । [इत्युक्त्वा निष्क्रान्ता ।]

[प्रविश्य]

विदूषकः—[नलिनीपत्रेण जलं गृहीत्वा] (ग) एसा तत्त-होदी पदुमावदी ? ।

पद्मावती—(घ) अय्य ! वसन्तअ ! किं एदं ?

(क) किन्नु खलु प्रविशामि ?
(ख) हला ! प्रविश ।
(ग) एषा तत्रभवती पद्मावती ?
(घ) आर्य ! वसन्तक ! किमेतत् ?

प्रियोपसर्पणं प्रति चेट्या प्रेरिता पद्मावती विषयेऽस्मिन्नावन्तिकाया अभ्यनुज्ञां याचते—**किं णु खु** इति। नु खलु इति वाक्यालङ्कारे । प्रविशामीति विध्यर्थे लट्, प्रियावस्थानपवित्रीकृतं प्रदेशमिति शेषः । किमधुना भर्तुः समीपं गम्यतां मया ? अभ्यनुज्ञायते च किमिदं भवत्या ?

अत्र विषयेऽभ्यनुज्ञां दर्शयत्यात्मन आवन्तिका—**हलेति** । सखि ! स्वैरमुप-सर्पणीयस्ते प्रियः साम्प्रतम् । इत्येवमुचितं पद्मावतीं निगद्य वासवदत्ता (आवन्तिका) ततो निर्गच्छति स्मेत्याह—**इत्युक्त्वेत्यादि** ।

राज्ञो मुखस्य प्रक्षालनार्थमुदकमानेतुं गतस्य विदूषकस्य साम्प्रतं राजसन्निधौ प्रवेशमाह–**प्रविश्येति** ।

कमलिनीपत्रपुटे जलमादाय राज्ञः समीपमुपेयिवान्विदूषकस्तत्रोपनतां पद्मावतीं पश्यन् सप्रमोदाश्चर्यं वचनमाह—**एसेति** । अहो ! अत्र पूज्या पद्मावती श्रीमतीयं विराजते ? चिरात्किल यस्या दर्शनं प्रत्युत्कण्ठिता वयं, सेयमनायासमेवास्माकं पुर-स्तात्समुपस्थितेति नूनमानन्ददायी क्षणोऽयं प्रियसखस्य राज्ञः कृते ।

प्रियतमं रुदन्तं विदूषकं च जलमानयन्तमालोच्य तत्कारणं जिज्ञासमाना विदूषकं पृच्छति पद्मावती—**अय्येति** । एतत्किम् आर्यपुत्रकर्तृकरोदनं भवत्कर्तृकं

पद्मा०—क्या मैं जाऊँ ?

वासव०—हाँ, सखी जाओ । (ऐसा कह चली गई ।)

(प्रवेशकर)

विदू०—(कमल के पत्ते में पानी लेकर) अहा ! ये माननीय पद्मावती यहाँ आ गईं ?

पद्मा०—आर्य वसन्तक ! यह क्या ?

विदूषकः—(क) एदं इदं। इदं एदं।

पद्मावती—(ख) भणादु भणादु अय्यो भणादु।

विदूषकः—(ग) भोदि! वादणीदेण कासकुसुमरेणुणा अक्खिणिपडिदेण सस्सुपादं खु तत्तहोदो मुहं। ता गह्णदु होदी इदं मुहोदअं।

(क) एतदिदम्। इदमेतत्।

(ख) भणतु भणत्वार्यो भणतु।

(ग) भवति! वातनीतेन काशकुसुमरेणुनाऽक्षिनिपतितेन साश्रुपातं खलु तत्रभवतो मुखम्। तद् गृह्णातु भवतीदं मुखोदकम्।

जलानयनं चेत्युभयं किङ्कारणकमित्यर्थः। अयि! मान्य! वसन्तक! किमर्थमार्यपुत्रेणाद्य रुद्यते भवता च पानीयमानीयते? कथ्यतां तत्कारणं यथार्थं भवतेति भावः।

रोदनजलानयनयोः कारणे ज्ञातुं पूर्वोक्तं पृच्छन्त्याः पद्मावत्या अभिप्रायं बुद्ध्वापि, यथार्थं तत्कारणं गोपनीयमनुद्घाटयन्प्रकृतं करगतवस्तुविषयकप्रश्नस्योत्तरं दित्सुर्विदूषकः सहासमस्फुटं किमप्याह—**एदमिति**। एतत् करस्थम्, इदं जलम्। मत्करे किमस्तीत्येवं पृच्छ्यते चेद्भवत्या, जलमिदं वर्तत इत्युत्तरं दीयते मया। पदप्रातिलोम्येन पुनरपि तदर्थकमेव वाक्यान्तरमाह—**इदमिति**। जलमेवेदं, नान्यत्किमपि। प्रत्यक्षमेवैतद्भवत्या इति वाक्यद्वयार्थः।

भणादु इति। प्रियतमस्य रोदनकारणं ज्ञातुं तदुचितं च विदूषकवदनादुत्तरं सुस्पष्टमधिगन्तुमिच्छन्त्याः पद्मावत्या वचनमिदम्। त्रिरुक्तं 'भण'त्विति पदं तदुत्तरश्रवणे सत्वराया अत्यन्तौत्सुक्यं सूचयति पद्मापत्याः। यत्किमप्येवं किमुच्यते श्रीमता? कथ्यतां यथार्थं कारणमार्यपुत्राश्रुपातस्य भवतो जलानयनस्य च। तत्समाकर्णयितुं भृशमुत्कण्ठितास्मीति भावः।

'वासवदत्तावियोगवैक्लव्याद्राजा रोदितीत्युक्ते सति सपत्नीभावसहजमीर्ष्याभावं भजन्तीयं पद्मावती प्रियतमे प्रणयकोपमाविष्कुर्या'दिति हेतोर्विदूषकः सत्यं कारणमपलप्य कारणान्तरं तत्र समयोचितमसत्यं निर्दिशति—**भोदि**। इति।

विदू०—वह यह, यह वह।

पद्मा०—कहिये कहिये, आप कहिये।

विदू०—आर्ये! हवा से उड़ाई गई कास के फूल की धूल के आँख में पड़ने से राजा के मुख पर आँसू बह आये हैं। तो आप मुख धोने के इस पानी को लें।

पद्मावती—[आत्मगतम्] (क) अहो ! सदक्खिणस्स जणस्स परिजणो वि सदक्खिणो एव्व होदि । [उपेत्य] जेदु अय्यउत्तो । इदं मुहोदअं ।

राजा—अये ! पद्मावती ? [अपवार्य] वसन्तक ! किमिदम् ?

(क) अहो ! सदाक्षिण्यस्य जनस्य परिजनोऽपि सदाक्षिण्य एव भवति । जयत्वार्यपुत्रः । इदं मुखोदकम् ।

वातनीतेन पवनावधूतेन, अश्रुपातो रोदनजलोद्गमस्तेन सहितं साश्रुपातम्, खलु निश्चये । तत् तस्मात्कारणात् । श्रीमति ! वातावधूतं काशकुसुमानां रजो नयनाभ्यन्तरं गतम् । नियतमेतेन हेतुना समयेऽस्मिन्पूजनीयस्य राज्ञो मुखेऽश्रूणि पतन्ति दृश्यन्ते । अतो राजकीयमुखप्रक्षालनार्थं मयानीतमेतत्पानीयं गृह्यतां भवत्या प्रक्षाल्यतां च श्रीमतो राज्ञो मुखमश्रुपातमलिनमित्यर्थः ।

विदूषकस्य वचनमुदारमाकर्ण्य तदौदार्यं प्रशंसति स्वान्ते पद्मावती—**अहो** इति । अहो इत्यव्ययं प्रशंसावाचि, परिजनः स्वात्मीयवर्गः । उदरो जन उदारमेव जनं लभते । यो यादृशः स तादृशमेवाप्नोति सहचरम् । इदमौदार्यं सर्वथा प्रशंसनीयं विदूषकस्य, यदनेन राज्ञो दुःखेन दुःखिना सता राजानं स्वस्थतां नेतुं कुतोऽप्यन्विष्य जलमानीतम् । समदुःखसुखत्वमेव तावदौदार्यम् । अहो ! कीदृशीमेष राज्ञो विषये चिन्तामुद्वहति । इत्येवं स्वगतमभिधाय भर्तुः समीपं गत्वा ब्रवीति—**जेदिवति** । श्रीमान् पतिदेवः सर्वोत्कर्षेण वर्तताम् । स्वामिन् ! मुखप्रक्षालनार्थमेतत्सलिलम्, एतेन मुखं प्रक्षालनीयमित्यर्थः ।

मुखप्रक्षालनजलमुपनयन्तीं पद्मावतीमुपनतां विलोक्य सानन्दं राजा ब्रूते—**अये** इति । अये इति सम्भ्रमं व्यनक्ति । पद्मावत्यास्तत्र सहसोपलब्ध्या सम्भ्रमो युज्यते राज्ञः । समुपस्थितेति शेषः । अहो ! प्रियतमा पद्मावतीयं समागता ? अपवार्य पद्मावत्याः सकाशान्मुखं परावर्त्य विदूषकसम्मुखं कृत्वेत्यर्थः । किमिदं

पद्मा०—(स्वगत) अहा ! उदार लोगों के सेवक भी उदार ही होते हैं । (पास पहुँच कर) आर्यपुत्र की जय हो । यह मुँह धोने का पानी है ।

राजा—ऐं पद्मावती ? (पद्मावती से मुँह फेर कर विदूषक से) वसन्तक ! यह क्या ?

विदूषकः—[कर्णे] (क) एव्वं विअ ।

राजा—साधु वसन्तक ! साधु । [आचम्य] पद्मावति ! आस्यताम् ।

पद्मावती—(ख) जं अय्यउत्तो आणवेदि । [उपविशति ।]

(क) एवमिव ।
(ख) यदार्यपुत्र आज्ञापयति ।

किन्तावदेतत्, आपतितमिति शेषः । अयि ! मित्र ! सहसोपलब्धया हि पद्मावत्या कथं किमेतदानीतम् ? इदानीं रोदनकारणं च किमस्यै मया निवेदनीयम् ?

राज्ञः प्रश्नस्योत्तरं कर्णे कथयति विदूषकः—**एव्वं विअ** इति । इवेति वाक्यालङ्कारे । एवमित्युत्तरणप्रकारप्रदर्शनम् । तच्च गूढं पद्मावत्या नाकर्णनीयमिति तस्य कर्णे कथनम् । तत्तावद्विदूषकोक्तमिदमेव—'इमं प्रदेशमागतया पद्मावत्या मित्र ! भवतोऽवस्थामिमां मत्कर्तृकतत्सलिलानयनं च नयनयोः पदवीमानीय तत्कारणं मत्पुरो जिज्ञासितम् । अस्पष्टं यत्किमप्युक्ता च सा मया, स्पष्टतया पुनस्तदेतद्वक्तुं, माममतितरामन्वरौत्सीत् । ततोऽहं भवतो वास्तवं रोदनकारणं वक्तमनुचितं मन्वानः काशपुष्पपरागेणाक्षिपतितेन राजा रोदिति, तदर्थं च मुखप्रक्षालनौपयिकमिदं पानीयमानीतं मया, भवत्योपनीयतां श्रीमतो राज्ञः समीपमित्येव निवेदितवान् । सम्प्रत्येतां प्रति भवताऽप्येतदेव रोदनकारणमात्मनः प्रकटनीय'मिति ।

विदूषकनिवेदितं रहस्यार्थमवधार्य तदर्थं तं प्रशंसन्नाह राजा—**साध्विति ।** साधु साध्विति भृशार्थे द्विक्तिः । मित्रवर ! सुतरां समीचीनमुत्तरं सूचितं त्वया । मयापि तदेवेदं निवेदयिष्यत इत्यर्थः । कर्णे कथितं विदूषकवचनं निशम्य राज्ञस्तत्प्रशंसनं चेदमौचित्यात्कर्ण एवाऽपवार्य वा कृतमत्र वेदितव्यम् । पद्मावत्योपहृतं मुखप्रक्षालनजलं गृहीत्वा तेन राज्ञा कृतं मुखप्रक्षालनं दर्शयति कविः—**आचम्येति ।** मुखं प्रक्षाल्येत्यर्थः । **पद्मावतीति ।** पद्मावतीमुपवेशयितुमिच्छतो राज्ञः 'प्रिये ! समुपविश्यता'मितीदं पद्मावतीं प्रति वचनम् ।

भर्तुराज्ञायाः सादरस्वीकरणं नाटयति पद्मावती—**जमिति ।** आज्ञां करोति

विदू०—(कान में) यह ऐसा ।
राजा—शाबास वसन्तक ! शाबास । (मुँह धोकर) पद्मावती ! बैठ जाइये ।
पद्मा०—जैसी आपकी आज्ञा । (बैठती है ।)

राजा—पद्मावति !

शरच्छशाङ्कगौरेण वाताविद्धेन भामिनि ! ।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम ॥ ७ ॥

आज्ञापयति, 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, आदन्तत्वात्पुगागमः। तत्रभवत्ता श्रीमता यदादिश्यते, तत्पूरयितुमेतया मया सन्नद्धया भूयते। भर्तुराज्ञां शिरोधार्यां सादरमूरीकृत्य सम्प्रत्येषाहमुपविशामीति भावः। ततस्तस्यात्रोपवेशं दर्शयति—**उपविशतीति।**

इत्थमात्मनः समीपमुपवेश्य पद्मावतीं 'मदश्रुपातकारणं तत्त्वतो विज्ञाय बालेयमीर्ष्याकषायिता कोपना सती विमनायेत, अनुक्ते च मया तत्कारणे नूनमन्यथा किमपि शङ्केते'त्येवं किल विदूषकवचनानुसारं सम्भाव्य राजा वस्तुस्थितिं गोपयन्नश्रुपाते कारणान्तरमन्यथा निर्दिदिक्षयन्वक्तुमुपक्रमते—**पद्मावतीति।** सम्बुद्धिरियं श्लोकान्वयिनी।

तदेव राज्ञो वचनं दर्शयति कविः—**शरदित्यादि।** अत्र पद्ये वासवदत्तावियोगहेतुतामश्रुपातस्य तर्कयन्तीं सम्भाव्यकोपां पद्मावतीमुद्दिश्य तत्कृते राज्ञा कृतमिदं 'भामिनी'ति सम्बोधनं युज्यते। भामिनि ! कोपने ! 'कोपना सैव भामिनी'त्यमरः, अयि ! पद्मावति ! शरच्छशाङ्कगौरेण शारदचन्द्रवद्धवलेन, वाताविद्धेन वायुना वेल्लितेन चालितेन, 'आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लित'मित्यमरः, काशपुष्पलवेन काशाख्यप्रसूनकणेन धूलिरूपेण नयनयोरन्तरं गतेनेति शेषः, इदं दृश्यमानं, मम मुखं मदीयमाननं, साश्रुपातं रोदनजलोद्गमेन सहितम्, सञ्जातमासीदिति सामान्यक्रियाक्षेपः। 'अयि प्रिये! सम्प्रति मदीयाश्रुपातविषयकं मनस्यन्यथा किमपि शङ्कमानया न त्वया मयि कुपितया विमनायमानयापि भाव्यम्। अत्र हि प्रमदवने काशपुष्परेणवो वायुना समन्ततः क्षिप्यन्ते। त एवामी मन्नयनान्तरे निपतिता अश्रूण्युद्भावयन्ति। इदमेव तावत्कारणं मद्रोदने। नेत्रयोर्धूलिपातादश्रूद्गमो युज्यत एवे'ति भावः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ७ ॥

'रोदनस्य वास्तवकारणापह्नवान्मृषा भाषितं समयोचितमिदानीं नेदं दूषणाय। महानुभावा अपि कारणविशेषादसत्यं रोचयन्ते। अन्यथाशङ्कनपरिहाराय प्रयुक्तं

राजा—पद्मावती ! शरदऋतु के चन्द्रमा की भाँति गौरवर्ण, हवा से उड़ी हुई काशकुसुम की धूल के आँख में गिरने से मेरे मुख पर हे प्यारी ! आँसू आ गिरे ॥ ७ ॥

[आत्मगतम्]

इयं बाला नवोद्वाहा सत्यं श्रुत्वा व्यथां व्रजेत् ।
कामं धीरस्वभावेयं स्त्रीस्वभावस्तु कातरः ॥ ८ ॥

विदूषकः—(क) उइदं तत्तहोदो मअधराअस्स अवरह्णकाले

(क) उचित तत्रभवतो मगधराजस्यापराह्नकाले भवन्तमग्रतः कृत्वा

नवोढां पुनः पद्मावतीं प्रत्येतद् गुणाये'ति तस्यौचित्यं समर्थयन् स्वगतमाह राजा—इयमिति। बाला नूतनवयाः मुग्धेति यावत्, नव उद्वाहो यस्याः सा नवोद्वाहा नवोढा, इयं पद्मावती, सत्यं श्रुत्वा रोदनस्य वास्तवं कारणं निशम्य, व्यथां व्रजेत् व्यथिता दुःखिता भवेत्। इयमेषा, धीरस्वभावा, धीरो गम्भीरोऽचञ्चलः स्वभावः प्रकृतिर्यस्यास्तादृशी, कामं बाढं वर्तते, तु किन्तु, स्त्रीणां योषितां स्वभावः, कातरोऽधीरो भवति, 'अधीरः कातर' इत्यमरः। 'मदीयाश्रुपातस्य प्रियतमवासवदत्तावियोगहेतुतायामाकर्णितायां नवोढया मुग्धया पद्मावत्या भृशं व्यथितचित्तया भूयेत। यद्यपि प्रकृत्या धीरयाऽनया सत्यकारणश्रवणेऽपि सापत्न्यसहजमीर्ष्याभावं भजन्त्या विकृतचित्तया न भवितुं शक्यते, तथापि स्वभावतः स्त्रियोऽधीरा भवन्तीति तादृशी शङ्का युज्यतेऽस्यां कर्तुम्। चञ्चलं मनः सर्वेषां विशेषतस्तु बालानाम्, तेन सा किन्नाम कदाचिन्न चिन्तयेत्। अतो मृषैतत्कारणं प्रदर्शयता युक्तमेवाचरितं मये'ति भावः। अत्राप्यनुष्टुप् छन्दः ॥ ८ ॥

अथेदानीं प्रियपतेरश्रुपातस्य कारणं विज्ञाय पद्मावत्यां नवोढाभावसुलभया लज्जया तत्र किञ्चिद्वक्तुमपारयन्त्यां, नृपतौ च सरसोचितवक्तव्यान्तरविचारचुम्बितचेतसि क्षणकालं तूष्णींभावं भजमाने, तत्कालसमुचितं मगधराजोपसर्पणरूपं राज्ञोऽनुष्ठेयमावश्यकं स्मारयन् राजानमुद्दिश्य विदूषको वक्तुमारभते—उइदमिति। मगधराजस्य मगधदेशाधीशितुः, अपराह्णकाले, पञ्चधा विभक्तस्य दिनस्य चतुर्थो भागोऽपराह्णकालस्तत्र। समयश्चायमष्टादशदण्डोत्तरं षड्दण्डपरिमितो वेदितव्यः। अह्नोऽपरमपराह्णः, 'पूर्वापरे'त्यादिनैकदेशिसमासः, 'अह्नोऽह्न एतेभ्य' इत्यह्नादेशः। हि निश्चये, नाम प्रसिद्धौ, प्रतीष्टः स्वीकृतः, प्रीतिमुत्पादयति सन्तोषं

(स्वगत) नई व्याही हुई यह बाला सुनकर सचमुच ही दुःखी होगी। फिर भी यह गम्भीरप्रकृति की है। किन्तु स्त्रियों का, स्वभाव अधीर होता है ॥ ८ ॥

विदू०—महाराज मगधस्वामी को आप के आगे कर शाम के समय अपने मित्रों से भेंट

भवन्तं अग्गदो करिअ सुहिज्जणदंसणं । सक्कारो हि णाम सक्कारेण पडिच्छिदो पीदिं उप्पादेदि । ता उट्ठेदु दाव भवं ।

राजा—बाढम् । प्रथमः कल्पः । [उत्थाय]

गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः ।

सुहृज्जनदर्शनम् । सत्कारो हि नाम सत्कारेण प्रतीष्टः प्रीतिमुत्पादयति । तदुत्तिष्ठतु तावद् भवान् ।

जनयति, अर्थात् सत्कर्तुः । तावद्वाक्यालङ्कारे । अयं भावः'-पूज्याः कन्यापक्षीया हि नूतनं जामातरं दर्शयितुं तेन सहैव परिचितान्सुहृदः समुपगच्छन्तीति प्रायो दृश्यते । अपराह्णश्चायं यत्र तत्र गमनादिभिर्नीयते लोकैः । समयेऽस्मिन् मगधराजः श्रीमान् भवन्तं पुरस्कृत्य मार्गे परिचितानां दर्शनार्थं गन्तुमर्हति । निश्चितं प्रसिद्धं चैतत्, यत्—सम्मानः सम्मानपूर्वकं स्वीकृतः सन् सम्मानकर्तुरान्तरं तोषविशेषमुद्भावयितुं प्रभवति । स एवेतरथा स्वीकृतो विपरीतं भावमुद्भावयति । मगधराजकर्तृकं च पुरस्करणं भवतः सत्कार एव । तमेतं तेन करिष्यमाणमादरं स्वीकर्तुमर्हति भवान् । अतस्तदर्थं तत्रोपस्थातुमित उत्थातव्यमिदानीं भवते'ति ।

विदूषकोक्तेः स्वीकृतिं दर्शयति राजा—**बाढमिति** । बाढं वरम्, प्रथमः कल्पः मुख्यो विधिः, प्रधानं कार्यमिति यावत्, मुख्यः स्यात्प्रथमः कल्प' इति कोषः । मित्र ! सुन्दरस्तवायं प्रस्तावः । मगधराजोपसर्पणं नाम कार्यमिदं मया कार्यमेवाधुनेत्यर्थः । तदौपयिकं च राज्ञस्ततः प्रदेशादुत्थानं दर्शयति—**उत्थायेति** । उत्तिष्ठन् ब्रवीतीत्यर्थः ।

तदेव राज्ञो वचनमाह कविः—**गुणानामिति** । अत्र वाशब्दचशब्दौ समुच्चयवाचिनौ । कर्तारो विज्ञातारश्चेति पदे द्वयोः षष्ठ्यन्तयोः सम्बध्येते । लोके जगति, विशालानां महतामुदाराणां, गुणानां परोपकारादिसत्कर्मणां, सत्काराणां परपूजाप्रभृतीनां च, नित्यशः सन्ततं, कर्तारः प्रयोजका लोकाः, सुलभाः सुखमनायासेन लब्धुं शक्यास्ते भूयांसः सन्ति, गुणानां सत्काराणां च विज्ञातारस्तु सादरं तत्स्वीकर्तारः पुनः, दुर्लभाः दुःखेन लब्धुं शक्याः, विरलास्तादृशः सन्तीत्यर्थः । नित्यमुपकर्तारः सत्कर्तारश्च लोकाः स्वार्थप्रेरिता बहुतमा दृश्यन्ते, किन्तु कृतज्ञाः सत्का-

---

करना उचित है। सत्कार-पूर्वक स्वीकृत सत्कार ही सन्तोष उत्पन्न करता है। तो अब आप उठें।

राजा—ठीक—मुख्य बात है। (उठकर)

बड़े-बड़े उदारता आदि गुणों और सत्कारों के करनेवाले लोग संसार में सर्वदा सुलभ

कर्तारः सुलभा लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः ॥ ६ ॥

[निष्क्रान्ताः सर्वे।]

चतुर्थोऽङ्कः।

अथ पञ्चमोऽङ्कः।

[ततः प्रविशति पद्मिनिका।]

रज्ञाश्च लोके स्वल्पतमा एव। अयमाशयः—'उपकारं सत्कारं च परेषां तत्कर्तृक-प्रत्युपकारप्रतिसत्कारलिप्सया वहवः प्रयुञ्जते, न तत्र कोऽपि विशेषः। परं परकृतोपकारसत्कारप्रकाशनपुरःसरं सादरं तत्स्वीकरणं कर्तुं वहवो न जानन्ति। जानन्तोऽपि वा तत्रोपेक्षन्ते। तद्गुणशालिनस्तु नियतं विशिष्टाः शिष्टगोष्ठीषु गण्या भवन्ति। अतो मगधराजपूजास्वीकरणं नाम तदीयसत्कारज्ञानरूपमिदमनायासलभ्यमन्यदुर्लभं कार्यं मे कर्तुं साम्प्रतं साम्प्रतमस्तीति तत्रैव मयोपस्थातव्य'मित्यलम्। अनुष्टुव् वृत्तमिदम् ॥ ९ ॥

'निष्क्रान्ताः सर्वे' इत्यनेन सर्वेषां राजादीनां ततो निर्गमनं सूचितम्।

अङ्कसमाप्तिं दर्शयति—**चतुर्थोऽङ्क** इति।

इति श्रीस्वप्नवासवदत्तव्याख्यायां प्रवोधिन्यां चतुर्थोऽङ्कः।

पञ्चमाङ्कः प्रस्तूयते साम्प्रतम्—**अथ पञ्चमोऽङ्क** इति।

विदूषकमुखाद्वासवदत्तां प्रियतमामाकलय्य तत्प्रसङ्गाद्वासवदत्तावियोगविकलस्य राज्ञो रोदनं पद्मावतीसमागमो मगधराजोपगमनं चेति संसूचिताश्चतुर्थेऽङ्के विषयाः। अत्र किल पञ्चमेऽङ्के—शिरोवेदनावशात्पद्मावत्या अस्वस्थतामधिगत्य तत्रोपस्थाय तत्प्रतीक्षया तस्या एव शय्यायां शयनसुखं प्राप्तवतस्तान् वासवत्ताविषयकान् स्वप्नदर्शौपयिकान् विलापप्रलापानुपवर्ण्य जाग्रदवस्थायां विदूषकेण समं तद्विषयकमालपतो राज्ञो महाराजदर्शकादेशात्परिपन्थिनमारुणिं प्रति सेनयाऽभिगमनोत्साहो दर्शयिष्यते। तदनुगुणमेव प्रवेशकमुखेन चेटीद्वयस्य करणीयं दर्शयन् पद्मिनिकां नाम चेटीं प्रवेशयति कविः—**ततः प्रविशतीत्यादिना।**

हुआ करते हैं, किन्तु उनके ज्ञाता (जानकार) तो दुर्लभ हैं ॥ ९ ॥

(सब चले गये।)

चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

(पद्मिनिका आती है।)

पद्मिनिका—(क) महुअरिए ! महुअरिए ! आअच्छ दाव सिग्घं ।

[प्रविश्य]

मधुकरिका—(ख) हला ! इअह्मि । किं करीअदु ?

पद्मिनिका—(ग) हला ! किं ण जाणासि तुवं–भट्टिदारिआ पदुमावदी सीर्षवेदणाए दुक्खावदेत्ति ।

(क) मधुकरिके ! आगच्छ तावच्छीघ्रम् ।

(ख) हला ! इयमस्मि । मधुकरिके ! किं क्रियताम् ?

(ग) हला ! कि न जानासि त्वं–भर्तृदारिका पद्मावती शीर्षवेदनया दुःखितेति ।

पद्मिनिका चेयं भर्तृदारिकायाः पद्मावत्याः शिरोवेदनां मधुकरिकानामिकायाः सहचारिण्या मुखेन श्रीमतीं वासवदत्तां, विदूषकमुखेन च स्वयं राजानं निवेदयितुमुत्सुका सती मधुकरिकामन्विष्यन्ती तदुचितं वचः प्रस्तौति—**महुअरिए** इति । मधुकरिके इत्यामन्त्रणं त्वरायां द्विरुक्तम् । तावद्वाक्यालङ्कारः । अयि ! मधुकरिके ! सत्वरमागम्यतां त्वया, कार्यविशेषस्ते समुपस्थित इत्यर्थः ।

तदामन्त्रणानुसारं मधुकरिकायाः प्रवेशं दर्शयति—**प्रविश्येति** ।

सख्या पद्मिनिकयाऽऽमन्त्रिता कृतप्रवेशा च मधुकरिका ब्रूते–**हलेति** । सखि ! एषाहं समुपागता । किमर्थमाहूतास्मि सख्या ? किं तावत्करणीयं मया ?

प्रस्तुतं निवेदयति पद्मिनिका—**हलेति** । शीर्षवेदनया हेतुभूतया शिरोव्यथया । सखि ! साम्प्रतं श्रीमत्या राजकुमार्याः शिरसि वेदना सञ्जाता । तेन हेतुनाऽतितरामस्वस्थतां वहन्ती दुःखिता वर्तते सा । अवस्था च कष्टकरी तस्याः किमियं न ज्ञायते त्वया ?

पद्मि०—मधुकरिका ! मधुकरिका ! जल्दी आओ ।

(आकर)

मधु०—अरी ! यह मैं हूँ । क्या किया जाय ?

पद्मि०—अरी ! तू क्या नहीं जानती कि, सिर की पीड़ा ने राजकुमारी को दुःखी बना दिया है ।

'मधुकरिका—(क) हद्धि ।

पद्मिनिका—(ख) हला ! गच्छ सिग्घं, अय्यं अवन्तिअं सद्दावेहि । केवलं भट्टिदारिआए सीसवेदणं एव्व णिवेदेहि । तदो सअं एव्व आगमिस्सदि ?

मधुकरिका—(ग) हला ! किं सा करिस्सदि ?

(क) हा धिक् ।

(ख) हला ! गच्छ शीघ्रम्, आर्यामावन्तिकां शब्दायस्व । केवलं भर्तृदारिकायाः शीर्षवेदनामेव निवेदय । ततः स्वयमेवागमिष्यति ।

(ग) हला ! किं सा करिष्यति ?

वृत्तमिदमाकर्ण्य कष्टानुभावं नाटयति मधुकरिका—**हद्धीति**। कष्टं सखि ! नूनं कष्टकरमसुं वृत्तान्तं श्रावितवत्यसि । किमधुना विधेयम् ?

तत्कालोचितं तदीयं कर्तव्यं निर्दिशति पद्मिनिका–**हलेति** । शब्दायस्व शब्दं कुरु, कथयेत्यर्थः । वृत्तमेतदिति शेषः । सखि ! सत्वरमितो गम्यतां त्वया तत्रभवतीमावन्तिकां प्रति वृत्तान्तश्चाभिधीयतां श्रीमत्याः पद्मावत्या अस्वस्थतासूचकोऽयमित्यर्थः । वृत्तमिदं च केवलं सूचयन्त्यास्ते तदाह्वानं नावश्यकम्, श्रुतवतीदं सा स्वयमेव तत्रोपस्थिता भवेदित्याह—**केवलमिति** । राजकुमार्याः शिरसः पीडैव केवलं तत्समीपे सूचनीया, श्रुत्वैव तयाऽनाहूतयापि स्वत एव पद्मावतीस्नेहान्नियतं तत्रोपस्थास्यते । समयेऽस्मिन् सखीसमदुःखसुखा च सा पूज्यावन्तिका पद्मावत्याः प्रवृत्तिमेतामधिगत्य दुःखिता क्षणमपि तामदृष्ट्वा न स्थास्यतीति भावः ।

'कार्यमधुना चिकित्सकस्य, किं तयाऽवन्तिकयोपस्थाय विधास्यत' इत्याशयेनाह मधुकरिका—**हलेति** ।

मधु०—हाय ! कष्ट !!

पद्मि०—अरी ! जल्दी जा और उज्जेनवाली आर्या को बुला ला । केवल राजकुमारी का सिरदर्द ही बताना, यह सुनकर वे स्वयं ही आवेंगी ।

मधु०—अरी ! वे क्या करेंगी ?

पद्मिनिका—(क) सा खु दाणिं महुराहि कहाहि भट्टिदारिआए सीसवेदणं विणोदेदि ।

मधुकरिका—(ख) जुज्जइ । कहिं सअणीअं रइदं भट्टिदारिआए ?

पद्मिनिका—(ग) समुद्दगिहके किल सेज्जा त्थिण्णा । गच्छ

(क) सा खल्विदानीं मधुराभिः कथाभिर्भर्तृदारिकायाः शीर्षवेदनां विनोदयति ।

(ख) युज्यते । कुत्र शयनीयं रचितं भर्तृदारिकायाः ?

(ग) समुद्रगृहके किल शय्या स्तीर्णा । गच्छेदानीं त्वम् । अहमपि

तयैव सखीनिर्विशेषया मनसो विनोदनं पद्मावत्याः सम्भावयन्त्याह पद्मिनिका—**सा खु** इति । खलु निश्चये । विनोदयतीति वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट् । अपनेष्यति लघूकरिष्यतीत्यर्थः । सखि ! नूनं तयावन्तिकया समयेऽस्मिन्सरसानि वचनानि प्रयुज्य राजकुमार्याः शिरोवेदना किञ्चिदपनेष्यते । दुःखसमये च सुहृदां सरसमधुराणि वचनान्येव कञ्चित्कष्टभारं लघूकृत्य दुःखिनां मनोऽनुरञ्जयन्तीत्यसौ सत्वरं त्वया सूचनीयेति भावः ।

पद्मिनिकया चिन्तितमुपायमभिनन्दन्ती 'क्वेदानीं पद्मावत्या अवस्थितिर्वर्तते, यत्र किल पूज्ययावन्तिकयोपस्थातव्य'मिति पद्मिनिकां पृच्छन्ती ब्रूते मधुकरिका—**जुज्जइ** इति । शयनीयं शय्या, शयनस्थानमिति यावत्, रचितं कल्पितम् । सखि ! त्वयोक्तमिदं साधूपपद्यते । नूनमयमेवावलम्बनीय उपायः । इदं तावद्वक्तव्यमिदानीं त्वया, यत्किलावन्तिकया कुत्र गन्तव्यम् ? क्व च सा राजकुमारी शिरोवेदनाक्रान्ता सती शेते ? 'सरोगावस्थायां विशेषतस्तु शिरोवेदनायां शयनमेव शरणीकृतं सुखाय कल्पत' इत्यतः स्थाने खलु पद्मावतीशयनस्थानजिज्ञासेयं मधुकरिकायाः ।

वचनमेतदाकर्ण्य मधुकरिकायाः पद्मिनिका तदुचितं वचः प्रस्तुवन्त्याह—**समुद्दगिहके** इति । समुद्रगृहके, तदाख्यया विख्याते भवने, समुद्राभ्यन्तरे स्थले कृत्रिमसमुद्रसमीपवर्तिनि स्थाने वा । किलेत्यस्य श्रूयत इत्यर्थः । 'सखि ! शयनं

पद्मि०—इस समय वे मधुर कथाओं से राजकुमारी के सिर की पीडा हलकी करेंगी।

मधु०—ठीक है, राजकुमारी की सेज कहाँ रची है ?

पद्मि०—समुद्र-गृह नामक कमरे में सेज बिछाई गई है। अब तू जा। मैं भी मालिक

दाणिं तुवं। अहं वि भट्टिणो णिवेदणत्थं अय्यवसन्तअं अण्णेसामि।

मधुकरिका—(क) एव्वं होदु। [निष्क्रान्ता।]

पद्मिनिका—(ख) कहिं दाणिं अय्यवसन्तअं पेक्खामि ?

[ततः प्रविशति विदूषकः।]

भर्तुर्निवेदनार्थमार्यवसन्तकमन्विष्यामि।

(क) एवं भवतु।

(ख) कुत्रेदानीमार्यवसन्तकं पश्यामि ?

कल्पितं समुद्रगृहे तत्रभवत्याः पद्मावत्या इत्येवं श्रूयते। तत्रोपस्थापयितुमावन्तिकां सम्प्रति गन्तव्यं त्वया तत्समीपम्' इत्येवं पद्मावत्याः समीपे वासवदत्तामुपस्थापयितुं नियुज्य मधुकरिकाम्, आत्मनोऽपि दर्शयति करणीयं पद्मिनिका—**अहं वीति।** भर्तुर्निवेदनार्थं स्वामिनं वत्सराजं निवेदयितुम्। तत्रभवान् भर्तापि वृत्तमिदं निवेदनीयः, तच्च कार्यं वसन्तकेनैव सुहृदा करणीयमित्यतो वसन्तकमुखेन श्रीमन्तं स्वामिनमिदं वृत्तं सूचयितुं पूज्यं वसन्तकमन्वेष्टुं मयापि गम्यत इति भावः।

सख्या वचनमनुमोदमाना मधुकरिका ततः प्रस्थातुमिच्छन्ती ब्रूते—**एव्व-मिति।** आर्यामावन्तिकामुद्दिश्य गच्छाम्यहम्, प्रयाहि तावत्त्वमपि पूज्यं वसन्तक-मन्वेष्टुमित्यर्थः।

ततस्तस्याः प्रस्थानं दर्शयति—**निष्क्रान्तेति।**

विदूषकदर्शनविषयिणीं चिन्तां नाटयति पद्मिनिका-**कहिम्** इति। समयेऽस्मिन् श्रीमान्विदूषकः क्वोपलप्स्यते मया, कुत्र वा स्थितं स्यात्तेन, क्व किलाहं तद्दर्शनं प्राप्नुयाम् ?

पद्मिनिकाचिन्तासमकालमेव तत्र स्थाने विदूषकं प्रवेशयति कविः—**ततः प्रविशतीति।**

मदनसन्तापवशादस्वस्थस्य सुहृदो राज्ञश्चिन्तयेतस्ततः सञ्चरतस्तत्र प्रविष्टस्य

को खबर देने के लिये आर्य वसन्तक की खोज करती हूँ।

मधु०—ठीक है। (चली गई।)

पद्मि०—अब आर्य वसन्तक को कहाँ ढूँढूँ ?

(तब विदूषक प्रवेश करता है।)

विदूषकः—(क) अज्ज खु देवीविओअविहुरहिअअस्स तत्तहोदो वच्छराअस्स पदुमावदीपाणिग्गहणसमीरिअस्स अच्चन्तसुहावहे मङ्गलोसवे मदणग्गिदाहो अहिअदरं वड्ढइ । [पद्मिनिकां विलोक्य] अयि! पदुमिणिआ? पदुमिणिए! किं इह वत्तदि?

(क) अद्य खलु देवीवियोगविधुरहृदयस्य तत्रभवतो वत्सराजस्य पद्मावतीपाणिग्रहणसमीरितस्यात्यन्तसुखावहे मङ्गलोत्सवे मदनाग्निदाहोऽधिकतरं वर्धते । अयि! पद्मिनिका? पद्मिनिके! किमिह वर्तते?

विदूषकस्य चिन्तनीयमाह—अज्ज खु इति । खलु इति वाक्यसौन्दर्ये । देवीवियोगविधुरहृदयस्य देव्या वासवदत्ताया वियोगेन विरहेण हेतुना विधुरहृदयस्य व्याकुलचेतसः, विषयनिरपेक्षस्येति यावत्, पद्मावतीपाणिग्रहणसमीरितस्य, पद्मावत्यास्तन्नामिकाया राजकुमार्याः पाणिग्रहणेन विवाहेन हेतुना समीरितस्य विषयाभिमुखं प्रवर्तितस्य, मङ्गलोत्सवे मङ्गलमये समये । 'प्रियतमाया वासवदत्तायाश्चिरविरहेण विमनायमानो विषयनैरपेक्ष्यं प्राप्तोऽपि गुणवतीं पद्मावतीं परिणीय ततोभवानुदयनो महीपतिर्विषयेषु प्रवृत्तिमाधत्तेऽधुना । स चायं नूतनविवाहव्यतिकरमये सर्वतः शुभे समये मदनानलज्वालाभिरतितरां पर्याकुलत्वमधिगच्छति । तमेनमतिविषमां दशामानीतवानयाहो ! निर्दयो मनसिजः' । इत्येवं प्रियसुहृदो राज्ञः स्थितिं चिन्तयन्विदूषकस्तत्र पद्मिनिकां नयनयोर्गोचरीकृत्य तस्या अतर्कितागमनेन विस्मयं प्रकटयति—**अयीति** । आश्चर्यसूचकम् 'अयी'त्यव्ययम् । अहो ! पद्मिनिकेयं समुपस्थिता ! इत्थं चित्रीयमाणस्तदागमनकारणं जिज्ञासते—**पदुमिणिए** इति । किम्, कार्यमिति शेषः । अयि ! पद्मिनिके ! किमत्र कार्यं ते, किमर्थमिह त्वमायातवत्यसि ? केन वा कारणेनात्र भ्रम्यते सम्प्रति त्वया ?

श्रीमन्तं विदूषकं तत्रोपनतमुद्वीक्ष्य तस्यैव मार्गणे परायणा पद्मिनिका तद्-

---

विदू०—वासवदत्ता के विरह से विकल-हृदय तथा पद्मावती के साथ विवाह करने से उत्सुक श्रीमान् वत्सराज के मदनानल का ताप आज सुखदायक इस उत्सव में बहुत ही अधिक बढ़ रहा है। (पद्मिनिका को देखकर) अरे! यह पद्मिनिका आई? पद्मिनिका! यहाँ क्या है?

पद्मिनिका—(क) अय्य ! वसन्तअ ! किं ण जाणासि तुवं—भट्टिदारिआ पदुमावदी सीसवेदणाए दुःखाविदेत्ति ।

विदूषकः—(ख) भोदि ! सच्चं ? ण जाणामि ।

पद्मिनिका—(ग) तेण हि भट्टिणो णिवेदेहि णं । जाव अहं वि सीसाणुलवणं तुवारेमि ।

(क) आर्य ! वसन्तक ! किं न जानासि त्वं–भर्तृदारिका पद्मावती शीर्षवेदनया दुःखितेति ।

(ख) भवति ! सत्यं ? न जानामि ।

(ग) तेन हि भर्त्रे निवेदयैनाम् । यावदहमपि शीर्षानुलेपनं त्वरयामि ।

द्वारेण राज्ञो निवेदनीयं पद्मावतीवृत्तं निवेदयति—**अय्येति** । अयि ! मान्य ! विदूषक ! तत्रभवती पद्मावतीदानीं शिरोवेदनामनुभवतीति वार्ता नोपलब्धा किं भवता ?

तद्विषयकमज्ञानं दर्शयत्यात्मनो विदूषकः—**भोदि** इति । सत्यमिति काकुः । अयि ! सत्यं ते कथितमिदम् ? अथवा-सत्यम्, वदामीति शेषः । सत्यमेतदुच्यते मयेत्यर्थः । पद्मावत्या अस्वस्थतेयं त्वया सूच्यमाना न ज्ञायते नूनं मयेति ।

तेण हीति । तत्रभवत्याः पद्मावत्या अस्वस्थतायां विदूषकोचितं कर्तव्यं निर्दिशन्त्याः पद्मिनिकाया वचनमिदम् । हीति वाक्यालङ्कारः । तेन पूर्वोक्तेन हेतुना, एनां शिरोवेदनाम् । यावत् अधुना, शीर्षानुलेपनं शिरस्यनुलेपनीयं पीडापनोदनमौषधम्, सम्पादयितुमिति शेषः, त्वरयामि त्वरां शीघ्रतां करोमि । पद्मावत्याः शिरसि काचित्पीडा समुत्पन्नेति वृत्तमिदं तत्रभवतः स्वामिनो निवेदनीयं भवता । मयापि साम्प्रतं तदीयशिरोवेदनाऽपनोदकं किञ्चिदौषधं त्वरया सम्पादनीयमिति भावः ।

पद्मि०—आर्य वसन्तक ! राजकुमारी पद्मावती सिर की पीडा से दुःखी हो रही है-यह क्या तुम नहीं जानते ?

विदू०—अजी ! सच ? मैं नहीं जानता ।

पद्मि०—तब तो तुम अपने मालिक से यह बात कह देना । मैं भी तब तक सिर की पीडा को दूर करनेवाले लेप की जल्दी करती हूँ ।

विदूषकः—(क) कहिं सअणीअं रइदं पदुमावदीए ?

पद्मिनिका—(ख) समुद्दगिहके किल सेज्आ त्थिण्णा ।

विदूषकः—(ग) गच्छदु भोदी । जाव अहं वि तत्तहोदो णिवेदइस्सं ।

[निष्क्रान्तौ ।]

[प्रवेशकः ।]

(क) कुत्र शयनीयं रचितं पद्मावत्याः ?

(ख) समुद्रगृहके किल शय्या स्तीर्णा ।

(ग) गच्छतु भवती । यावदहमपि तत्रभवते निवेदयिष्यामि ।

'शिरोवेदनावशादस्वस्थतां वहन्ती पद्मावती क्वापि शयानैवाऽवश्यं वर्तेत' इत्यभिप्रायेण विदूषकस्तां पृच्छति—**कहिमिति** । प्रागुक्तोऽर्थः ।

समुद्दगिहके इति । 'समुद्रगृहे तस्याः शयनं कल्पितमित्यतस्तत्रैव तत्रभवान् भर्ता भवतोपस्थापयितव्य' इत्येष पद्मिनिकावचसोऽर्थः ।

उक्तचरं पद्मिनिकावचनमनुमोदमानो विदूषक आह—**गच्छदु** इति । यावद्वाक्यालङ्कारे । गम्यतां पद्मिनिके ! भवत्या, तत्रभवत्याः पद्मावत्याः शिरोवेदनोपनोदनमौषधं त्वरया सम्पाद्यताम् । मयापि तत्रभवन्तं भूपतिमेतां वार्तां निवेदयितुं तदन्तिकमेव गम्यते ।

द्वयो रङ्गमध्यान्निष्क्रमणं सूचयति—**निष्क्रान्ताविति** ।

प्रवेशक इति । लक्षणमेतस्योक्तं प्राक् । विशेषस्तु—सूच्यं वस्तु तावन्नाटके 'विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशक'नामकैः पञ्चभिरर्थोपक्षेपकैः प्रतिपाद्यते । अत्र किल प्रवेशकमुखेन भूतकालिकी पद्मावत्या अस्वस्थता भविष्यत्कालिकं राज्ञस्तदीयशयनस्थानं प्रत्युपसर्पणं चेति भूतभविष्यदर्थज्ञापनं कृतम् । प्रवेशकस्तावदप्रदर्शनीयमर्थं सूचयन्नङ्कद्वयस्याऽन्तरेव प्रयुक्तो दृश्यते । अयं च नीचेन पात्रेण, विष्कम्भकस्तु मध्यमेन मध्यमाभ्यां मध्यमाधमैर्वा पात्रैः प्रयुज्यत इत्यनयोः

विदू०—पद्मावती की सेज कहाँ रची है ?

पद्मि०—समुद्र-गृह नाम के घर में सेज बिछी है ।

विदू०—तुम जाओ । मैं भी महाराज से निवेदन कर दूँगा ।

(दोनों गये ।)

(प्रवेशक समाप्त ।)

[ततः प्रविशति राजा ।]

राजा—

श्लाघ्यामवन्तिनृपतेः सदृशीं तनूजां
कालक्रमेण पुनरागतदारभारः ।
लावाणके हुतवहेन हृताङ्गयष्टिं
तां पद्मिनीं हिमहतामिव चिन्तयामि ॥ १ ॥

परस्परं भेदः । तथा चोक्तमिदं **दशरूपके**—'अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् । विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः । तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तःशेषार्थस्योपसूचकः' । इति ।

सम्प्रति पद्मावतीप्रवृत्तिसूचनाय समयोचितं प्रवेशं राज्ञो दर्शयति कविः—**तत इत्यादिना ।**

अचिरेण पद्मावतीं परिणीतवानपि चिरविरहकातरः श्रीमानुदयनो वासवदत्तायाः प्रणयमहिमानं जानंस्तदीयस्मरणानुभावं नाटयन्ब्रूते—**श्लाघ्यामिति ।** कालक्रमेण समयमहिम्ना वासवदत्ताविनाशकालात्कतिपयकालातिक्रमानन्तरं वा, पुनरागतदारभारः, पुनर्भूय आगत उपस्थितो दारभारः पद्मावतीपरिग्रहरूपा धूर्यत्र सोऽहम् , लावाणके तन्नाम्नि ग्रामे, हुतवहेनाऽग्निना, हृताङ्गयष्टिं हृता दग्धा अङ्गयष्टिस्तनुलता यस्यास्तादृशीम् , श्लाघ्यां गुणगौरवात्प्रशंसनीयाम् , अवन्तिनृपतेः अवन्तिदेशाधीश्वरस्य प्रद्योतनाम्नो नृपतेः, सदृशीमनुरूपां, तनूजां कुमारीं, तां भूयोऽनुभूतपूर्वां वासवदत्तामिति यावत् , हिमहतां हिमेन पतितेन तुषारेण 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इत्यमरः, हतां विदलितां नाशितां, पद्मिनीं कमलिनीमिव, चिन्तयामि ध्यायामि स्मरामीत्यर्थः । अत्र 'लावाणके हुतवहेन हृताङ्गयष्टि'मितीदं प्रथमाङ्कसूचितां कार्यविशेषोद्भावितां प्रसिद्धिमनुसृत्य प्रोक्तम् । 'प्रियतमाया वासवदत्ताया

(तब राजा का प्रवेश ।)

राजा—समयमाहात्म्य से फिर भी जिसपर स्त्री-परिग्रह रूपी भार आ पड़ा ऐसा मैं सर्वथा प्रशंसायोग्य, अपने अनुकूल, लावाणक नामक गाँव में जो आग से जली अत एव ओस से मारी हुई कमलिनी की भाँति अवन्तिराज महासेन की कन्या वासवदत्ता की याद करता हूँ ।

[प्रविश्य ।]

विदूषकः—(क) तुवरदु तुवरदु दाव भवं ।

राजा—किमर्थम् ?

विदूषकः—(ख) तत्तहोदी पदुमावदी सीसवेदणाए दुक्खाविदा ।

(क) त्वरतां त्वरतां तावद् भवान् ।

(ख) तत्रभवती पद्मावती शीर्षवेदनया दुःखिता ।

विनाशमाकलयन्नशक्यनिवेदनां तद्वियोगवेदनां सोढुमपारयन्पुनः परिग्रहान्तरं कर्तुमनिच्छन्नपि कार्यगौरवमाकलय्य बलात्पद्मावतीमहं परिणीतवान् । स चायं विवाहस्तद्वियोगव्याकुलस्य नियतं भारभूत इव मे प्रतीयते । लौकिकः किलायमत्र मे प्रणयो वासवदत्ताविषयकप्रणयमहिमानं न नाम विस्मारयितुं पारयते । कथञ्चित्पद्मावतीं परिणीतवतोऽपि वह्नौ दग्धां प्रशंसनीयगुणगणामनुरूपां राजकुमारीं वासवदत्तामुद्दिश्य मे मनोमार्गमारूढः शोकभारो न तावल्लघूभवति । वारंवारं सैव मत्स्मरणपदवीं गाहते । अहो ! तुहिनपातविहता सरोजिनीव सा मन्मानसं सुतरां दुःखाकरोती'ति भावः । एतेन नूतनं परिणयनं कृतवतोऽपि भूतपूर्वप्रियाविनाशशोकाकुलस्य राज्ञो वासवदत्ताप्रणयानुवृत्तिरतिभूमिं गता ध्वन्यते । वृत्तमिदं वसन्ततिलकं नाम । लक्षणमुक्तं प्रागेतस्य ॥ १ ॥

राजानं पद्मावतीवृत्तं निवेदयिष्यतो विदूषकस्य प्रवेशमाह—**प्रविश्येति** । राज्ञः समीपं गत्वेत्यर्थः ।

त्वरयन् राजानं विदूषको ब्रूते—**तुवरदु** इति । 'त्वरतां त्वरता'मिति द्विरुक्तिस्त्वराधिक्यं सूचयति । तावद्वाक्यालङ्कारे । राजन् ! भवताऽत्यन्तं त्वरा कर्तव्या ।

ईदृश्यास्त्वरायाः किं कारणं का च वार्तेति पिपृच्छिषया राजाह-**किमर्थमिति** ।

राज्ञः प्रश्नस्योत्तरं दित्सुर्विदूषकः 'पद्मावतीं तत्रभवतीं बाधते शिरोवेदने'त्येवं प्रकृतार्थं निवेदयति—**तत्तहोदी** इति । पद्मावत्या अस्वस्थतां श्रुत्वा सत्वरं तत्र भवतोपस्थातव्यमित्येष विदूषकोक्तेर्गूढोऽभिप्रायः ।

(प्रवेश कर)

विदू०—आप बहुत शीघ्रता करें ।

राजा—किस लिये ?

विदू०—माननीय पद्मावती शिरोवेदना से दुःखी हुई हैं ।

राजा—कैवमाह ?

विदूषकः—(क) पदुमिणिआए कहिदं।

राजा—भोः ! कष्टम्,

रूपश्रिया समुदितां गुणतश्च युक्तां
लब्ध्वा प्रियां मम तु मन्द इवाद्य शोकः।

(क) पद्मिनिकया कथितम्।

'पद्मावती शिरोवेदनामनुभवतीत्येतत्केन पुनः कथित'मित्येवं पृच्छति विदूषकं राजा—**कैवमिति**।

पदुमिणिआए इति। 'वृत्तमिदं पद्मिनिका कथितवती'त्युत्तरं विदूषकस्य पूर्वप्रदर्शिते राज्ञः प्रश्ने।

प्रेयस्याः पद्मावत्या अस्वस्थतायाः श्रवणात्कष्टमनुभवन्नाह राजा—**भोः ! कष्टमिति**। अहो ! कष्टकरीयं वार्ता।

किं तत्कष्टमित्याह—**रूपश्रियेति**। अद्य वर्तमाने समये, रूपश्रिया स्वरूपशोभया, समुदितां समेतां, च पुनः, गुणतो गुणैः, सार्वविभक्तिकस्तसिः, युक्तां सहिताम्, अतएव प्रियां प्रीतिपात्रं पद्मावतीमिति यावत्, लब्ध्वा प्राप्य, समाश्वस्तस्येति शेषः, मम वासवदत्तावियुक्तस्य मे, शोकस्तद्विनाशजन्मा विषादस्तु, मन्द इव किञ्चिन्न्यून इव, सञ्जात इति सामान्यक्रियाक्षेपः। पूर्वाभिघातसरुजः, पूर्वः प्राथमिकश्चासावभिघातो वासवदत्ताविनाशरूपवज्रपातः तेन कारणेन सरुजो रुजया पीडया सह वर्तमानो दुःखीति यावत्। 'आपं चैव हलन्ताना'मिति भागुरिमतेनाऽऽबन्तो रुजाशब्दः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इत्यनेन बहुव्रीहिसमासः, 'वोपसर्जनस्ये'ति सहस्य सादेशः। 'रुजा सह वर्तमानः सरुक् तस्य सरुज' इति हलन्तात्

राजा—किसने ऐसा कहा ?

विदू०—पद्मिनिका ने कहा।

राजा—हाय ! दुःख—

रूप-सम्पत्ति तथा गुणों से युक्त प्रिया को पाकर मेरा शोक आज मन्द सा हो गया था, कि प्राथमिक आघात से पीडित और दुःख का अनुभवी मैं पद्मावती को भी उसी तरह

पूर्वाभिघातसरुजोऽप्यनुभूतदुःखः
मद्मावतीमपि तथैव समर्थयामि ॥ २ ॥

अथ कस्मिन् प्रदेशे वर्तते पद्मावती ?

विदूषकः—(क) समुद्दगिहके किल सेज्जा त्थिण्णा ।

(क) समुद्रगृहके किल शय्या स्तीर्णा ।

षष्ठयन्तमिदं ममेत्यस्य विशेषणं वा । अपि पुनः, अनुभूतदुःखः, अनुभूतं भुक्तं दुःखं कष्टं येन सोऽहं, पद्मावतीं नवोढामिमामपि, तथैव मामिव दुःखानुभवकारिणीं दुःखिताम्, अथवा विनाशं गतां वासवदत्तामिव विनाशं गमिष्यन्तीं, समर्थयामि सम्भावये । 'पद्मावती तावत् सुरूपा गुणवती चेति प्रिया मे वर्तते । तत्प्राप्त्या च वासवदत्तावियोगविकलस्य मम सा तद्दर्शनाभावसम्भवस्य शोकस्य मात्रा कियतांशेन न्यूनतामासादितवती । वस्तुतो बह्वंशेन स शोकस्तदवस्थ एव, किन्तु तदन्तरे पद्मावतीलाभात्तत्र किञ्चित् समाश्वासनं जातम् । विनष्टवासवदत्तावियोगवज्रपातोऽयमिदानीं मदुपरि प्रथम एव संवृत्तः । तेन पुनर्दुःखं भूयोऽनुभूतं भवति । इतः पूर्वमहं कदापि वियोगदुःखमेवं नान्वभूवम् । विधेरनुग्रहाद्यथाहमधुना दुःखी पुनर्दुखभाग् भवामि तथा पद्मावत्यापि भूयो दुःखभाजा भाव्यम्, अथवा वासवदत्ता यथाभूद्विनष्टा तथेयं वेदनाक्रान्ता पद्मावत्यपि विनाशं गमिष्यतीति सम्भाव्यते । विपन्नो जनः सर्वतो विपत्तिमेवाभिशङ्कत' इति भावः । अत्र किल वासवदत्ताया विनाशमाकलय्य नवां प्रेयसीमुद्वहतोऽपि वत्सराजस्य भूतपूर्वप्रियाविषयकप्रणयविशेषस्याऽनुस्यूततया वासवदत्ताविषयको रतिभावः परमां पुष्टिमानीतः कविना । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २ ॥

इममीदृशमात्मनो दुःखोद्गारं प्रकटयन् पद्मावतीसमीपं जिगमिषू राजा विदूषकं प्रत्यनुयुङ्क्ते—**अथेति** । अथेत्यव्ययं प्रश्नवाचि, 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । कुत्र खलु स्थीयते साम्प्रतं पद्मावत्या ? कस्तावदलङ्क्रियते स्थानविशेषस्तया ? कुत्र वा मया प्रयातव्यम् ?

समुद्दगिहके इति । 'समुद्रगृहके तस्याः शयनं कल्पित'मित्येवमुत्तरितवान्

अर्थात् पीडित समझता हूँ ॥ २ ॥

अच्छा, पद्मावती किस स्थान पर है ?

विदू०—समुद्र-गृह में सेज बिछी है ।

राजा—तेन हि तस्य मार्गमादेशय ।

विदूषकः—(क) एदु एदु भवं ।

[उभौ परिक्रामतः ।]

विदूषकः—(ख) इदं समुद्दगिहकं । पविसदु भवं ।

राजा—पूर्वं प्रविश ।

(क) एत्वेतु भवान् ।

(ख) इदं समुद्रगृहकम् । प्रविशतु भवान् ।

राज्ञः प्रश्नं विदूषकः ।

तेन हीति । हिशब्दोऽत्र वाक्यालङ्कारे । तेन हेतुना, तस्य समुद्रगृहस्य । आदेशय सूचय, आङ्पूर्वाद्दिशतेर्निवृत्तप्रेषणव्यापारात्स्वार्थिकोऽयं णिच् । 'समुद्रगृहे तदीयं शयनीयं कल्पितमस्ती'त्यतस्तत्प्रदेशं गच्छन् मार्गस्त्वया सखे ! दर्शनीयो मे' ।

मार्गं प्रदर्शयन्नाह विदूषकः—**एदु एदु**—इति । 'एत्वेतु' इति वीप्सा त्वराभिप्रायिका । सा च त्वरा 'गन्तव्यस्थाने त्वरयोपस्थातुमिदानीं स्थान' इति तात्पर्यं वोधयति ।

'उभौ परिक्रामतः' इत्यनेन तन्मार्गानुसरणं कुर्वतो राजविदूषकयोस्तत्र गमनोद्यमः सूचितः ।

गन्तव्यस्थानसामीप्यं प्राप्य तद्दर्शयंस्तत्र राजानं प्रवेशयितुमिच्छन् विदूषक आह—**इदमिति ।** अस्तीति शेषः, मित्रैतद्वर्तते समुद्रगृहम् । अत्र किल साम्प्रतं प्राप्तौ स्वः । प्रविश्यतामन्तर्भवता ।

'अग्रे सेवकेन गन्तव्यं स्वामिना च पश्चा'दित्येवं लौकिकं व्यवहारमपेक्ष्य प्रथमं तत्र विदूषकप्रवेशनं चिकीर्षन् राजा ब्रूते—**पूर्वमिति ।**

राजा—तो उसका रास्ता बताओ ।

विदू०—आइये, आप आइये ।

(दोनों घूमते हैं ।)

विदू०—यह समुद्र-गृह है । आप प्रवेश करें ।

राजा—पहले तुम प्रवेश करो ।

विदूषकः—(क) भो ! तह । [प्रविश्य] अविहा ! चिट्ठदु चिट्ठदु दाव भवं ।

राजा—किमर्थम् ?

विदूषकः—(ख) एसो खु दीवप्पभावसूइदरूवो वसुधातले परि-वत्तमाणो, अअं काओअरो ।

(क) भोः ! तथा । अविहा ! तिष्ठतु तिष्ठतु तावद् भवान् ।

(ख) एष खलु दीपप्रभावसूचितरूपो वसुधातले परिवर्तमानः,

भोः इति । राजन् ! भवद्वचनानुसारं पूर्वमत्र प्रविश्यते मयेत्यर्थः । **प्रवि-श्येति** । प्रविश्य प्रवेशोपक्रमं कृत्वा, वक्ष्यमाणं वदतीति शेषः । तदेवाह—**अवि-हेति** । 'तिष्ठतु तिष्ठत्वि'ति सम्भ्रमे द्विर्भावः । सम्भ्रमश्चाऽतर्कितवस्तुदर्शनात्सुस-म्भवः । तावद्वाक्यालङ्कारे । अहह ! कष्टम , सखे ! स्थीयतामत्रैव भवता, नाग्रे समागन्तव्यम् । 'तत्र प्रवेशद्वारेऽवलम्बिनीं स्रजं सर्पबुद्ध्या पश्यन् विदूषकस्तत्र स्वयं तिष्ठन् राजानमेवमग्रे गन्तुं निरुद्धवानि'त्येतदग्रे स्फुटीभविष्यति ।

निरुद्धगतिर्भूपतिरात्मनो गतेर्निरोधस्य कारणं पृच्छति विदूषकम्—**किम-र्थमिति** ।

विदूषकस्तत्कारणं वर्णयति—**एसो** इति । एष इति जन्तुसामान्यनिर्देशः । खलुपदं वाक्यालङ्कारे । दीपप्रभावसूचितरूपः, दीपप्रभावेण प्रदीपमहिम्ना सूचितं व्यञ्जितं दीपस्य प्रभया प्रकाशेन अवसूचितं वा रूपं स्वरूपमाकारविशेषो यस्य सः, परिवर्तमानश्चेष्टमानः । मित्रात्र प्रवेशद्वारे कोऽपि जन्तुर्वर्तते । दृश्यतां तावत् , दीपोऽस्य रूपं प्रकाशयति, एष तावद् भूतले लम्बमानश्चेष्टितं करोतीत्यर्थः । इत्येवं जन्तुसामान्यं निर्दिश्य तद्विशेषरूपतां प्रतिपादयति—**अअमिति** । अयं पूर्वोक्तः, काकोदरः सर्पः, 'काकोदरः फणी' इति सर्पपर्यायेषु कोषः । 'ईषत् अकति' इत्यर्थे 'अक कुटिलायां गता'वित्यतः पचादेराकृतिगणत्वादचि 'ईषदर्थे चे'ति कोः कादेशे 'काक'मिति रूपम् , तादृशम् अर्थात्कुटिलगतिशालि उदरमस्येति व्युत्पत्तिः कर-

---

विदू०—जी, अच्छा । (प्रवेश कर) ठहरिये, जरा आप ठहरिये ।

राजा—क्यों ?

विदू०—यह दीपक के प्रकाश से स्पष्ट दिखाई पड़नेवाला जमीन पर लोट-पोट करता हुआ

राजा—[प्रविश्यावलोक्य सस्मितम्] अहो ! सर्पव्यक्तिर्वैधेयस्य ।
ऋज्वायतां हि मुखतोरणलोलमालां
भ्रष्टां क्षितौ त्वमवगच्छसि मूर्ख ! सर्पम् ।

अयं काकोदरः ।

करणीया । यः किल दीपप्रकाशितात्मरूपश्चेष्टते लम्बमानो भूतले, सोऽयं सर्पोऽस्तीत्यर्थः । अत्र दीपप्रभावसूचितरूप इत्यनेन—दीपस्य पूर्णे प्रकाशे सति रुग्णायाः पद्मावत्या दृशोरुपघातः स्यात्, स च मा भूदित्यौचित्यात्तत्र मन्द एव दीपप्रकाशः कल्प्यते । अत एव सुस्पष्टं द्रष्टुमशक्नुवतो विदूषकस्य तत्रत्यवस्तुनि सर्पभ्रान्तिर्भवति । रूपं तदीयं दीपेन किञ्चित्सूचितम्, वस्तुगत्या तु विदूषकेण तन्नैव निरूपयितुं पारितम् । अनिलान्दोलनाद्भवन्तीं चलनवलनात्मिकां तत्र सर्पसाधारणीं चेष्टां पश्यतस्तस्य सर्पभ्रमस्तत्रत्यवस्तुनि युज्यत इति ।

विदूषकोक्तमाकर्ण्य तत्र स्थले किञ्चित्प्रवेशं कृत्वा विदूषकीयसर्पप्रतिभासविषयं तद्वस्तु सम्यगुद्वीक्ष्य तन्मूर्खतायां मन्दं हसन् राजा विस्मयमाविष्करोति स्वान्ते—**अहो** इति । सर्पव्यक्तिः सर्प इति ज्ञानम्, तच्च भ्रमात्मकम् । आश्चर्यम्, मूर्खोऽयं विदूषकः, यो हि दृश्यमानममुं वस्तुविशेषं सर्परूपेण गृह्णाति ।

वस्तुस्थितिं दर्शयंस्तस्य सन्देहं दूरीकरोति—**ऋज्वायतामिति** । अत्र हीति पदं पादपूरणे । अयि ! मूर्ख ! अयथार्थज्ञानिन् ! ऋज्वायताम्, ऋजुः सरला आयता दीर्घा च तामिति विशेषणोभयपदः कर्मधारयः, क्षितौ भ्रष्टां समीचीनबन्धनसम्बन्धाभावाद् भूमावधः पतितां, मुखतोरणलोलमालाम्, मुखं प्रधानं यत्तोरणं गृहस्य वहिर्द्वारं, 'तोरणोऽस्त्री वहिर्द्वारम्' इत्यमरः, तत्र या लोला पवनकम्पनवशाच्चञ्चला माला शोभार्थमवलम्बिता पुष्पस्रक् तां, त्वं सर्पमवगच्छसि 'सर्पोऽय'मिति मन्यसे । तमेव तदीयं सर्पभ्रममुपपादयति—**मन्दानिलेनेति** । या माला, निशि रात्रौ, मन्दानिलेन मन्दं वहता समीरेण, किञ्चित्परिवर्तमाना परितः स्पन्दमाना, भुजगस्य विचेष्टितानि सर्पसदृशीश्चलनवलनादिकाः क्रियाः, करोति वितनोति ।

साँप है ।

राजा—(जाकर और देखकर मुस्कुराते हुए) अहो ! क्या ही मूर्खका सर्प-विषयक ज्ञान है ।

मूर्ख ! तुम सीधी, लंबी, पृथ्वी पर गिरी और सदर फाटक पर लटकने वाली माला को साँप समझ रहे हो ! जो कि रात में मन्द पवन से कम्पित हो कुछ साँप की सी चेष्टाएँ करती है ॥३॥

मन्दानिलेन निशि या परिवर्तमाना
किञ्चित् करोति भुजगस्य विचेष्टितानि ॥ ३ ॥

विदूषकः—[निरूप्य] (क) सुट्ठु भवं भणादि । ण हु अअं काओअरो । [प्रविश्यावलोक्य] तत्तहोदी पदुमावती इह आअच्छिअ णिग्गदा भवे ।

राजा—वयस्य ! अनागतया भवितव्यम् ।

(क) सुष्ठु भवान् भणति । न खल्वयं काकोदरः । तत्रभवती पद्मावतीहागत्य निर्गता भवेत् ।

'अयि ! सखे ! प्रधानभूतेऽस्मिन्समुद्रगृहस्य बहिर्द्वारेऽवलम्बिनी सरला लम्बमाना च मालेयमिदानीं भूमौ पतिता मन्दगतिना पवनेन किञ्चिच्चाञ्चल्यं नीयते, तेनैव सर्पसाधारणीश्चेष्टा वितन्वाना मूर्ख ! त्वयैषा 'सर्प' इति सम्भाव्यते । पवनेन कम्पमानायां तत्र ते सर्पभ्रमो जायते, सोऽपि सम्यक्प्रकाशाऽरहिते नैशे किल समयेऽस्मिन्नापाततो युज्यते । वस्तुतो नायं सर्पः किन्तर्हि मालेयमिति वस्तुस्थितिमपर्यालोचयतस्ते मौर्ख्यं प्रशंसनीय'मिति भावः । वसन्ततिलकं नामेदं छन्दः ॥ ३ ॥

राज्ञैवं दर्शितां सर्पभ्रान्तिनिराकरणक्षमां वस्तुस्थितिमवधारयन्विदूषको ब्रूते— **सुट्ठु** इति । खलु निश्चये । राजन् सम्यगुच्यते भवता, निरूपितं मया । भवदीयं वचस्तथ्यं, मिथ्यैवासीन्मम भ्रमः । बहिर्द्वारे वर्तमानो दृश्यमानः कम्पमानो लम्बमानश्च पदार्थोऽयं सर्पो नास्तीत्यधुना निःसन्देहमवगतमित्यर्थः । इत्येवं वदंस्तद्गृहान्तः प्रवेशं कृत्वा पद्मावत्यास्तत्रानुपस्थितिं दृष्ट्वा कल्पमान आह—**तत्तहोदी** इति । स्थानेऽस्मिन्नुपस्थाय पद्मावत्या पुनरितः प्रस्थितं स्यादिति सम्भाव्यते । पद्मिनिकया हि सूचितमत्र शयनीयं पद्मावत्याः, तद्दर्शनं तु न जायत इत्यतः कल्प्यते तस्याः समागत्येतो निर्गमनम् । अन्यथा, यदि स्यादत्रोपलभ्येत सेति भावः ।

लक्षणैस्तस्या अनागमनं सम्भाव्य राजा विदूषकोक्तं निराकुरुते-**वयस्येति** ।

विदू०—(अच्छी तरह देखकर) आप ठीक कहते हैं । यह साँप नहीं है । (प्रवेश कर तथा देखकर) माननीय पद्मावती यहाँ आकर निकल गई होंगी ।
राजा—मित्र ! अभी आई न होगी ।

विदूषकः—(क) कहं भवं जाणादि ?

राजा—किमत्र ज्ञेयम् ? पश्य,

शय्या नावनता तथास्तृतसमा न व्याकुलप्रच्छदा
न क्लिष्टं हि शिरोपधानममलं शीर्षाभिघातौषधैः।

(क) कथं भवान् जानाति ?

मित्र ! मन्ये सेयमत्रानागता भवेदिति।

केन पुनर्लक्षणेन ज्ञायत इदं भवता 'यत्किलोपस्थितिस्तदीया नाभूदद्यापी'ति विदूषको राजानमनुयुङ्क्ते—कहमिति।

राजोत्तरं दत्ते—किमत्रेति। मयोच्यमानमिति शेषः। अत्र विषये किं नाम वक्तव्यं मया ? किंवा तदवगन्तव्यं त्वया ? तस्या अनागमनसाधनं किमपि कथनं नावश्यकम्। ननु प्रत्यक्षमेवैतत्, तथापि सन्तोषार्थं ते तद्विशदीकरोमि। ज्ञायतामवधार्यताञ्च।

तथाहि—शय्येति। हि यस्मात्कारणात्, शय्या शयनीयं न अवनता शरीरभारेण हेतुनाऽवनतिं न प्राप्ता, तथा एवम्, आस्तृतसमा, आस्तृता कुथाद्यास्तरणेनालङ्कृता च सा समा, पूर्ववदेवास्ति मनागपि विषमतां नाधिगतेति यावत्, अथ च व्याकुलप्रच्छदा, व्याकुलो गात्रपरिवर्तनादिना सङ्कुचितो वलीभङ्गं प्राप्तः प्रच्छदो निचोलपट उत्तरपिधानवस्त्रं यस्यां तथाभूता, न वर्तते, 'निचोलः प्रच्छदपट' इत्यमरः। अमलं शिरःसम्बन्धसुलभेन मलेन विरहितं स्वच्छं, शिर उपधीयत आरोप्यते यत्रेति शिरोपधानं शिरःस्थानीय उपबर्हः, अधिकरणे ल्युट्। अत्र 'शिरोवाची शिरोऽदन्तो रजोवाची रजस्तथा' इति कोषान्तरप्रामाण्यात् 'विचकर्त शिरान् द्रौणिः' 'पिण्डं दद्याद्गयाशिरे' इति प्रयोगदर्शनाच्च 'शिरोपधान'मिति श्रृणातेर्बलर्थे कप्रत्ययविधानेन साधितमकारान्तं शिरशब्दं स्वीकृत्य तस्योपधानशब्देन सह षष्ठीसमासः। शीर्षाभिघातौषधैः शिरोवेदनापनोदकैरनुलेपनीयैरोषधिविशेषैः, क्लिष्टं मलिनीकृतं दूषितं, न नास्ति। श्रीमत्याः पद्मावत्या अनागमन-

विदू०—यह आप कैसे जानते हैं।

राजा—इस में जानना क्या है ? देखो—

सेज (बिछौना) ज्यों की त्यों बिछी हुई है, कुछ भी दबी नहीं, न उस पर की चादर सिकुड़ी है। सिर-दर्द की दवाईयों से सिरहाने की तकिया, जो कि बिलकुल साफ़ थी, कुछ

रोगे दृष्टिविलोभनं जनयितुं शोभा न काचित् कृता
प्राणी प्राप्य रुजा पुनर्न शयनं शीघ्रं स्वयं मुञ्चति ॥४॥

साधनानि लक्षणानि शय्यागतानीत्थं प्रतिपाद्य तत्र शय्यागृहान्तर्गतं लक्षणान्तरमप्याह—**रोग** इति। रोगे आमये व्याधौ सति, दृष्टिविलोभनं दृष्टेरावर्जनं, जनयितुमाधातुं, काचिच्छोभा भित्तौ चित्रलेखनादिसम्भवा कापि सुन्दरता, न कृता नापादिता। अमीभिर्हेतुभिस्तत्र पद्मावत्या अनागमनकार्यं संसूच्य 'अत्रागत्य तया पुनरितो गतं स्या'दिति विदूषकोक्तमपि निराकुरुते—**प्राणीति**। रुजा रोगेण कारणेन तदुपलक्षितो वा, हेतावुपलक्षणे वा तृतीया, प्राणी शरीरधारी यः कोऽपि जन्तुः, शयनं प्राप्य शय्यामासाद्य, पुनः शीघ्रं भूयस्तदानीमेव, स्वयं स्वतो, न मुञ्चति तद्विहायान्यत्र गन्तुं न वाञ्छतीत्यर्थः। 'ननु मित्र! पद्मावत्या अत्रागतौ सत्यां सरोगावस्थासुलभयोः शयनोपवेशनयोश्च सञ्जातयोः शय्यायां तद्देहपातात्तत्राक्रमणजनिताऽवनतिः शरीरचलनवलनादिना तूलिकास्तरणे वैषम्यं किमपि प्रच्छदपटे वलीभङ्गश्चेति नूनं सम्भवि, किन्तु तदेतन्न दृश्यते किमपि। किञ्च शिरःस्थानीयमुपधानमपि निर्मलमेव। शिरसि वेदनापनोदनस्यौषधस्य लेपेन तत्सम्बन्धात्तत्र मालिन्यं सुलभमपि न किञ्चिल्लब्धावकाशं खलु। अन्यच्च सरोगवस्थायां दृष्टिर्व्याकुला क्वापि धत्ते न स्थिरताम्। तस्याश्चैकत्रावर्जनेन स्थैर्यं सम्पादयितुं शयनभागस्य पुरो भित्तावालेख्यरचनादिकं किमपि कामनीयकं तन्यते। किन्तु नैतदप्यत्र सम्पादितम्। कदाचिदेवं कल्प्येत—'यत्किल पद्मावतीहागत्य त्वरितमेव स्थानान्तरं प्रस्थिते'ति, तदपि नैव सम्भवति। यतः क्वापि शयनं प्राप्त आतुरो जनः पुनस्तदानीमेव शयनं तद्विहातुं न तावच्चेष्टते। अस्वस्थतावशात्तत्क्षणमेव तत्त्यागे तदीयप्रवृत्तेरदर्शनात्। अतः पूर्वोक्तैर्लिङ्गैः पद्मावत्या आगमनाभावो निःसन्देहमनुमातुं शक्य' इति भावः। अत्र शय्यावनत्यभावादिहेतुभिः पद्मावत्यागमनाभावरूपसाध्यस्य साधनादनुमानालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

अनुकूलतर्कयुक्तमिदं वचनमाकर्ण्य राज्ञः पद्मावतीप्रतीक्षायां तत्र क्षणकालिको-

भी मैली नहीं हुई है। यहाँ पर रोग की दशा में आँखों को लुभाने के लिये कोई सजावट भी नहीं बनाई गई है। और एक बात यह भी है कि आदमी रोग से बिछौने पर आकर फिर शीघ्र ही उसे स्वयं नहीं छोड़ता ॥ ४ ॥

विदूषकः—(क) तेण हि इमस्सिं सय्याए मुहुत्तअं उवविसिअ तत्तहोदिं पडिवालेदु भवं ।

राजा—बाढम् । [उपविश्य] वयस्य ! निद्रा मां बाधते । कथ्यतां काचित् कथा ।

विदूषकः—(ख) अहं कहइस्सं । हों त्ति करेदु अत्तभवं ।

राजा—बाढम् ।

(क) तेन ह्यस्यां शय्यायां मुहूर्तकमुपविश्य तत्रभवतीं प्रतिपालयतु भवान् ।
(ख) अहं कथयिष्यामि । हों इति करोत्वत्रभवान् ।

पवेशनं प्राप्तकालं सूचयन्विदूषक आह—तेण हीति । यद्येवं तर्हि नूनमत्र शयनीये क्षणकालमवस्थातव्यं भवता श्रीमत्याः पद्मावत्या आगमनं च प्रतीक्षितव्यम् । अचिरादागमिष्यति सा, ततस्तस्याः प्रवृत्तिर्लप्स्यत इत्यर्थः ।

बाढमिति । समयोचितमिदानीं सम्यक्सूचितं त्वयेत्यहमत्रोपवेष्टुमुद्यतोऽस्मीति भावः । उपविश्येति राज्ञस्तत्रोपवेशनसूचनम् । शयनीयमुपविष्टो निद्रोपगमस्य लक्षणं पश्यन् राजाह विदूषकम्—वयस्येति । ममोपरि मित्र ! निद्रादेवी कर्तुमिच्छत्याक्रमणम् , तयाऽहं पीड्येऽधुना । तन्निवारणार्थं कथय काञ्चित्कथाम् , यत्समाकर्णनवशादन्यचित्तो भवन्न तयाऽहं पीडितो भवेयमित्यर्थः । 'मनोऽनुरञ्जनसमर्थायाः सरसकथायाः श्रवणयोगान्निवारणं सुशकमायास्यन्त्या निद्रायाः' इति तात्कालिकनिद्रापनोदनौपयिके कथाकथनरूपे कर्मणि प्रेरितवान् विदूषकं राजा ।

राज्ञः कथनानुसारं कथां कथयितुं प्रतिजानानो विदूषक आह—अहमिति । 'हो'मित्यनुकरणम् । श्रवणसावधानतासूचकमिदं च लोके व्यवहृतं दृश्यते । मित्र ! भवदीयं ममो विनोदयितुं मया कथयिष्यते कथा । तत्र परं श्रीमता 'श्रूयते, सावधानोऽस्मि, कथ्यतां विषयोऽग्रिमः' इत्येतत्सूचनार्थकं 'हो'मितिशब्दोच्चारणं मध्ये मध्ये क्रियताम् , येन पुनरग्रिमविषयवर्णने ममोत्साहेन भूयतामिति भावः ।

विदूषकोक्तमङ्गीकरोति राजा—बाढमिति । स्वीकृतं ते वचः, एवं करि-

विदू०—तो इस सेज पर घड़ी भर बैठकर आप उनकी प्रतीक्षा करें ।
राजा—ठीक ! (बैठकर) मित्र ! नींद मुझे सताती है । कोई कथा कहो ।
विदू०—मैं कहूँगा । आप हुँकारी भरते जाइये ।
राजा—अच्छा ।

विदूषकः—(क) अत्थि णअरी उज्जइणी णाम । तहिं अहिअ-रमणीआणि उदअह्लाणाणि वत्तन्ति किल ।

राजा—कथमुज्जयिनी नाम ?

विदूषकः—(ख) जइ अणभिप्पेदा एसा कहा, अण्णं कहइस्सं।

राजा—वयस्य ! न खलु नाभिप्रेतैषा कथा । किन्तु,

(क) अस्ति नगर्युज्जयिनी नाम । तत्राधिकरमणीयान्युदकस्नानानि वर्तन्ते किल ।

(ख) यद्यनभिप्रेतैषा कथा, अन्यां कथयिष्यामि ।

ष्यामि । त्वं पुनः स्वेच्छया कथां प्रस्तुहीत्यर्थः ।

ततः काञ्चित्कथां प्रस्तौति विदूषकः—अत्थीति । उदकस्नानानि जलावगाहन-स्थानानि, स्नातेरधिकरणे ल्युट्, किल श्रूयते । वर्तते काचिदुज्जयिनीत्याख्यया विख्याता नगरी, तस्यां च जलाशया अत्यन्तसुन्दराः सन्तीति श्रूयते । अत्र किलोज्जयिनीनामधेयं प्रस्तुत्य तद्विषयकं किमपि कमनीयं वर्णनमकृत्वा तत्र सुन्दर-जलाशयाधारताप्रदर्शनमिदं विदूषकस्य प्राज्ञतातिशयं दर्शयति ।

विदूषकेण प्रस्तुतमुज्जयिनीनामधेयं श्रुत्वा तत्सम्बन्धेन प्रियाविषयकं किमप्य-तीतं वृत्तं मनसिकृत्य 'किमुज्जयिनी ? तत्सम्बद्धा कथेयं प्रस्तुता त्वये'त्येवमाशयं सूचयदस्फुटार्थं वचनमाह राजा—कथमिति । नामेति वाक्यालङ्कारे ।

'उज्जयिनीविषयिणी कथा नास्मै रोचत' इत्याशयमवबुध्य विदूषकः प्राह राजानम्—जइ इति । अनभिप्रेता अप्रिया । मदुक्तेयमुज्जयिनीविषयिणी कथा न चेद्रोचते भवते, तर्हि तदन्या काचित् प्रस्तोष्यते मया । कथ्यतां राजन् ! किं तावद्भवतोऽभीष्टम् ?

तत्कथाया अप्रियात्वं निषेधन् राजा तन्नामश्रवणादुद्गतमात्मनो मानसं भावं विशदयिष्यन्ब्रूते—वयस्येति । न खलु, नाभिप्रेता, नूनं प्रियैवेति यावत्, निषे-धद्वयं विधिमेव गमयति । मित्र ! प्रस्तुता त्वयेयं कथा मम तावदप्रियेति न मन्त-व्यम् । नूनं प्रियैव सेत्यर्थः । किन्त्विति । 'अप्रिया न चेत्तन्नामश्रवणात्किमिति

विदू०—एक उज्जैन नामक नगरी है । वहाँ बहुत सुहावनी स्नान करने की जगहें हैं ।

राजा—क्या उज्जयिनी ? (उज्जयिनी की कथा तुमने छेड़ी ?)

विदू०—यदि यह कथा अच्छी न लगती हो तो मैं दूसरी कहूँगा ।

राजा—मित्र ! मुझे यह कथा अच्छी नहीं लगती सो नहीं । किन्तु—

स्मराम्यवन्त्याधिपतेः सुतायाः प्रस्थानकाले स्वजनं स्मरन्त्याः।

भावान्तरमिव व्यक्तीकृत'मित्याशङ्कायां तत्कारणमाह—

स्मरामीति। प्रस्थानकाले गमनकाले, यौगन्धरायणनीतिमहिम्ना स्वीयजनानुमतिमन्तरेणैव स्नेहान्मदीयमार्गानुसरणं कुर्वाणया वासवदत्तया समं यदाहमुज्जयिन्याः कौशाम्बीं गतवांस्तदेत्यर्थः, स्वजनं परित्यज्यमानमात्मीयवर्गं, स्मरन्त्याः सोत्कण्ठं चिन्तयन्त्यास्तत्परित्यागदुःखानुभवं कुर्वत्याः, प्रवृत्तं स्वत उद्गतं, नयनान्तलग्नम् अपाङ्गयोः सङ्गतं तत्रावरुद्धमिति यावत्, वाष्पमश्रु जातावेकवचनम्, ममैवोरसि मदीय एव वक्षःस्थले, पातयन्त्या मुञ्चन्त्याः, अवन्त्याधिपतेः अवन्तिदेशाधीश्वरस्य प्रद्योतस्य सुताया वासवदत्तायाः, कर्मणः शेषत्वविवक्षायाम् 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इत्यनेन षष्ठी, स्मरामि, तत्स्मरणं करोमीत्यर्थः। स्वजनं विहाय मया सह स्नेहादुज्जयिनीतः कौशाम्बीं प्रति प्रयाणसमये यया स्वजनस्मरणं मुहुः कृतमासीत्, स्वजनस्नेहान्मत्प्रेम्णो वा तदानीमुद्गतान्यश्रूणि च यस्या मद्भुजाश्लेषेण मदीयोरःस्थले भृशं निपतितानि, सैवाद्य प्रद्योतनृपतेः सुता वासवदत्ता मित्रवर! त्वया क्रियमाणमुज्जयिनीवर्णनमाकर्णयतो मम स्मरणसरणिं गाहमाना सती पूर्वानुभूतानि स्मारयतीत्येष एव भावोदयः समयेऽस्मिन्मनसि मामके सञ्जात इति भावः। अत्र 'अवन्त्याधिपते'रिति पदप्रयोगश्चिन्त्यः। समासे 'अवन्त्यधिपते'रिति, व्यासे च 'अवन्त्या अधिपते'रिति स्यात्। वृत्तमुखप्रेक्षितया च तदिदं द्वयमपि तत्रानुसर्तुमपारयन् 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं कदापि ने'ति कविना तथा प्रतिकूलं चेष्टितं स्यात्। केचित्तु—'गवा स्वामी'तिवत् स्वामित्वहेतुताविवक्षया तृतीयान्ते 'अवन्त्ये'ति पदे कल्पिते ततो दीर्घसन्धौ, अधिपतिपद आङः प्रश्लेषात् षष्ठीसमासे वा 'अवन्त्याधिपते'रित्युपपादयन्ति। वयन्तु—'अवन्तीषु साधु'रित्यर्थे 'तत्र साधु'रित्यनेन यत्प्रत्यये 'अवन्त्य' इति रूपे संसाधिते 'अवन्त्यश्चासावधिपतिश्चे'ति कर्मधारयसमासाश्रयणात्तत्प्रयोगोपपत्तिं कथमपि कल्पयामः। अस्य श्लोकस्य प्रथमे चरणे उपेन्द्रवज्रा द्वितीयादिचरणत्रय इन्द्रवज्रा चेत्यनयोर्योगादुपजातिनामकं वृत्तम्।

उज्जैनसे मेरे साथ चलते समय आत्मीय लोगों अर्थात् पिता-माता आदियोंकी याद करने वाली, निकल कर भी आँखों के कोने में रुके हुए आँसुओं को प्रेम से मेरी ही छाती पर

बाष्पं प्रवृत्तं नयनान्तलग्नं स्नेहान्ममैवोरसि पातयन्त्याः ॥ ५ ॥

अपि च,

बहुशोऽप्युपदेशेषु यया मामीक्षमाणया ।
हस्तेन स्रस्तकोणेन कृतमाकाशवादितम् ॥ ६ ॥

तथा च तल्लक्षणम्—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततौ गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥' इति । चतुर्दशभेदासूपजातिषु च प्रथमोऽयं कीर्तिनामको भेदो वृत्तरत्नाकरटीकायां नारायणभट्टेनोक्तः ॥ ५ ॥

अन्यदपि वासवदत्तागतमतीतं वक्तुं प्रतिजानीते—अपि चेति ।

तथाहि—बहुशोऽपीति । बहुशोऽपि अनेकविधेष्वपि, 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्या'मित्यनेन सप्तम्यर्थे शस्प्रत्ययः, उपदेशेषु मत्कर्तृकवीणावादनशिक्षणावसरे दीयमानासु तदुचितासु शिक्षासु, माम् ईक्षमाणया आत्मनो मुखं मदभिमुखं कुर्वत्या । एतेन विशेषणेनात्र 'यथावदुपदेशश्रवणपरायणा वासवदत्ता तत्र प्रसक्ते विषये दत्तावधाने'ति सूचितम् । 'किं किमुच्यत' इति श्रोतुरुत्कण्ठितानां शिक्षकवदनप्रेक्षिता प्राकृतिकी प्रसिद्धैव शिष्याणाम् । यया वासवदत्तया, स्रस्तकोणेन स्रस्त उपदेशश्रवणमुग्धचित्ततयाऽविदितं पतितः कोणो, वीणावादनसाधनीभूतोऽङ्गुलीगतो वस्तुविशेषो यस्मात्तादृशेन, 'कोणो वीणादिवादनम्' इति कोषः, हस्तेन करेण, आकाशवादितं लयतालादिशून्यं वादनं, कृतं विहितम् । यदा किल वासवदत्ता मत्तो वीणावादनकलां शिक्षते स्म, तदा तदुचितास्तस्यै बहव उपदेशा मया दीयन्ते स्म । सा तु तान् बहूनप्युपदेशान् साकल्येन सावधानमव्याकुलं शृण्वती स्नेहान्मन्मुखार्पितदृष्टिरासीत्तत्र क्षणे । तेन च तदानीं स्वीयहस्ताच्च्युतः कोणो न विदितस्तया । कोणाभावेऽपि प्रेममुग्धतया वीणां रागस्वरव्यक्तिविरहितं सा कथञ्चिद् वादितवती । इदमेव सर्वमुज्जयिनीनाम-

---

गिरानेवाली उज्जैन के राजा की कन्या वासवदत्ता का स्मरण (इस नाम के सुनने से) मुझे हो रहा है ॥ ५ ॥

और भी—

अभ्यास के समय बहुत सी (दी हुई) शिक्षाओं में भी (सावधानी से) मेरी ओर देखते हुए जिसने हाथ से कोण (मेजराब) के छूट जाने पर बिना ताल-लय के वीणा बजाई, (उसीकी याद आ रही है) ॥ ६ ॥

विदूषकः—(क) भोदु, अण्णं कहइस्सं । अत्थि णअरं ब्रह्मदत्तं णाम । तहिं किल राआ कंपिल्लो णाम ।

राजा—किमिति किमिति ?

विदूषकः—[पुनस्तदेव पठति ।]

(क) भवतु, अन्यां कथयिष्यामि । अस्ति नगरं ब्रह्मदत्तं नाम । तत्र किल राजा काम्पिल्यो नाम ।

धेयश्रवणाद् 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवती'ति मन्मनोरङ्गमध्येऽधुना मुहुर्नृत्यतीति तेन किञ्चिच्चित्तमन्यदिव मे संवृत्तम् । न तावदुज्जयिनीविषयकं वर्णनं ममाऽप्रियमित्याशयः । राजमुखदर्शनस्पृहयालुता करात् कोणस्रंसनं च वासवदत्ताया राजविषयकं प्रेमभावमतिभूमिं गतं गूढं द्योतयतः । अनुष्टुव् वृत्तम् ॥ ६ ॥

वर्णनीयोज्जयिनीविषयस्याऽप्रियाभावतां श्रुत्वापि राज्ञस्तेन विमनायमानमानसत्वमाकलयन् विदूषको विषयान्तरवर्णनप्रस्तावमुपक्षिपति—**भोदु** इति । इयं कथेत्यार्थम् । राजन्नास्तां तावदुज्जयिनीविषयिणी कथा । सा च भवन्तमनुभूतमतीतं स्मारयन्ती नूनं विमनीकरोति । अधुना च तदन्या कथा वर्णयिष्यते मया । इत्येवमुक्त्वा तत्स्वरूपमवतारयति—**अत्थीति** । किलेति प्रसिद्धिः । ब्रह्मदत्तनामके नगरे काम्पिल्यनामको राजा प्रसिद्धोऽस्तीत्यर्थः । अत्र 'नगरं काम्पिल्यं, राजा ब्रह्मदत्त' इति वक्तव्ये तद्विपरीतं वचनं मूर्खतानिदानं हास्यरसव्यञ्जकं विदूषकस्य हास्यरतित्वमाविष्करोति ।

नामधेयव्यत्यासास्पदं वचनमिदमाकर्ण्य विदूषकमुखादनवधानवशादेतदित्थं निर्गतं भ्रमाद्वेति वस्तुतत्त्वपरीक्षाचिकीर्षया 'किमुक्तं त्वये'त्येवं पृच्छति तं राजा—**किमितीति** । उक्तमित्यर्थादायातम् । किमितीत्येषा द्विरुक्ती राज्ञो विदूषकमुखात्तदर्थश्रवण औत्सुक्यं दर्शयति ।

विदूषकेण पुनर्मौर्ख्येण हास्यं जनयितुं विपरीतरूपं तत्तथैव पूर्वोक्तं पठ्यते—**पुनरित्यादि** ।

विदू०—अच्छा दूसरी कहता हूँ । ब्रह्मदत्त नामक नगर है । वहाँ का राजा काम्पिल्य है ।
राजा—क्या ? क्या (कहा) ?
विदू०—(फिर वही कहता है ।)

राजा—मूर्ख ! राजा ब्रह्मदत्तः, नगरं काम्पिल्यमित्यभिधीयताम् ।

विदूषकः—(क) किं राआ ब्रह्मदत्तो, णअरं कंपिल्लं ?

राजा—एवमेतत् ।

विदूषकः—(ख) तेण हि मुहुत्तअं पडिवालेदु भवं, जाव ओट्ठगअं करिस्सं । राजा ब्रह्मदत्तो, णअरं कंपिल्लं । [इति बहुशस्तदेव पठित्वा] इदाणिं सुणादु भवं । अयि ! सुत्तो अत्तभवं ? अदिसीदला

(क) किं राजा ब्रह्मदत्तः, नगरं काम्पिल्यम् ?

(ख) तेन हि मुहूर्तकं प्रतिपालयतु भवान्, यावदोष्ठगतं करिष्यामि । राजा ब्रह्मदत्तः, नगरं काम्पिल्यम् । इदानीं शृणोतु भवान् ।

विदूषकभ्रान्तिमपाकुर्वन् 'अयि ! वैधेय ! काम्पिल्ये नगरे राजासीद् ब्रह्मदत्त इत्येवं वदे'ति वस्तुतत्वं दर्शयन्नाह—मूर्खेति ।

अज्ञेन विदूषकेण राज्ञो वचनं निशम्य तदीयं याथार्थ्यमवगन्तुम् 'अपि सत्यमिदं भवदुक्त'मित्येवं पुनस्तदनूद्य पृच्छ्यते—किमिति ।

'इत्थमेवैतद्वर्तते, त्वया त्वेतद्विपरीतमुक्त'मित्येवं प्राह राजा विदूषकम्—एवमेतदिति ।

राज्ञो वचनं निशम्य विदूषक आह—तेण हीति । तेन हि तेन कारणेन । ओष्ठगतं मुखगतम्, अभ्यस्तमिति यावत् । यद्येवं तर्हि क्षणकालपर्यन्तं प्रतीक्षितव्यं भवता, यावन्मया भवदुक्तं कण्ठस्थं विधास्यते । तदेव पठ्यमानमाह—राजेति । 'राजा ब्रह्मदत्त' इत्यादि पुनः पुनरावृत्त्या पठन्नभ्यस्तं कृत्वा कथयति—इदाणिमिति । ननु मित्र ! कण्ठस्थं कृतमेतन्मया, न कदापीतः परं विस्मरिष्यते । सम्प्रति श्रूयतां भवता । इत्थं निगद्य विदूषको राजानं निद्राणमालोक्य स्वयमपि किञ्चिच्चिकीर्षुरभिधत्ते—अयीति । अयीत्यव्ययं प्रश्नार्थकम्, माननीयः श्रीमान् राजा सुप्तः किम् ? एवं चेन्मयापि जागरित्वैकाकिना

राजा—मूर्ख ! राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य—ऐसा कहो ।

विदू०—क्या, राजा ब्रह्मदत्त और नगर काम्पिल्य ?

राजा—हाँ ऐसा ही है ।

विदू०—तो आप क्षण भर ठहरें, जब तक मैं यह याद कर लूँ । राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य । (इसीको कई बार कहकर) अब आप सुनिये । अरे ! आप सोगए । यह बहुत ठंडा

इअं वेला। अत्तणो पावारअं गह्णिअ आअमिस्सं। [निष्क्रान्तः।]

[ततः प्रविशति वासवदत्ता आवन्तिकावेषेण, चेटी च।]

चेटी—(क) एदु एदु अय्या। दिढं खु भट्टिदारिआ सीसवेदणाए दुक्खाविदा।

वासवदत्ता—(ख) हद्धि, कहिं सअणीअं रइदं पदुमावदीए ?

अयि ! सुप्तोऽत्रभवान् ? अतिशीतलेयं वेला। आत्मनः प्रावारकं गृहीत्वागमिष्यामि।

(क) एत्वेत्वार्या। दृढं खलु भर्तृदारिका शीर्षवेदनया दुःखिता।

(ख) हा ! धिक्, कुत्र शयनीयं रचितं पद्मावत्याः ?

किं कार्यम् ? तात्कालिकीं तत्र पुनः शैत्यबाधामनुभवन्ब्रूते—**अदिसीदलेति**। प्रावार एव प्रावारकस्तं प्रावरणवस्त्रम्। प्रपूर्वादाच्छादनार्थाद् वृञ्धातोर्घञि 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुल'मित्यनेनोपसर्गस्य दीर्घे प्रावारशब्दो निष्पन्नः, ततः स्वार्थे कः। अस्मिन् खलु शीतकाले शीतताऽतितमां व्याकुलीकरोति माम्, अतः स्वकीयमुत्तरीयवस्त्रमादाय समागन्तव्यं मया, यदाच्छादितवपुषो मे शैत्यबाधा पुनर्न स्यात् इत्युक्तवतो विदूषकस्य प्रावरणवस्त्रानयनार्थं ततः प्रस्थानं सूचयति—**निष्क्रान्त** इति।

पूर्वं पद्मिनिका नाम चेटी पद्मावत्याः शिरोवेदनां निवेदयितुं मधुकरिकां नाम स्वीयां वयस्यां वासवदत्तायाः (आवन्तिकायाः) समीपं प्राहिणोत्। सा च मधुकरिका नाम चेटी वासवदत्तामुपगत्य तदागमनं प्रतीक्षते स्म। साम्प्रतं तदनुकूलमेव तयोर्द्वयोरेकत्र सम्मेलनं दर्शयति कविः—**ततः प्रविशतीत्यादिना**।

आवन्तिकामागच्छन्तीमवलोक्य प्रकृतमाह चेटी वचनं ताम्—**एदु एदु** इति। एतु एत्विति वीप्साऽऽगमनविषयिणीं शीघ्रतां द्योतयति। दृढम् अत्यधिकम्, खलु वाक्यालङ्कारे। श्रीमत्या सत्वरमागन्तव्यम्। राजकुमारीं पद्मावतीं भृशं शिरोव्यथा व्याकुलीकरोत्यधुना।

हद्धीति। चेट्युक्तं वृत्तमिदं श्रुतवती वासवदत्ता दुःखमभिनयन्ती पद्मावत्याः

समय है। अपना ओढ़ना लेकर आता हूं। (चला गया।)

(आवन्तिका के वेश में वासवदत्ता का आना, साथ ही दासी का भी)

दासी—आर्या ! आइये आइये, राजकुमारीजी मस्तक-पीड़ा से बहुत ही दुखी हैं।

वासव०—हाय ! कष्ट ! पद्मावती का बिस्तर कहाँ लगा है ?

चेटी—(क) समुद्दगिहके किल सेज्जा त्थिण्णा।

वासवदत्ता—(ख) तेण हिं अग्गदो याहि।

[उभे परिक्रामतः।]

चेटी—(ग) इदं समुद्दगिहकं। पविसदु अय्या। जाव अहं वि

(क) समुद्रगृहके किल शय्या स्तीर्णा।

(ख) तेन ह्यग्रतो याहि।

(ग) इदं समुद्रगृहकम्। प्रविशत्वार्या। यावदहमपि शीर्षानुलेपनं त्वरयामि।

शयनीयस्थानमित्थं पृच्छति चेटीम्। महत्कष्टमिदम्, अस्वस्थतेयं पद्मावत्याः कष्टाय मे कल्पते। इदं तु ब्रूहि—तस्याः शयनीयं कुत्र कल्पितम्?

समुद्दगिहके इति। 'समुद्रगृहे शयनं तदीयमास्तीर्ण'मित्युत्तरं दत्तं चेट्याऽऽवन्तिकायाः पूर्वोक्ते प्रश्ने।

आवन्तिका तत्राह—**तेण हीति**। अस्वस्था वर्तते पद्मावती, समुद्रगृहे तस्याः शयनीयमारचितम्। इत्थं सति साम्प्रतं तत्र मयोपस्थातव्यम् तदर्थं च समुद्रगृहस्य पन्थानं दर्शयितुं त्वया मदग्रे भूयताम्। अहं च त्वामनुयामीति भावः।

'उभे परिक्रामत' इत्यनेन द्वयोर्वासवदत्ताचेट्योः समुद्रगृहं प्रति प्रस्थानं सूचितम्।

गन्तव्यदेशान्तिकं गत्वा चेटी ब्रूते—**इदमिति**। यावत् इदानीम्। एतद्वर्तते समुद्रगृहम्, प्रवेशोऽत्र विधीयतां श्रीमत्या। मया च पद्मावत्याः शिरोवेदनापनोदनाय लेपनीयमौषधं त्वरया सम्पादयितुं गम्यत इत्यर्थः। अत्रेदमवधेयम्—शीर्षानुलेपनमिदमात्मना सम्पादयितुं पद्मिनिकया पूर्वं सूचितमासीत्। तस्यैव कार्यस्य सत्वरं पूर्तये पद्मिनिकां सखीं त्वरयितुं, कार्ये च तदौपयिकेऽवशिष्टे स्वयं साहाय्यं कलयितुमिच्छन्ती तदनुकूलमिदं गमनमात्मनः प्रास्तावीन्मधुकरिकाख्या चेटीति।

दासी—बिछौना तो समुद्रगृह में बिछाया गया है।

वासव०—तो आगे आगे चलो।

(दोनों घूमती हैं।)

दासी—यह समुद्रगृह है। आप प्रवेश करें। तब तक मैं भी मस्तकपीड़ाहारक लेप के

सीसाणुलेवणं तुवारेमि । [निष्क्रान्ता ।]

वासवदत्ता—(क) अहो ! अकरुणा खु इस्सरा मे । विरह-पय्युस्सुअस्स अय्यउत्तस्य विस्समत्थाणभूदा इअं वि णाम पदुमावदी अस्सत्था जादा । जाव पविसामि । [प्रविश्यावलोक्य] अहो ! परि-जणस्स पमादो । अस्सत्थं पदुमावदिं केवलं दीवसहाअं करिअ परि-

---

(क) अहो ! अकरुणाः खल्वीश्वरा मे । विरहपर्युत्सुकस्यार्य-पुत्रस्य विश्रमस्थानभूतेयमपि नाम पद्मावत्यस्वस्था जाता । यावत् प्रविशामि । अहो ! परिजनस्य प्रमादः । अस्वस्थां पद्मावतीं केवलं

ततस्तस्याः प्रस्थानमाह—**निष्क्रान्तेति ।**

अन्तः प्रविशन्त्यैव वासवदत्ता तत्र पद्मावत्याः शय्यायामेव शयितं प्रियतमं नायकं पद्मावतीबुद्धया पश्यन्ती तदीयमस्वास्थ्यं विचिन्त्य दूयमाना ब्रूते—**अहो** इति । अहो इति विषादसूचकमव्ययम् , खल्विति निश्चये, मे मद्विषये । विश्रम-स्थानभूता मनोविनोदास्पदम् , नामेति वाक्यालङ्कारे । यावत् अस्तु , प्रविशा-मीति विध्यर्थे लट् । 'हन्त ! सर्वथा देवैर्निर्दयत्वमवलम्बितं मयि, यदसौ पद्मावती मद्वियोगवशाद् गाढमुत्कण्ठाभावं बिभ्रतः प्रियतस्य सन्तापजातं प्रशमय्य मनो विनोदयति स्म, सापि साम्प्रतं शिरोवेदनया दुःखिता सती सुतरामस्वास्थ्यं भजते । मन्ये दुःसहां विरहवेदनामनुभवन्त्याः, विरहवेगपर्याकुलस्य पत्युर्मनोविनोदनौ-पयिकं कमप्युपायमिदानीमपश्यन्त्या मम दैवदुर्विपाकादप्रसन्नानामीश्वराणामका-रुण्यस्यैव परिणामोऽयम् । अस्तु, किं कार्यम् ? प्रविश्यतामन्तर्मया' इत्येवं वद-न्त्या वासवदत्तायास्तद्गृहान्तः प्रवेशं परितो वीक्षणं चाभिधाय चिन्तापुरःसरं वचनोद्गारमाह—**प्रविश्यावलोक्येत्यादि** । प्रमादोऽनवधानता । दीपसहायां, दीप एव सहायः सहचरो यस्यास्ताम् अनन्यसहायामेकाकिनीमित्यर्थः । परित्यज-तीति भूतार्थे लट् । यावत् अधुना । असावधानतेयं भृशं विस्मयकरी पद्मावत्याः

लिये शीघ्रता करती हूँ । (चली गई ।)

वासव०—देव लोग मेरे विषय में अतीव निर्दय हो रहे हैं । मेरे विरह से दुःखी होने वाले आर्यपुत्र के लिये विश्राम-रूप यह पद्मावती भी भला अस्वस्थ हुई । भीतर जाती हूँ (प्रवेशकर और देखकर) हाय ! सेवकों की भारी गलती । जिन्होंने बीमार पद्मावती को केवल दीपक के सहारे

त्तजदि । इअं पदुमावदी ओसुत्ता । जाव उवविसामि । अहव अण्णा-सणपरिग्गहेण अप्पो विअ सिणेहो पडिभादि । ता इमस्सिं सय्याए उवविसामि । [उपविश्य] किं णु हु एदाए सह उवविसन्तीए अज्ज पह्लादिदं विअ मे हिअअं । दिट्ठिआ अविच्छिण्णसुहणिस्सासा । णिव्वुत्तरोआए होदव्वं । अहव एअदेससंविभाअदाए सअणीअस्स

दीपसहायां कृत्वा परित्यजति । इयं पद्मावत्यवसुप्ता । यावदुपविशामि । अथवान्यासनपरिग्रहेणाऽल्प इव स्नेहः प्रतिभाति । तदस्यां शय्यायामुप-विशामि । किं नु खल्वेतया सहोपविशन्त्या अद्य प्रह्लादितमिव मे हृदयम् । दिष्ट्याऽविच्छिन्नसुखनिःश्वासा । निवृत्तरोगया भवितव्यम् । अथवैक-

---

परिचारिकावर्गस्य, योऽधुना वेदनावशादस्वस्थतामनुभवन्तीं पद्मावतीमत्रै-काकिनीं परित्यक्तवान् । रोगिणः सन्निधौ केनापि नूनमवस्थातव्यम्, अत्र तु कोऽपि नास्तीत्यनुचितकारितेयं परिजनस्य । शेते किलैषा पद्मावती, इदानीमत्रोपवि-श्यते मया । इत्थं तद्दूरेऽन्यत्रोपवेशनं विचार्य पुनः किञ्चिच्चिन्तयन्ती ब्रूते—**अहवेति** । अन्यासनपरिग्रहेण स्थानान्तरोपवेशनेन । अस्यामवस्थायामेतस्या दूरेऽवस्थातुं नोचितं मे । स्थानान्तरेऽवस्थित्या स्नेहस्याल्पतेव दृश्यते । रोगिणो दूरेऽवस्थातुर्मनसि जुगुप्साभाव इवोदितः सम्भाव्यते लोकैः । अतोऽत्रैव शयनी-येऽस्याः समीपमेवोपविश्यते मया । तथा करणं दर्शयति—**उपविश्येति** । पद्मा-वतीशयनीयमुपविष्टायाश्च तस्या मनोगतान्वितर्कानाह—**किं णु हु** इति । किं नु खलु, किमितीत्यर्थः । प्रह्लाद आनन्दः सञ्जातोऽस्य तत् प्रह्लादितम्, 'तदस्य सञ्जात'मितीतच् प्रत्ययः । न जानामि, केन कारणेनात्र पद्मावत्या सहोपवेशना-न्मनः प्रसीदतीव मे । मन्दं मन्दं चरन्ति रोगिणां निःश्वासपवनाः । अस्यास्तु निःश्वासपरम्परा दैवादनवरुद्धाऽयत्नसञ्चारा दृश्यते । सम्भावयाम्यतः स्वस्था लब्धारोग्या भवेदियमिति । **अहवेति** । पूर्वोक्तं विचार्य वासवदत्ता स्नेहाऽनुरूपं

छोड़ दिया है। यह पद्मावती सोई है। तो मैं बैठती हूं। या दूसरा आसन स्वीकार करने से, प्रेम न्यून-सा प्रतीत होता है। इसलिये इस सेज पर ही बैठ जाऊँ। (बैठकर) क्यों भला इसके साथ बैठते हुए मेरा हृदय आज आनन्दित-सा हो रहा है ? सौभाग्य की बात है कि साँस सुख से ले रही है। रोग निकल गया होना चाहिये। अथवा, एक ओर सोने से मालूम होता

सूएदि मे आलिङ्गेहि त्ति। जाव सइस्सं [शयनं नाटयति।]

राजा—[स्वप्नायते।] हा वासवदत्ते !

देशसंविभागतया शयनीयस्य सूचयति मामालिङ्गेति। यावच्छयिष्ये।

सहशयनं नाम तत्कालोचितं कर्तव्यं मन्यमाना पक्षान्तरमुपक्षिपतीदम्। शयनीयस्य शय्यायाः, एकदेशसंविभागतया, एकदेशे एकत्र प्रदेशे नतु सर्वत्र संविभागः पार्थक्येनावस्थितिः यस्य तत् तद्भावस्तत्ता तया हेतुभूतया, शयनस्यैकदेशे स्थित्येति यावत्। 'याव'दित्यस्य 'अत' इत्यर्थः। इयमत्र पद्मावती शयनस्यैकदेशे शयाना वर्तते। शयनैकदेशस्य च स्वाधिष्ठिततया स्वाऽनधिष्ठितं प्रदेशं प्रियजनशयनोचितं ध्वनयन्ती 'सविध इह शयित्वा साऽहमाश्लेषणीया' इति व्यक्तमाकूतमात्मनो निवेदयति माम्। अतः कारणादेतदिच्छापूरणमात्मनः कर्तव्यं मत्वा सहैतया शयिष्यते मया। **शयनं नाटयती**त्यनेन शयनाभिनयप्रदर्शनपूर्वकं तत्र शयनीये वासवदत्ताया अवस्थानं दर्शितम्।

दृढसङ्कल्पबलात्सुलभस्मरणां हृद्गतां प्रियतमां वासवदत्तां विचिन्तयन् सुप्तो राजा 'हा! हन्त! वासवदत्ते!' इति स्वप्नविषयं तन्नामग्रहणं कुर्वन्नात्मनो विरहविह्वलतां दर्शयति—**स्वप्नायते** इत्यादिना। स्वप्नायते इत्यत्र स्वप्नशब्दः स्वप्नचेष्टाख्यमर्थं बोधयति। स्वप्नलक्षणं च—'बाह्येषु करणेषूपसंहृतेषु जागरितवासनानुसारेण मनसस्तदर्थाभासाकारावभासनं स्वप्नशब्दितम्' इत्युक्तम्। यथाहुः—'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि। सेवते विषयानेव तद्विद्यात् स्वप्नदर्शनम्॥' स च सप्तविधः, यथा—'दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा। भावितो दोषजश्चेति स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः'॥ इति। स्वप्नं करोतीत्यर्थे 'तत्करोती'त्यनेन णिच्। स्वप्नसुलभां चेष्टां करोति, स्वप्नं पश्यतीत्यर्थः। अथवा स्वप्नशब्दः स्वप्नविषयपरः, अत्र 'स्वप्नमाचष्टे' इत्यर्थे 'तदाचष्टे' इति णिच्, स्वप्नोचितं विषयं प्रलपतीत्यर्थः। इत आरभ्य 'हस्तौ प्रसारयती'ति यावद्विरहिणो वत्सराजस्य विलापप्रलापाः स्वप्नोचिताः क्वचिद्वासवदत्ताप्रकल्प्यमानतदुत्तरदानसहकृता वर्णयिष्यन्ते।

है कि मेरा आलिंगन करो ऐसा सुझा रही है। तो सोती हूँ। (सोने का भाव दिखाती है।)

राजा—(स्वप्न में) हाय! वासवदत्ता!

वासवदत्ता—[सहसोत्थाय] (क) हं ! अय्यउत्तो, ण हु पदुमावदी ? किं णु खु दिट्ठह्मि ? महन्तो खु अय्यजोअन्धराअणस्स पडिण्णाहारो मम दंसणेण णिप्फलो संवुत्तो ।

राजा—हा ! अवन्तिराजपुत्रि !

वासवदत्ता—(ख) दिट्ठिआ सिविणाअदि खु अय्यउत्तो । ण

(क) हम् ! आर्यपुत्रः, न खलु पद्मावती ? किन्तु खलु दृष्टास्मि ? महान् खल्वार्ययौगन्धरायणस्य प्रतिज्ञाभारो मम दर्शनेन निष्फलः संवृत्तः ।

(ख) दिष्ट्या स्वप्नायते खल्वार्यपुत्रः । नात्र कश्चिज्जनः । याव-

---

स्वकीयनामग्रहणं प्रियतमेन कृतमालोच्य वासवदत्ताऽकस्मात्ससम्भ्रममुत्थिता सविस्मयशङ्कावितर्कं वचनमाह—**हमिति** । हु, नु खलु, इति वाक्यालङ्कारे । अहो ! किमिदम्, आर्यपुत्रोऽत्र शयितः न खलु पद्मावती ? प्रयत्नप्रच्छादितस्वस्वरूपा किमहमिदानीं प्रबुद्धस्यार्यपुत्रस्य दृग्गोचरतां गता ? एवं चेच्छ्रीमतो यौगन्धरायणस्य मत्स्वरूपप्रच्छादनमूला स्वामिराज्यप्रत्याहरणरूपा कृतपूर्वा महती प्रतिज्ञा मत्स्वरूपप्रदर्शनादद्य नैष्फल्यं गता । शङ्के, कथङ्कारमियं सिद्धिं प्राप्स्यतीति । महान्खल्वयं विचारावसरः समुपस्थित इति भावः । 'अत्रार्यपुत्रः स्वप्नदर्शनोचितं प्रलपतीत्यनवगत्य वासवदत्तया तत्प्रबोधनं स्वस्वरूपप्रत्यायकतयाऽनर्थमूलं सम्भावितम् । पद्मावत्या सह स्वामिनो विवाहस्य सङ्घटनेन यौगन्धरायणप्रतिज्ञा यद्यपि भूयसांशेन सिद्धा, तथापि शत्रोः सकाशाद्राज्यप्रत्याहरणरूपो मुख्यस्तदीयोंऽशः साध्य एव । तत्र च प्रच्छादनीयस्वस्वरूपप्रकटनं नाम कार्यसिद्धेः शङ्कां जनयतीति स्थाने वितर्कितमिदं वासवदत्ताया' इत्येवमवगन्तव्यम् ।

पुनरपि राजा स्वप्नदृष्टां वासवदत्तां नामान्तरेण सम्बोधयति—**हेति** । अयि ! प्रद्योतनृपतेः पुत्रि ! त्वदीयाऽदर्शनादहं विषीदामि, क्वासि त्वं ? देहि मे दर्शनमिति राज्ञो हृद्गतमत्र ।

दिट्ठिएति । पुनः प्रयुक्तेन सम्बोधनान्तरेण लक्षणेन चक्रे नचिच्चक्षुषोर्लक्ष्यतां

वासव—(एकाएक उठकर) हैं आर्यपुत्र, पद्मावती नहीं ? क्या मैं देखी गई ? आर्ययौगन्धरायण का बड़ा प्रतिज्ञा का भार मेरे दर्शन से व्यर्थ हुआ ।

राजा—हा ! अवन्तिराजनन्दिनी ?

वासव०—सौभाग्य है कि आर्यपुत्र स्वप्न में बोल रहे हैं । यहाँ कोई मनुष्य नहीं है ।

एत्थ कोच्चि जणो । जाव मुहुत्तअं चिट्ठिअ दिट्ठिं हिअअं च तोसेमि ।

राजा—हा ! प्रिये ! हा ! प्रियशिष्ये ! देहि मे प्रतिवचनम् ।

वासवदत्ता—(क) आलवामि भट्टा ! आलवामि ।

राजा—किं कुपितासि ?

न्मुहूर्तकं स्थित्वा दृष्टिं हृदयं च तोषयामि ।

(क) आलपामि भर्तः ! आलपामि ।

गतेन प्रियतमं स्वप्नावस्थाऽवस्थितमवधारयन्त्या वासवदत्ताया वचनमिदम् । खलु वाक्यालङ्कृतौ, यावत् अतः । सौभाग्यमेतन्मे, यदयं प्रियतमः स्वप्नचेष्टितान्यातनुते । एतदीयप्रबोधशङ्कया 'मत्स्वरूपं प्रकाशितमभू'दित्येवं यन्मे शङ्कितमासीत्तदिदानीं दैवान्निवृत्तम् । अत्र किल स्थले शयितमार्यपुत्रं विहाय न विद्यते कश्चिदन्यो मनुष्यः, अतः 'कोऽपि मां पश्ये'दिति शङ्काया अवसरो नास्ति । चिरात्प्रियविलोकनोत्कलिकाकुले लोचनयुगलं मनश्च मे । तस्मादहं प्रियदर्शनादेतयोस्तृप्तिं सम्पादये क्षणकालमिहावस्थानसुखमनुभवन्तीत्यर्थः ।

राजा पुनः प्रलपति—**हा ! प्रिये !** इति । 'अयि ! प्रीतिपात्रच्छात्रे ! प्रियतमे ! मौनमवलम्बमाना किमिति प्रतिवचो न दत्से ? कासी'ति सप्रेम त्वामाह्वयन्तम् 'इयमत्रास्मी'ति प्रत्युत्तरवितरणेन सम्भावय माम् ।

पुनः पुनरेवं तत्तन्नामग्रहणरूपां प्रत्युत्तरश्रवणाभिलाषसूचिकां भर्तुः प्रणयवाचमालोचयन्ती प्रणयानुरोधात्तदुचितां वाचं रोद्धुमपारयन्ती वासवदत्ता ससम्भ्रमं ब्रूते—**आलवामीति** । सम्भ्रमे क्रियापदद्विरुक्तिः । प्राणप्रिय ! किमर्थं व्याकुलेन भूयते भवता । इदमिदानीमालप्यते, प्रत्युत्तरं दीयते मया ।

'अपि नाम कोऽपि कोपस्ते मयि ?' इत्येवं पुनराह राजा—**किमिति** । वासवदत्तया किल स्वाप्नं वचनं निशम्य राज्ञः स्नेहात्तदुचितमुत्तरं कल्प्यते । राज्ञा तु स्वप्नगतेन वासवदत्तोत्तरं न श्रोतुं शक्यत इति वारंवारं तदुत्तरश्रवणोत्कण्ठया तत्तत्तादृशं प्रलप्यत इत्येवमत्राकलनीयम् ।

घड़ी भर बैठकर अपनी दृष्टि और हृदय को आनन्दित करूँ ।

राजा—हा ! प्रिये ! प्रियशिष्ये ! मुझे उत्तर दो ।

वासव०—उत्तर देती हूँ स्वामी ! उत्तर देती हूँ ।

राजा—क्या तुम कुपित हुई हो ?

वासवदत्ता—(क) ण हिं ण हि, दुक्खिदह्मि।
राजा—यद्यकुपिता, किमर्थं नालङ्कृतासि ?
वासवदत्ता—(ख) इदो वरं किं ?
राजा—किं विरचिकां स्मरसि ?

(क) नहि नहि, दुःखितास्मि।
(ख) इतः परं किम् ?

राज्ञो वचनं निशम्याह वासवदत्ता-**ण हीति**। नैवास्मि कुपिता किल, न चास्ति कोऽपि कोपस्यावकाशः साम्प्रतं प्रियतमे। किन्तु हतभाग्याहं विरहिणी दुःखमयीं दशामनुभवामीत्यर्थः।

व्यतिरेकमुखेन तां कुपितां निश्चित्य चित्ते भूयोऽभिधत्ते राजा—**यद्यकुपितेति**। यदीति सम्भावनायाम्। अथ सम्भाव्यते—त्वं कुपिता नासीति, तर्हि पुनः केन हेतुना न धत्सेऽलङ्कारान् शरीरे ? कोपं विनाऽलङ्कारसम्बन्धाभावो न सम्भवी। कारणान्तरस्याऽनवसरेण च 'कोपादेव त्वयालङ्करणानि परित्यक्तानी'ति स्पष्टमुन्नीयते। तस्मात्त्वं कुपितैवासीति-मन्ये। यद्वा—प्रणयविमेषशालिन्यां कोपाऽनुदयं सम्भाव्य तत्र पुनः कोपे कारणान्तरं जिज्ञासमानस्य राज्ञो वचनमिदम्। अत्र पक्षे-'क्रोधाभावे सति, न तर्कये किमितीदमलङ्कारवैकल्यं ते' इत्यर्थः करणीयः। विरहिणीं वासवदत्तां ध्यायतो राज्ञः स्वप्ने तादृशविरहावस्थोचितालङ्कारवियोगवत्येव सा प्रादुरासीत्। यथाकल्पितं हि दृश्यते स्वप्ने।

तत्राह वासवदत्ता—**इदो** इति। इतः 'दुःखितास्मी'त्येतदपेक्षया, परमन्यत्, कारणमिति शेषः। विरहयोगादहं दुःखितास्मीत्यत एवालङ्कारधारणं न मे रोचते। नान्यत्किमपि तत्परित्यागे कारणं दुःखं विना। दुःखितानामलङ्कारा हि भारभूता भवन्तीति भावः।

सपत्नीस्मरणात्स्त्रीणां कोपानुभावः प्रादुर्भवतीति तत्स्मरणं तस्याः कोपकारणं सम्भावयन्नाह राजा—**किमिति**। सपत्न्या विरचिकायाः स्मरणमिदानीं ते

वासव०—नहीं, नहीं। मैं दुखी हूँ।
राजा—यदि कुपित नहीं हो तो शरीर पर अलङ्कार क्यों नहीं धारण किये ?
वासव०—(मैं दुखी हूँ) इससे दूसरा कारण क्या होगा ?
राजा—क्या विरचिका की याद कर रही हो ?

वासवदत्ता—[सरोषम्] (ख) आ अवेहि, इहावि विरचिआ ?

राजा—तेन हि विरचिकार्थं भवतीं प्रसादयामि । [हस्तौ प्रसारयति ।]

(ख) आ अपेहि, इहापि विरचिका ?

सञ्जातं किमु ? अत एव रुष्टासि त्वम् ? विरचिकानाम्नी च भोगिनी काचिदासीदुदयनस्य राज्ञो दाराः । तत्सम्बद्धा च कथा कथामुखलम्बकेऽस्ति प्रतिपादिता **कथासरित्सागरे** ।

सपत्नीनामस्मरणात्कोपकलुषिता सती सरोषं ब्रवीति वचनं वासवदत्ता—**आ** इति । आ इत्यव्ययं कोपे स्मरणे च, तथा चोक्तम्—'वाक्यस्मरणयोरङित्' इति । 'आ अपेहि' इत्यत्र 'निपात एकाजनाङ्' इति प्रगृह्यसंज्ञा 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावश्च । तेन सवर्णदीर्घो निषिद्धः । इहापि, मत्सामीप्येऽपि वियोगदुःखेऽपि पद्मावतीगृहेऽपि वा, विरचिका तन्नाम्नी सपत्नी, स्मर्यते स्मार्यते चेति शेषः । हन्त भोः ! विरचिकायास्तस्या नामधेयं गृह्णन्निदानीं दूरमपसर त्वम् । मत्पुरोऽपि सपत्नीस्मरणं कुर्वतो मत्समीपे न स्थातुमुचितं ते । वियोगदुःखेऽपि मे, तस्याः स्मरणं स्वयं कुर्वता मां च कारयता पुनरिदं दुःखमुत्पाद्यते त्वया । सम्प्रत्यत्र पद्मावत्याः सदने तस्याः प्रसङ्गो न किलोपक्षेपणीयः । न रोचते हि मह्यं ते वचनमेतदिति भावः ।

विरचिकासम्बन्धस्मरणमूलकमेव कोपं सम्भावयंस्तत्कृते तां प्रसादयितुमुद्यतो राजा ब्रूते—**तेन हीति** । विरचिकार्थं विरचिकानामग्रहणजन्मापराधक्षमापनार्थमिति यावत् । यदि नाम विरचिकास्मृतिस्त्वां कोपयति, तर्हि 'त्वं प्रसन्ना भवे'त्यनुनयाम्यहम् । तन्नामग्रहणरूपो मन्तुरेष मे क्षन्तव्यस्त्वया । इति वदंस्तत्प्रसादनोपायमभिनयति—**हस्तौ प्रसारयतीत्यनेन** । अञ्जलिबन्धं प्रापितयोर्हस्तयोः प्रसारणं प्रसादनोपायभूतं लोकाचारानुगतम् । अन्यासङ्गरूपापराधक्षमाप्रार्थनादिभिर्यथावसरं प्रयुज्यमानैरुपायैः प्रियायाः कुपितायाः प्रसादनमपि प्रणयमहिमैकमूलकम् । प्रणयप्रकर्षेण प्रियाप्रसादनस्य बहुशोऽभ्यस्ततया दृढतरसंस्कारबलेन स्वप्नदर्शनेऽप्ययं तत्प्रसादनप्रयत्नो राज्ञः साम्प्रतमेव साम्प्रतम् ।

वासव०—(क्रोध से) आः, हटो, यहाँ भी विरचिका ?

राजा—तो विरचिका के लिये तुम्हें मनाता हूँ । (दोनों हाथ फैलाता है ।)

वासवदत्ता—(क) चिरं ठिदह्मि। को वि मं पेक्खे। ता गमिस्स। अहव सय्यापलम्बिअं अय्यउत्तस्स हत्थं सअणीए आरोविअ गमिस्सं। [तथा कृत्वा निष्क्रान्ता।]

(क) चिरं स्थितास्मि। कोऽपि मां पश्येत्। तद् गमिष्यामि। अथवा शय्याप्रलम्बितमार्यपुत्रस्य हस्तं शयनीय आरोप्य गमिष्यामि।

एतावदवधि राज्ञो विरहिणः स्वप्नावस्थोचितालापा उपवर्णिताः। इतः परं जागर्ति प्राप्तवतो वासवदत्तां स्वसमीपतो गच्छन्तीं पश्यतस्तस्य शोकानुभावो वर्णयिष्यते। अत्र तावत्—'जाग्रदवस्थायां मनसि दृढं भावितं वस्तुजातं भावनावैभवेन स्वप्नावस्थायामप्यनुगतं दृश्यते। असाधारणस्तावत्प्रणयो वत्सराजस्य वासवदत्तायां वहुशः प्रकाशितचरः। जागरावस्थायां तामेव सन्ततं वासवदत्तां ध्यायतस्तस्योदयनस्यातिवेलध्यानयोगवलात् स्वप्नेऽपि तद्विषयानुचिन्तनं सहजमेव। अत एव स्वप्नदर्शनविषयतां नूनं गतासीद्राज्ञो वासवदत्ता। स्वप्नगतवासवदत्तादर्शनरूपं तमेनं विषयमधिकृत्य कृतं 'स्वप्नवासवदत्तम्' इति नामकरणं च नाटकस्यैतस्यानुगतार्थतां कलयती'ति रहस्यमाकलनीयम्।

तमेतं पूर्वोक्तं प्रियकृतमात्मप्रसादनोद्यमं दृष्ट्वा, कोपं च स्वप्नगतार्थसम्भूतं व्यर्थं विचिन्त्य वासवदत्ता नादत्त चित्तेऽवकाशं कोपाय। इदानीं हस्तप्रसारणाद्राज्ञो निद्राभङ्गं तत्रान्यजनोपगमनं चाभिशङ्क्य स्वस्वरूपगोपनार्थं ततः प्रस्थातुकामायाः प्रियं भर्तारं चिरतिथात्समयतः समुपलब्धवत्यास्तस्या वचनमाह कविः—**चिरमिति**। आर्यपुत्रं पश्यन्त्यास्तदीयप्रणयसूचकस्वप्नदर्शनकालिकालापश्रवणमुग्धस्वान्ततया स्वीयामवस्थामपश्यन्त्या अत्र स्थिताया मे भूयान्समयोऽतीतः। दैवादेतावत्कालपर्यन्तं न केनापि दृष्टाऽहम्। 'दृष्टिगोचरतां कस्यापि नोपैष्यामी'ति प्रतिक्षणं शङ्का मां वाधते। अतो यावन्न कस्यापि संमुखं गतम्, तावदितः प्रस्थातव्यं मयेत्यर्थः। इत्यभिधाय किञ्चिद्विचार्य स्नेहोचितं कर्तव्यान्तरं निर्दिशन्ती पुनः पक्षान्तरं दर्शयति वासवदत्ता—**अहवेति**। शय्यायाः प्रलम्बितं शय्याप्रलम्बितम् शयनाधस्तले लम्बमानम्। प्रच्छन्नरूपाया ममार्यपुत्रप्रवोधशङ्का तु दूरापेता। स चाधुनापि शयित एव। किन्तु सुचिरादत्रागताया जनान्तरोपगमनसम्भावनया च

वासव०—देर तक ठहर गई। कोई मुझे देख लेगा, अतः जाती हूँ। अथवा, पलंग पर से लटके हुए आर्यपुत्र के हाथ को फिर पलंग पर रख कर जाऊँगी। (हाथ उठाकर चली गई।)

राजा—[सहसोत्थाय] वासवदत्ते ! तिष्ठ तिष्ठ । हा ! धिक्।
निष्क्रामन् सम्भ्रमेणाहं द्वारपक्षेण ताडितः ।
ततो व्यक्तं न जानामि भूतार्थोऽयं मनोरथः ॥ ७ ॥

मे प्रस्थानमितः स्थानेऽस्मिन्समये । अथ गच्छन्त्यापि मया, मत्प्रसादनाय प्रसारितयोरेकतः शयनाधःप्रदेशे लम्बमानं प्रियस्य करं पुनः शयनस्थलेऽवस्थाप्य गन्तव्यमिति । **तथा** कृत्वेत्यादिना लम्बमानस्य प्रियकरस्य शयनेऽवस्थापनं ततः प्रदेशान्निर्गमनं च वासवदत्तायाः सूचिते ।

प्रेयसीकरसरोजसंस्पर्शात्तदानीमकस्मात्प्रबुद्धो राजा समीपतो गच्छन्तीं वासवदत्तामिव पश्यन् शयनादुत्थाय तां जिघृक्षुर्जिज्ञासमानश्चाह—**वासवदत्ते** इति । 'तिष्ठ तिष्ठे'ति द्विरुक्ती राज्ञो वासवदत्ताग्रहणविषयिणीं त्वरामाविष्करोति । अयि ! वासवदत्ते ! स्थीयतां किञ्चित्त्वया स्थीयताम् । विहाय मामेकाकिनमत्रोपेक्षितप्रणयानुबन्धया कुत्र गम्यते ? इत्येवं वदंस्तद्ग्रहणसंरम्भेण गच्छन् द्वारपार्श्वदेशाभिहतः सन्नग्रे गन्तुमशक्नुवंस्तत्प्राप्तौ निराशो भूत्वा शोचति राजा—**हा धिगिति** । हन्त ! कष्टम् , गतैव सा । किमिदानीं विधेयम् ?

तात्कालिकीं निजामवस्थां वर्णयति—**निष्क्रामन्निति** । सम्भ्रमेण तद्विषयपरीक्षणत्वरया, निष्क्रामन् ततः प्रदेशान्निर्गच्छन्नहं, द्वारपक्षेण द्वारस्य पार्श्वभागेन, ताडित आहतोऽस्मि, ततस्तस्मात्कारणात्, व्यक्तं न जानामि सैव स्यान्न वेति स्पष्टं न वेद्मि, तन्मुखानवलोकनान्निश्चितमत्र ज्ञानं मे किमपि नाभूत् । अयं, मनोरथः तद्विषयपरिज्ञानरूपोऽभिलाषः, भूतार्थः भूतः सञ्जातोऽर्थो निवृत्तिर्यस्य तादृशोऽभूत् , 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इति कोषः । वस्तुतत्त्वपरीक्षणाभिलाषो विनष्ट इत्यर्थः । वासवदत्तानुरूपाकृतिमितो निर्यान्तीं कान्तामेकां विलोकयता तद्विषयपरिज्ञानाय तामनुगन्तुमिच्छता मयापि निर्गन्तुमुपक्रान्तम् , किन्तु त्वरावशाद्गच्छता ततो बहिर्गमनद्वारपार्श्वप्रदेशात्सङ्घट्टनं प्राप्य तदाघातवेदनावशान्निरुद्धगतिना च गन्तुमग्रे न पारितं किमपि । अन्तरेऽस्मिन्नियं तु

राजा—(एकाएक उठकर) वासवदत्ते ! ठहर, ठहर । हाय ! हाय !!

मैं (वासवदत्ताका स्वरूप जानने की) जल्दी में निकलता हुआ द्वार के वगल से टकरा गया । इससे यह मैं स्पष्टरूप से नहीं जानता कि यह वही है या नहीं ? मेरा (इस विषय के जानने का) मनोरथ व्यर्थ होगया ॥ ७ ॥

[प्रविश्य]

विदूषकः—(क) अइ ! पडिबुद्धो अत्तभवं ।

राजा—वयस्य ! प्रियमावेदये, धरते खलु वासवदत्ता ।

(क) अयि ! प्रतिबुद्धोऽत्रभवान् ।

दूरं निर्गता हन्त ! दृग्गोचरत्वं नोपगच्छति । अमुना च गतेः प्रतिरोधेन हेतुना निश्चितं न ज्ञायते मया, केवलं तदाकारसादृश्येन कल्प्यते 'सैव स्या'दिति । तद्वार्ता-परीक्षाचिकीर्षा च सेयं मे विनष्टा । दैवादिच्छापूर्तिर्न जातेति स्पष्टार्थः । दुर्दैवेऽपि केनापि सुदैवांशेन स्वप्नदृष्टाया वासवदत्ताया जागरावस्थायां दर्शनावसर आनीतोऽपि सोऽयं भूयो वलवत्तरेण विरहवेदनामनुभावयता दुर्दैवदुर्विपाकेन मे समयेऽस्मिन्नकस्मादाच्छिन्नः । दुर्दैवं हि सुखं प्रतिरुणद्धीत्यहो ! मन्दभागिता ममेति भावः । अथवा—ततः पूर्वोक्तेन द्वारपार्श्वाभिघातेन गतेः प्रतिरोधात्, अयम् इदानीमनुभूतो वासवदत्तादर्शनरूपो विषयः, भूतार्थो यथार्थः सत्यः किम् ? मनोरथः केवलं मानसिकी कल्पना वा किम् ? उभयत्र प्रश्नकाकुरियम्, इति वाक्यार्थः कर्मरूपः, व्यक्तं स्पष्टरूपेण, न जानामि । गतेरुपरोधाद्वासवदत्तादर्शनमिदं वास्तवं सङ्कल्पमयं वेति किमप्यहं निर्धारयितुं न प्रभवामीत्यर्थः । यद्वा—अयं मनोरथो वासवदत्तादर्शनाभिलाषो भूतार्थः सत्यरूपोऽस्तीति न जानाम्यहम् । मनोरथस्य सत्यताकथनमिदं मनोरथविषयस्य सत्यतां गमयति । वासवदत्तादर्शनमिदं सत्यमस्तीति स्फुटं न ज्ञायते मयेति भावः । अनुष्टुब् वृत्तमिदम् ॥७॥

राजनि शयाने सति शैत्यवेदनापनोदनार्थिनः प्रावरणवस्त्रानयनार्थं पुरा सूचितं गमनमासीद्विदूषकस्य । इदानीं 'राजा प्रबुद्धः स्या'दिति सम्भावयतस्तस्य पुना राज्ञः सन्निधावुपस्थितिं सूचयति—प्रविश्येति ।

तत्रोपगतो राजानं जाग्रतमालोक्य सप्रसादं विदूषको मानसं ब्रूते—अइ इति । अयीति प्रसन्नतासूचकमव्ययम् । अहो ! परमं प्रियमिदम्, श्रीमान् मान्यो महीपतिरिदानीं शयनादुत्थितो वर्तते ।

(प्रवेश कर).

विदू०—अरे आप जाग गये ।

राजा—मित्र ! खुशी की बात सुनाता हूँ, वासवदत्ता जीती है ।

विदूषकः—(क) अविहा ! वासवदत्ता ? कहिं वासवदत्ता ! चिरा खु उवरदा वासवदत्ता ।

राजा—वयस्य ! मा मैवम्,

शय्यायामवसुप्तं मां बोधयित्वा सखे ! गता ।

(क) अविहा ! वासवदत्ता ? कुत्र वासवदत्ता ? चिरात् खलूपरता वासवदत्ता ।

सञ्जातचरवासवदत्तादर्शनविषयकं प्रियं वृत्तं सुहृदमुपयातं विदूषकं निवेदयितुकामस्तदुचितं वचः प्रस्तौति राजा—**वयस्येति**। प्रियं प्रीतिकरम्, वृत्तमिति शेषः। धरते धत्ते, अत्र प्राणान् जीवितं वेति कर्मपदमर्थवलादाक्षेप्यम्, जीवतीत्यर्थः, खलु निश्चये। मित्रवर! प्रसन्नतासूचकं वृत्तान्तमेतर्हि सूचयामि त्वाम्। जीवति वासवदत्ता। निश्चितमेतदवगच्छेत्यर्थः।

निशम्य राज्ञो वचनं विदूषकस्तदुक्तं निषेधन्नाह—**अविहेति**। कष्टमद्यापि वासवदत्ताया दर्शनं सम्भाव्यते ? क्व किलोपलब्धव्या, समयेऽस्मिन्कुतोऽद्य सा ? परलोकं प्रस्थितायास्तस्या भूयान्समयोऽतिक्रान्तः, दुर्लभं तद्दर्शनम्। मन्ये, विरहकार्तेण यत्किमप्यसम्भावितं प्रलप्यते भवतेत्यर्थः। 'वासवदत्ता दग्धे'ति चिरप्रसिद्धया तत्प्राप्तिरद्याऽसम्भवा, राजा तु विरहाकुलस्तत्सङ्कल्पेन यत्किञ्चिदेतत्प्रलपतीत्यभिप्रायाद्विदूषको राजोक्तं न्यषेधीत्।

विदूषकोक्तिं खण्डयन् राजा ब्रूते—**वयस्येति**। मा मा, नैवेत्यर्थः, एवं पूर्वोक्तप्रकारकम्, वादीरिति शेषः। 'वासवदत्ता नास्तीदानीं दुर्लभं च तद्दर्शन'मित्येवं मित्र ! त्वया न वक्तव्यम्।

तद्दर्शनविषयकं वृत्तं निर्दिशति—**शय्यायामिति**। सखे! हे मित्र ! शय्यायां पर्यङ्के, अवसुप्तं शयितं मां, बोधयित्वा जागरयित्वा, सा वासवदत्तेति

विदू॰—हाय ? वासवदत्ता, वासवदत्ता कहाँ ? वासवदत्ता को मरे बहुत दिन हुए।

राजा—मित्र ! नहीं, ऐसा नहीं।

मित्र ! पलंग पर सोते हुए मुझको वह जगाकर गई। पहले 'वासवदत्ता जल गई' यह

दग्धेति ब्रुवता पूर्वं वञ्चितोऽस्मि रुमण्वता ॥ ८ ॥

प्रकरणबलादनुसन्धेयम्, गता दृशोरगोचरतां प्रयाता। सा च दग्धा भस्मीभूता, इतीत्थं ब्रुवता सूचयता रुमण्वता तदाख्येन सन्मन्त्रिणा, पूर्वं पुरा, वञ्चितः प्रतारितः, अस्मीति भूतार्थे लट्, अभूवमित्यर्थः। पद्मावतीमस्वस्थामवगत्य तदवस्थावलोकनाय गतोऽहं यदा तदीयं गृहं, तदा तत्र तामनुपलभ्य तस्या एव शयनेक्षणं तत्प्रतीक्षयाऽवस्थितो निद्रितः स्मरणगोचरायमाणवासवदत्ताविषयकस्वप्नदर्शनसुखानुभवेषु मग्नोऽभूवम्। मन्ये च तत्रान्तरे मत्स्मरणमहिम्ना नु विदितवार्तया नु पद्मावतीं द्रष्टुमिच्छन्त्या वासवदत्तयापि तत्रोपस्थितम्। पद्मावतीशयनमधिशयानं मां पद्मावतीमेव पूर्वं मत्वा यथार्थं च ततो विदित्वा निद्रितं मां प्रबोध्य तया स्वयं ततो निर्गतम्। तत्क्षणमेव शयनादुत्थाय वासवदत्तायाः प्रियतमाया दुर्लभतमं दैवप्रदत्तं दर्शनं प्राप्य प्रसन्नेन तदानीं मया सप्रेम तामनुसर्तुमुद्यतम्। किन्तु त्वरितं ततो गच्छन्ती सा स्वरूपदर्शनशङ्कया हन्त! दैवान्नयनपदवीं नोपयाता मे। पुरास्मासु लावाणकग्राममधितिष्ठित्सु कदाचित्सम्प्रवृत्तेन सहसा ग्रामदाहेन सा दग्धेति विश्वासपात्रेण मन्त्रिणा मे रुमण्वता सूचितमासीद्, अद्य यावत्तथैव च तत्सम्भावितमस्माभिः। परमद्य वासवदत्तायाः समुपलब्ध्या न तावत्तिरोहितमिदं यद्रुमण्वान्नाम तदानीं तदलीकवार्ताप्रख्यापनेन मां प्रतारितवान्। असत्यमेव तद्वचनं समयेऽत्र मे प्रतिभातीति भावः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ८ ॥

एतत्पद्यानन्तरञ्च—"पद्मावत्या मुखं वीक्ष्य विशेषकविभूषितम्। जीवत्यावन्तिकेत्येवं पूर्वं विज्ञातमेव मे' इत्येकं पद्यमादर्शपुस्तकेष्वनुपलभ्यमानं चिरभ्रष्टप्रचारमपि प्रसङ्गोचितं मत्वा योजितं—**श्रीगणपतिशास्त्रिमहोदयैः**। 'इदञ्च दशरूपकलक्षणप्रदर्शनावसरे **भावप्रकाश**स्याष्टमेऽधिकारे बीजसमुद्भेदोदाहरणत्वेन स्वप्नवासवदत्तादुद्धृत्य पठितं, वासवदत्तागमनसाक्षात्कारेण सम्प्रत्यवधारितो वासवदत्ता जीवतीत्ययमर्थः पूर्वं साक्षात्कृतायाः पद्मावत्या मुखे वासवदत्ताकरकौशलैकनिष्पाद्यस्य तिलकवैचित्र्यस्य दर्शनेन स्वयं मे विदित एवासी'दित्याशयं प्रकाशयत्पद्यं राजकीयवचनत्वेन स्थानेऽस्मिन्नर्थौन्त्यान्निवेशनीय'मिति तैः स्वकीयटीकायां प्रतिपादितम्। पूर्वमधुना च प्रदर्शितयोः 'पादाक्रान्तानि पुष्पाणि' 'पद्मावत्या मुखं वीक्ष्ये'ति पद्ययोरुपलब्धेष्वादर्शपुस्तकेष्वनुपलम्भेन **भासकृतात्**

कह कर रुमण्वान् ने मुझे धोखा दिया ॥ ८ ॥

विदूषकः—(क) अविहा । असम्भावणीअं एदं ण । आ उदअह्लाणसङ्कित्तणेण तत्तहोदिं चिन्तअन्तेण सा सिविणे दिट्ठा भवे ।

(क) अविहा ! असम्भावनीयमेतन्न । आ ! उदकस्नानसङ्कीर्तनेन तत्रभवतीं चिन्तयता सा स्वप्ने दृष्टा भवेत् ।

स्वप्नवासवदत्तादन्यदेव स्यादिदं **'स्वप्नवासवदत्त'**मित्याशङ्कामुपस्थाप्य तैः शास्त्रिवरैः 'उपलब्धेष्वादर्शपुस्तकेषु पद्ययोरनयोः सद्भावस्यानुमातुं शक्यतया **भास**रचितग्रन्थाद् भिन्नत्वकल्पनमेतस्य ग्रन्थस्य नोचितं प्रतीयत' इत्येवं समाहितम् । अस्तु तावत्, नाटकमिदं तदेवान्यद्वेति विषये किमपि नेदानीं वक्तव्यमस्माभिः प्रकाशयिष्यते च विषयेऽस्मिन् ग्रन्थावसाने स्वकीयं वक्तव्यं भूमिकायाम् । इदं तावदत्रावगन्तव्यम्—वासवदत्ताकरकौशलैकनिष्पाद्यं पद्मावत्यास्तिलकमवलोक्य 'जीवत्यावन्तिके'त्यनुमाने कर्तुं सुशकेऽपि 'आवन्तिकेयं वासवदत्तैवे'ति यौगन्धरायणं विहाय न कोऽपि जानाति, वासवदत्तामिदानीं स्वप्नगतां पश्यन् शयनादुत्थितो राजा तत्रैनामुपलभ्य जीवन्तीं विदितवान्, किन्तु 'आवन्तिका'रूपेण ज्ञानं तस्य नासीद्वासवदत्तायाः' । इत्यतो 'जीवत्यावन्तिके'ति पदस्योल्लेखात्तत्प्रयोगस्य च राज्ञो वचनेऽत्यन्तमनुचितत्वाच्छ्लोकोऽयममूल एव केनापि प्रक्षिप्त इति प्रतिभाति । अन्यच्च—पद्यस्यास्य चतुर्थे चरणे पाठान्तराणि स्वयं शास्त्रिमहाभागैः कल्पितान्युपन्यस्तानि । प्राचीनपाठपरिवर्तनपुरःसरं स्वकल्पनानुरूपपाठान्तरकल्पनं पुनर्दुःसाहसमात्रतां प्रदर्शयदनौचितीमेव पुष्णातीत्यम् ।

वासवदत्ताविषयकं राज्ञः शोकानुभावमवलोक्य स्नेहवशात्तत्र शोकमात्मनोऽपि प्रकटयन् विदूषको ब्रूते—**अविहा** इति । अविहेत्यव्ययं शोकसूचकम्, शोकश्च वासवदत्तागमनश्रवणादेव । एतत् वासवदत्तादर्शनम् । 'मित्र ! वासवदत्ता मया दृष्टा, सा मां बोधयित्वा गता' इति यद्भवतोक्तं तत्तावदसम्भावनीयं नास्ति, सम्भवत्येतत् । कथमिति चेत्पूर्वोदन्तस्मरणेन वासवदत्तादर्शनस्य सम्भाव्यतामेवाह—आ इति । आ इति च तद्दर्शनकारणस्मरणाभिनयनम् । सखे ! स्मृतं मया

विदू०—हाय ? यह असंभव नहीं । हाँ (ठीक है), उज्जयिनी के नहाने के स्थानों का वर्णन मैंने किया था, उससे माननीया वासवदत्ता की याद करते हुए आपने उसे स्वप्न में देखा होगा ।

राजा—एवम्, मया स्वप्नो दृष्टः ?

यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम् ।
अथायं विभ्रमो वा स्याद्, विभ्रमो ह्यस्तु मे चिरम् ॥ ९ ॥

वासवदत्तादर्शनोपलब्धेः कारणम्, किन्तु तद्दर्शनं स्वप्नावस्थायां सुसम्भवं न किल जाग्रदवस्थायाम् । 'उज्जयिन्यामुदकस्नानानि परमं रमणीयानि सन्ती'त्येवं मया यद्वर्णितं पुरा कथाख्यानप्रसङ्गे, तदेतदाकर्ण्य भवता श्रीमतीं वासवदत्तां हृदन्तर्ध्यायता सुप्तेन स्वप्नावस्थायां तद्दर्शनं लब्धं स्यात् । स्वप्ने च दृष्टं वस्तुजातं जागर्तौ सत्यां नोपलब्धं भवतीति भवद्बोधने तद्गमनं सम्भवत्येवेति भावः । अथवा—एतत् वासवदत्तागमनं रुमण्वद्वधनं च । असम्भावनीयम् अकल्पनीयम्, नेति काकुः । असम्भावनीयमेवेत्यर्थः । 'दर्शनगोचरतां प्रयाता वासवदत्ता भवन्तं बोधयित्वा गता । अन्यथोक्तवता च पूर्वं रुमण्वता भवान् वञ्चित' इत्येतन्नैव सम्भावनीयम् । एतादृक्कल्पनापि न कर्तुं शक्या । विश्वासपात्रस्य रुमण्वतो मिथ्याभाषणेन भवत्कर्मकं प्रतारणं, तेन वासवदत्तादर्शनं चेति वार्ता न विश्वसनीयेति भावः ।

विदूषकोक्तौ सवितर्कमाह राजा—एवमिति । इत्थमिदम् ? किमहं स्वप्नं दृष्टवान् ? स्वप्नबलेन च मे तद्दर्शनम् ? राज्ञः काकूक्तिरियम् ।

पुनस्तत्रापि तर्कयति राजा—यदीति । यदि चेत् भवद्वचनाभ्युपगमे इति यावत्, तावद्वाक्यालङ्कारे, अयं वासवदत्तादर्शनरूपो विषयः, स्वप्नः स्वप्नरूपो वर्तते, तर्हि अप्रतिबोधनं ततो जागराऽभावः, धन्यं समीचीनं मन्य इति शेषः । स्वप्ने हि वासवदत्तादर्शनादिविषयाणामुपलब्धेस्तदानीं तदानन्दसन्दोहमनुभवतो जाग्रदवस्थायाः स्वप्नावस्थैव मे बहुमतेति भावः । अथवा पक्षान्तरे 'नायं स्वप्नः किन्तर्हि जागर्तिरेवे'ति कल्पनायाम्, अयं वासवदत्तादर्शनरूपो विषयः, विभ्रमो वा, वेति पादपूरणे, मनोभ्रान्तिः, स्याद्भवेदिति सम्भावना । विभ्रमो हि, हिशब्दोऽप्यर्थे, सा मानसी भ्रान्तिरपि, मे मम, चिरं बहुकालं यावत्, अस्तु जायताम् ।

राजा—ऐसा, मैंने स्वप्न देखा ?

यदि यह स्वप्न है तो न जागना ही अच्छा होता । अथवा यह मेरा भ्रम हो, किन्तु वह भी बहुत देर के लिये बना रहे ॥ ९ ॥

विदूषकः—(क) भो ! वअस्स ! तदस्सिं णअरे अवन्तिसुन्दरी णाम जक्खिणी पडिवसदि । सा तुए दिट्ठा भवे ।

राजा—न न,

स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम् ।
चारित्रमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम् ॥ १० ॥

(क) भो ! वयस्य ! एतस्मिन् नगरेऽवन्तिसुन्दरी नाम यक्षी प्रतिवसति । सा त्वया दृष्टा भवेत् ।

वासवदत्तादर्शनमिदं स्वप्नसम्भवं न चेद्, भ्रान्तिमूलकं सम्भवति । प्रबुद्धावस्थायामपि सङ्कल्पबलान्मनस उन्मादवशाद्यत्र कुत्रापि कस्यचिच्चिन्तितार्थभ्रमो भवितुमर्हति । किन्तु सेयं तद्विषया भ्रान्तिरपि मे भूयांसं समयं यावदनुवर्तताम् । तावतैव क्षणं मनोऽनुरञ्जनस्य सम्भवादिति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ९ ॥

स्मृतिगतस्यानुभूतचरस्य वस्तुनो भ्रान्तिस्तत्समानवस्त्वन्तरदर्शनात्सम्भवतीति वस्त्वन्तरदर्शनं राज्ञः संभाव्यमानं विदूषको निर्दिशति—**भो** इति । मित्र ! नाम्नाऽवन्तिसुन्दरी कापि यक्षी पुरमेतदलङ्करोति निजावासेन । अवन्तीनगरे सकललोकातिशायि सौन्दर्यं वहन्तीयं यथार्थनामधेयाऽवन्तिसुन्दरी वासवदत्तामनुकरोत्यात्मनो रूपवेषाभ्याम् । तस्या एव दर्शनमिदानीं भवता लब्धं स्यादित्यहं सम्भावये ।

तन्निषेधन्नाह राजा—**न नेति** । द्वौ नञौ प्रकृतार्थं द्रढयतः । न हि भोः ! अवन्तिसुन्दरी न दृष्टा मया, लोचनगोचरतां गता मे वासवदत्तैव साऽऽसीत् । अत्र निश्चयो मे ।

तथाहि—**स्वप्नस्यान्ते** इति । स्वप्नस्यान्ते स्वप्नावस्थायां निवृत्तायां, विबुद्धेन जाग्रदवस्थायां स्थितेन, मयेति शेषः, चारित्रमपि, चरित्रमेव चारित्रमिति स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः, अपिशब्देन जीवितमाक्षिप्यते, जीवितेन सह पतिव्रतानुरूपं

विदू०—हे मित्र ! इस राजकुल में एक अवति-सुन्दरी नाम की यक्षिणी (चुड़ैल) रहती है । वह आप से देखी गई होगी ।

राजा—नहीं, नहीं ।

नींद के टूटने पर जागते हुए मैंने (प्रोपितभर्तृका स्त्री के योग्य) चरित्र की रक्षा करने वाली उस वासवदत्ता के विना काजलकी आँखवाले तथा लम्बे छूटे हुए बाल वाले मुख को देखा ॥१०॥

अपि च—वयस्य ! पश्य पश्य,

योऽयं सन्त्रस्तया देव्या तया बाहुर्निपीडितः ।
स्वप्नेऽप्युत्पन्नसंस्पर्शो रोमहर्षं न मुञ्चति ॥ ११ ॥

शीलमपीत्यर्थः, रक्षन्त्याः पालयन्त्याः, वासवदत्ताया इति विशेष्यं प्रकरणानुरोधाद्गम्यम्, नेत्रविप्रोषिताञ्जनम्, नेत्राभ्यां विप्रोषितं प्रवासं गतं दूरीभूतमिति यावत् अञ्जनं कज्जलं यत्र तादृशम्, दीर्घालकम्, दीर्घा लम्बमाना अलकाश्चूर्णकुन्तला यत्र तथाभूतं च, मुखं वदनं, दृष्टं साक्षात्कृतम् । निद्रावसाने यदाहं प्रबुद्धोऽभवं तदा वासवदत्तामुखं दृष्टवान् । नेत्रे तस्या अञ्जनशून्ये अलकाश्च केशानां यथावदसंयतत्वेन परितः प्रसर्पन्तो लम्बमाना आसन् । सा किल मद्वियोगेऽस्मिन्न केवलं कष्टमयं जीवितम्, अपि तु तेन समं सतीजनोचितमाचारमप्यथयावत्समीचीनं रक्षतीत्येतन्मया प्रत्यक्षमनुभूतम् । अतो हि विशिष्य तन्मुखदर्शनेन प्रत्यभिज्ञाबलात्सेयं वासवदत्तैवेति दृढं निश्चिनोमीत्यर्थः । प्रोषितभर्तृकाभिर्नेत्रयोरञ्जनसम्बन्धो वेणीबन्धश्च सर्वथा परिहरणीय इत्यत्र प्रकल्पितेन 'नेत्रविप्रोषिताञ्जनं दीर्घालक'मित्यनेन मुखस्य विशेषणद्वयेन विरहव्यथावैकल्येऽपि वासवदत्तायाः सतीजनाचारपरिपालनव्रतमक्षुण्णमनुस्यूतमेवास्तीति गम्यते । तच्च 'चारित्रमपि रक्षन्त्या' इति विशेषणवचनेन कविना भृशं व्यक्ततां नीतम् । अनुष्टुप् छन्दः ॥ १० ॥

उक्तार्थसाधनाय स्वशरीरसमुद्भूतं चिह्नं च किञ्चिद्दिदर्शयिषू राजा तदुचितां वाचमवतारयति—**अपि चेति** । 'पश्य पश्ये'ति द्विरुक्तिर्वक्ष्यमाणस्य सम्यङ्निरूपणीयतां सूचयति । वक्ष्यमाणोऽर्थः कर्म । मित्र ! वासवदत्तासाक्षात्कारैकलक्षणं मया वक्ष्यमाणमिदमन्यदपि लक्षणं समीचीनतयाऽवधारयेत्यर्थः ।

तथाहि—**योऽयमिति** । सन्त्रस्तया मत्प्रबोधसम्भावनाभीतया, तया देव्या वासवदत्तया, अयं पुरो दृश्यमानो, यो बाहुर्मम भुजो, निपीडितः स्वकरेण गृहीतः, स्वप्ने स्वप्नावस्थायामपि, उत्पन्नसंस्पर्शः, उत्पन्नः सञ्जातः संस्पर्शो दयिताकरसम्पर्को यत्र तादृशः, स बाहुरिति शेषः, रोमहर्षं रोमाञ्चं, न मुञ्चति अद्यापि न त्यजति ।

और भी मित्र ! देखो, देखोः—

(कहीं ये जाग न जाँए इस विचारसे) डरती हुई उस देवी ने यह जो मेरा हाथ पकड़ा, वह निद्रावस्था में भी स्पर्श हो जाने से अपने में उत्पन्न रोमाञ्च को अभी तक नहीं छोड़ता है, अर्थात् अभी तक वह हाथ रोमांचित ही है ॥ ११ ॥

विदूषकः—(क) मा दाणिं भवं अणत्थं चिन्तिअ। एदु एदु भवं। चउस्सालं पविसामो।

[प्रविश्य]

(क)मेदानीं भवाननर्थं चिन्तयित्वा। एत्वेतु भवान्। चतुःशालं प्रविशामः।

अयं भावः—अत्रागत्य चिरकालस्पृहणीयोपलब्धमदीयदर्शनसम्भवानन्दसन्दोहसंरम्भवशान्मद्भुजपरिरम्भणं कर्तुकामा प्रिया मे वासवदत्ता प्रणयेन मदीयं भुजं गृहीतवती। स्वप्नगतेनापि तत्पाणिपङ्कजस्पर्शेन भुजो मे रोमाञ्चितोऽभूदयम्। अयमसौ सात्विकभावः प्रियतमापाणिपङ्केरुहस्पर्शमन्तरेण न सम्भवतीति वासवदत्तादर्शनोपलब्धिपक्षोऽयं दृढं सिद्ध एव। कमपि नात्रावकाशं लभतेऽवन्तिसुन्दरीसम्बन्ध इति। छन्दोऽनुष्टुप्॥ ११॥

प्रियतमास्मरणमुग्धमानसमवधार्य सुहृदं राजानं तदनुचिन्तनविषयान्निवर्तयितुकामो विदूषकस्तदुचितं वचनमाह—मेति। अनर्थम् असम्भवनीयमर्थम्। 'एदु एदु' इति वीप्सा चतुःशालगमनत्वरासूचिका। चतुःशालं च—चतसृभिः शालाभिः परस्पराभिमुखीनाभिर्भूषितं गृहम्। 'प्रविशाम' इति तु 'अस्मदो द्वयोश्चे'ति बहुत्वम्, विध्यर्थे च वर्तमानप्रयोगोऽयम्। वासवदत्तोपलब्धेत्येतदसम्भावनीयं न नाम चिन्तनीयं भवता। अलमतीतमर्थान्तरमफलं दुःखकरं चिन्तयित्वा। सत्वरमागम्यताम्, चतुःशालमुद्दिश्य साम्प्रतं प्रस्थानमावाभ्यां क्रियतामित्यर्थः। अत्रावस्थितौ सत्यामनुभूतविषयस्मरणाद्विरतिश्चेतसो नियतं राज्ञो दुष्करेति स्थाने खलु ततः स्थानात्प्रस्थानप्रस्तावोऽयं विदूषकस्य। अत्र माङ्योगे 'चिन्तयित्वे'ति त्वाप्रत्ययश्चिन्त्यः। केचिदलङ्खल्वोरुपलक्षणार्थकत्वकल्पनया माङोऽपि योगे कथञ्चित्साधयन्तीमम्।

इत्थमयं वासवदत्ताविषयको वत्सराजकल्पितः स्वाप्नो विषयः सरसं निरूपितः। अधुना च सपत्नापहृतराज्यप्रत्याहरणलक्षणप्रधानकार्यसम्पादनौपयिकं महाराजदर्शकसूचनानुरूपं सपत्नारुणिकर्मकाक्रमणं नाम करणीयं कार्यं लब्धावसरमावेदयितुं नृपतेरुदयनस्य समीपे दर्शकभूपतिप्रेरितस्य काञ्चुकीयस्य प्रवेशमुचितं दर्शयति कविः—प्रविश्येति।

विदू०—अब व्यर्थ यह न सोचिये। आइये आप आइये। चौसाल में चलें।

(प्रवेश कर)

काञ्चुकीयः—जयत्वार्यपुत्रः। अस्माकं महाराजो दर्शको भवन्तमाह—एष खलु भवतोऽमात्यो रुमण्वान् महता बलसमुदायेनोपयातः खल्वारुणिमभिघातयितुम्। तथा हस्त्यश्वरथपदातीनि मामकानि विजयाङ्गानि सन्नद्धानि। तदुत्तिष्ठतु भवान्। अपि च—

जयत्विति। वचनं चेदं राजानमुपजग्मुषो राजविजयाभिलाषिणः काञ्चुकीयस्य समुदाचारानुरूपम्। आर्यपुत्रः श्रीमान्, जयतु सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। विजयतां तत्रभवान् वत्सराज इत्यर्थः। 'आर्यस्य पुत्र' इति षष्ठीतत्पुरुषाश्रयणेन संसाधितमत्रार्यपुत्रपदम् 'आर्यस्य पुत्रोऽप्यार्य एव भवती'ति तात्पर्यं कलयतः काञ्चुकीयस्य वचनेऽस्मिन् राज्ञः श्रेष्ठतां द्योतयितुं प्रयुक्तम्। 'आर्यश्चासौ पुत्रश्चे'ति कर्मधारयो वाश्रयणीयः। अयमप्यर्थो राज्ञः शुभाशंसनं कुर्वतो वृद्धस्य काञ्चुकीयस्य वचने युज्यत एव। इत्थमाचारमुचितं प्रदर्श्य साम्प्रतं प्रस्तुतार्थमुपक्षिपन् ब्रूते काञ्चुकीयः—**अस्माकमिति**। अत्र षष्ठयन्तोऽस्मत्पदप्रयोगः काञ्चुकीयस्य स्वामिविषयं भक्तिभावं गौरवं चात्यधिकं प्रकाशयति। खलुपदद्वयं वाक्यालङ्कारे। बलसमुदायेन सैन्यसमूहेन, सहेति शेषः, उपयात उपस्थितः, अभिघातयितुं नाशयितुम्, हन्तेर्णिजन्तात्तुमुनि 'हनस्तोऽचिण्णलो'रिति तकारान्तादेशे 'हो हन्ते'रिति कुत्वे च रूपमिदम्। अत्र तावदुदयनो हन्तेः स्वतन्त्रः कर्ता प्रयोजकश्च रुमण्वान् बोध्यः। हस्त्यश्वरथपदातीनि, हस्तिनोऽश्वा रथाः पदातयश्च येषु सन्ति तादृशानि, मामकानि मत्सम्बन्धीनि, ममेत्यर्थेऽस्मच्छब्दात्पाक्षिकेऽण्प्रत्यये 'तवकममकावेकवचने' इत्यनेनास्मदो ममकादेशः, महाराजदर्शकस्वामिकानीत्यर्थः, विजयाङ्गानि विजयसाधनानि, सैन्यानीति शेषः, सन्नद्धानि सज्जानि सन्ति। तदिति हेत्वर्थकमव्ययम्, उत्तिष्ठतु विजययात्रार्थमुद्यतो भवतु। अयमर्थः—अस्मन्महाराजदर्शकमहोदयाः श्रीमन्तं निवेदयन्ति, यत्किल श्रीमन्त्रिणा रुमण्वता परिपन्थिनमारुणिं भवता प्रमाथयितुमिच्छता महान्तं सैनासमूहमात्मना सममादाय सम्प्रत्यत्रोपस्थितम्। हस्त्यश्वरथपादातं च मे सेनाङ्गचतुष्टयं जयैकसाधनं सर्वतः सज्जीभूतं श्रीमदागमनं प्रतीक्षते। अतः श्रीमतापि

कंचुकी—महाराज की जय हो। हमारे महाराज दर्शक ने आपसे कहा है कि—यह आपका मन्त्री रुमण्वान् बड़ी सेना के साथ आरुणि का आपके द्वारा समूल नाश करने के लिये आ पहुँचा है। तथा मेरी विजय-सहायक हाथी, घोड़े, रथ और पैदल आदि सेनाएं भी तयार हैं। तो आप उठिये। और भी—

भिन्नास्ते रिपवो, भवद्गुणरताः पौराः समाश्वासिताः
पार्ष्णी यापि भवत्प्रयाणसमये तस्या विधानं कृतम् ।
यद्यत् साध्यमरिप्रमाथजननं तत्तन्मयानुष्ठितं
तीर्णा चापि बलैर्नदी त्रिपथगा, वत्साश्च हस्ते तव ॥१२॥

सोत्साहं विपक्षमारुणिमभियातुमुद्यतेन भूयताम् । निश्चिन्तोपवेशनस्य नायं समयः, उत्थानावसर एष श्रीमतः समुपस्थितोऽस्तीति भावः । आक्रमणकार्योचितानि संविधानकान्यपि यथोचितमारचितानीत्यपि सूचयन्नाह—**अपि चेत्यादि** ।

भिन्नास्ते इति । ते मिथः संहता अपीति यावत्, रिपवः शत्रवः, भिन्नाः भेदं प्रापिताः परस्परं विरोधप्रोद्भावनेन पृथक्कृताः । भवद्गुणरताः भवदीयेषु दया-दाक्षिण्यादिगुणेष्वनुरागं वहन्तः, पौराः पुरे भवा नागरिकाः प्रजा इति यावत्, 'तत्र भव' इत्यण् प्रत्ययः, समाश्वासिताः 'विजयलक्ष्म्याऽलङ्कृतः श्रीमान् वत्सराजोऽचिरादेव लब्धराज्यो भवतः पालयिष्यती'ति समाश्वासनदानेन सम्यक्सम्भाविताः । अपि तथा, या पार्ष्णी यत्सैन्यपृष्ठं, भवत्प्रयाणसमये भवदीयसमरविजययात्रावसरे, रक्षणीयतयोपयुज्यत इति शेषः, तस्या विधानं कृतं तद्रचना साधु सम्पादिता । सैन्यपृष्ठं यथा रक्षितं स्यात्तथा तदुचित उपायः कल्पित इत्यर्थः । 'पार्ष्णिः स्यादुन्मदः स्त्रियाम्, स्त्रियां द्वयोः सैन्यपृष्ठे' इति मेदिनीकोषप्रामाण्यात् पार्ष्णिशब्दः स्त्रीलिङ्गः, 'कृदिकारादक्तिन' इति ङीषि पार्ष्णीशब्दोऽपि सिध्यति । अरिप्रमाथजननं शत्रुविध्वंसकं, यद्यत्कार्यं, साध्यं साधनीयमासीत्, तत्तत्सर्वं मया दर्शकेनेति यावत्, अनुष्ठितं संसाधितम् । त्रिपथगा त्रयाणां स्वर्गमृत्युपातालात्मनां पथां मार्गाणां समाहारस्त्रिपथमिति द्विगुः, तेन गच्छति सेत्युपपदसमासः, नदी गङ्गा नाम पुण्या सरित्, बलैः सैन्यैः, तीर्णा तरणविषयं नीता । एवंविधाखिलसाधनसम्पादनवशाद्भाविनीं कार्यसिद्धिं प्राप्तकालां सूचयति—**वत्साश्चेति** । वत्साः वत्स-

---

आप के शत्रुओं में फूट कर दी गई अर्थात् उनमें भेद डाला गया, आपके गुणों में लग्न नागरिकों को पूरा धीरज दिया गया। चढ़ाई करते समय आपकी सेना के पृष्ठभाग के रक्षण की व्यवस्था भी अच्छी की गई है। शत्रुओं का नाश करने के लिये जो जो करना चाहिए वह सब मैंने ठीक कर लिया है। सेना ने गंगा नदी भी पार कर ली। अब वत्सदेश भी (जो शत्रु के अधीन हो गया था) आप अपने हाथ में आ गया समझिये ॥ १२ ॥

राजा—[उत्थाय] बाढम् । अयमिदानीम् ,
उपेत्य नागेन्द्रतुरङ्गतीर्णे तमारुणिं दारुणकर्मदक्षम् ।
विकीर्णबाणोग्रतरङ्गभङ्गे महार्णवाभे युधि नाशयामि ॥ १३ ॥

देशाश्च, 'जनपदवाचिनः शब्दा भूम्नि प्रयुज्यन्त' इति सङ्केतानुसारं वहुत्वमिदम् , तव भवतः, हस्ते करगतास्त्वदधीनाः सन्तीति सम्भावनीयम् । शत्रूणां परस्परं भेदः, शात्रवाधीनतां प्राप्तवतां पूर्वानुभूतभवद्गुणगणानुरागशालिनां पौराणां 'सत्वरं कष्टान्मुक्तिर्भविष्यती'ति वचनेन सम्यगाश्वासनं, समरप्रयाणसमयोचितः सैन्यदृष्टरक्षोपायश्चेति सर्वं सम्पादितम् । किं वहुना—शत्रुविध्वंसनोचितं सकलमपि संविधानकमारचितम् । सेनापि गङ्गाया उत्तरतीरं गता सती सन्नद्धाऽवतिष्ठते । सति चैवंविधे व्यतिकरे पुनर्वत्सदेशसाम्राज्यशासनरज्जुरचिरादेव भवत्करगता स्यादित्येतन्निश्चितमवगम्यतामित्यर्थः । यथोचितकल्पितोपकरणैः सम्पादितमिदं सर्वं भवत्करिष्यमाणसपत्नाभिगमनोचितकार्यानुकूल्यं मन्मुखेन श्रीमहाराजदर्शको भवन्तं निवेदयन् समरायोत्थापयितुमाकाङ्क्षतीत्यविलम्वेन भवतापि तत्प्रयाणायोद्यमः सम्यगवलम्वनीय इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं नाम वृत्तम् ॥ १२ ॥

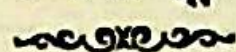
समयोचितसमरसन्नाहसूचकं काञ्चुकीयवचनं निशम्य राजा शौर्यभावोद्भेदभावितं समरोत्साहमभिनयन्ब्रूते—**उत्थायेत्यादि** । वाढं साधु । समीचीना व्यवस्थेयं कृता । भवत्स्वामिनो निदेशमनुसृत्य समुपस्थितेऽस्मिन् महति सङ्ग्रामसंरम्भे स्वकर्तव्यं सम्पादयितुमहमप्युद्यतोऽस्मीत्यर्थः । 'अयमिदानी'मिति वक्ष्यमाणश्लोकान्वयि ।

उपेत्येति । इदानीं समयेऽस्मिन् , सिद्धेषु युद्धोचितसाधनेषु, अयमहम् , उपेत्याभिगम्य शत्रुमाक्रम्येति यावत् , नागेन्द्रतुरङ्गतीर्णे, नागेन्द्रैर्गजश्रेष्ठैरश्वैश्च तीर्णे तरणक्रीडाविषयीकृते, विकीर्णवाणोग्रतरङ्गभङ्गे, विकीर्णा व्याप्ताः वाणाः शराः उग्रा भीषणास्तरङ्गभङ्गा ऊर्मीणां लहर्य इव यस्मिंस्तादृशे, अत एव महार्णवाभे महार्णवस्य आभेवाभा यस्य तथाभूते महासमुद्रसदृशे, युधि युद्धे, दारुणकर्मदक्षम् , दारुणेषु कष्टकरेषु कर्मसु दक्षं निपुणं, तं प्रसिद्धं राज्यापहारिणम् ,

राजा—(उठ कर) ठीक । अभी यह मैं—
जाकर उस घोर-कर्म में चतुर आरुणि को हाथी और घोड़ों से पार किये गये और चलाये हुए बाणरूपी भयानक-तरंग वाले महोदधि-तुल्य युद्ध में मारता हूँ ॥ १३ ॥

[निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

पञ्चमोऽङ्कः



अथ षष्ठोऽङ्कः ।

आरुणिं तन्नामकं शत्रुं, नाशयामि उन्मूलयामि नामशेषं करोमीत्यर्थः । एषोऽहं चतुरङ्गसेनया शत्रुमाक्रामन् गजवाजिसञ्चारसङ्कुले बाणजालाच्छन्ने रणाङ्गणे दुष्टमात्मनः शत्रुं निपात्य समूलं विध्वंसयाम्यधुना । कोऽयं मत्पुरो वराकः स्थातुं समर्थः ? अचिरादेव निष्कण्टकं प्रियतमासहचरोऽनुभूतचरं राज्यसुखं निर्वेक्ष्यामि चिरं यथारुचीति भावः । स्त्रियामित्यधिकारे युधधातोः सम्पदादित्वात्क्विपि स्त्रीवाची युधशब्दः सिध्यति । कोषोऽपि 'समित्याजिसमिद्युधः' इति स्त्रीवाचकशब्दसाहचर्येण शब्दस्यैतस्य स्त्रीरूपमेव लिङ्गं ग्राहयति । अत्र तु महार्णवाभे इति विशेषणा-नुगुण्येन पुंसि प्रयुक्तः शब्दोऽयं प्राचां महाकवीनां क्वचित्प्रयोगविषये सर्वतन्त्रा-परतन्त्रतां सूचयन्निरङ्कुशतामाविष्करोति । अत्र किल युद्धं समुद्रेणोपमातुं तदुचितं बाणांस्तरङ्गैर्गजतुरङ्गमांश्च तरणशीलैः प्राणिभिः सादृश्यं प्रापितवान् कविः । उपेन्द्रवज्राभिधं वृत्तमिदम्, 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' इति च तल्लक्षणम् ॥ १२ ॥

युद्धोपक्रमं नाम भविष्यत्कार्यं संसूच्य तदनुरूपं प्रसङ्गान्तरमवतारयितुं ततः सर्वेषां निष्क्रमणं दर्शयति—**निष्क्रान्ता** इति ।

पञ्चमोऽङ्क इति । पञ्चमाङ्कस्य समाप्तिं सूचयत्येतत् ।

इति श्रीस्वप्नवासवदत्तव्याख्यायां प्रबोधिन्यां पञ्चमोऽङ्कः ।

पञ्चमाङ्कसमाप्त्यनन्तरं क्रमप्राप्तः षष्ठाङ्कारम्भस्तावदिदानीमभिधीयते—**अथ षष्ठोऽङ्क** इत्यनेन ।

पद्मावतीशिरोवेदनाजनिताऽस्वस्थताधिगमान्नवोढपद्मावतीशयनसदनोपस्थितेन स्वप्नावसानसमयसमुपागतस्मरणीयप्रियतमवासवदत्ताऽभिलषणीयदर्शनसौभाग्यसम्ब-न्धं विदूषकाऽनङ्गीकृतमनुभवता श्रीमता वत्सराजेन महाराजदर्शकनिदेशवशं-वदेन सोत्साहं परिपन्थिनमारुणिं प्रत्यभियानाय सन्नद्धमित्येतत्पञ्चमाङ्कसमाप्तौ प्रतिपादितम् । चरमे च षष्ठेऽङ्के–'घोषवतीं नाम वीणां वासवदत्तीयां केनापि

(सब चले जाते हैं ।)

पाँचवां अंक समाप्त ।

[ततः प्रविशति काञ्चुकीयः ।]

काञ्चुकीयः—क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते ?

वादितां श्रुतवतो वत्सराजस्य तत्प्राप्तिस्तयैव समं प्रियाऽनवाप्तिमूलको मानसः शोकाविर्भावः, तत्रैव तत्समीपे महासेनभूपतिना देव्या च महाराज्ञ्या प्रेषितयोर्नूतनराज्यलाभविजयाभिनन्दनाय कुशलवृत्तान्तावगतये च दूतयोरुपस्थितिः, वत्सराजस्य स्वसमीपे पद्मावत्युपस्थानम्, महाराज्ञीप्रेरितदूतीकर्तृकं वत्सराजाय वासवदत्ताचित्रपटसंमर्पणम्, चित्रदर्शनेन तदाकारसंवादात्पद्मावत्याः स्वान्तिकन्यस्तायामावन्तिकायां वासवदत्तात्वशङ्का, पद्मावत्याः सन्निधौ पूर्वं न्यासरूपेण स्थापितां वासवदत्तां ग्रहीतुं यौगन्धरायणस्य तत्रागमनम्, स्वसमीपोपनीतावन्तिकावलोकनेन राज्ञोऽपि तत्र महासेनपुत्रीत्वसम्भावना, अपनीतकपटवेषयौगन्धरायणस्वरूपपरिचयो, रहस्योद्भेदपुरःसरं यौगन्धरायणेन कृतं वासवदत्तावियोजनरूपस्वापराधक्षमाप्रार्थनं महासेनमहाराजसमीपे सर्वेषां प्रस्थानप्रस्तावश्चे'ति विषयाः सकौशलं प्रदर्शिताः ।

तत्र तावद् भूपतेरुदयनस्य पुनर्वत्सराज्यलाभं, घोषवतीवीणोपलब्ध्या वासवदत्तास्मरणेन विमनायमानमानसमुदयनं भूपतिमुद्दिश्य, महाराजमहासेनसन्देशवचनं च काञ्चुकीयप्रतीहारीभ्यां मध्यमनीचपात्राभ्यां मिश्रविष्कम्भकेण सूचयितुं तदुचितमादौ काञ्चुकीयस्य प्रवेशं दर्शयति—ततः प्रविशतीत्यादिना ।

महाराजमहासेननृपतेः सन्देशहरोऽयं काञ्चुकीयः सन्देशवाचं तां निवेदयितुमिच्छन् राजद्वारान्तिकमागतो 'वत्सराजस्य भूपतेर्द्वारपालत्वेन क इहोपस्थितोऽस्ति, येन मे सन्देशस्तं प्रति प्राप्येते'ति तात्पर्योचितं तथाऽनुयुङ्क्ते—क इहेति । तत्रत्यं जनमुद्दिश्य 'भोः' इति सम्बोधितमत्र । काञ्चनतोरणद्वारम्, काञ्चनं सुवर्णमयं च तत्तोरणद्वारं बहिर्द्वारं तत् । अत्र 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरेण तोरशब्दादेव बहिर्द्वाररूपेऽर्थेऽवगते पुनर्द्वारशब्दोपादानात्तोरणशब्दस्य 'बहि'रित्येवार्थः करणीयः, अथवा द्वारपदप्रयोगः स्पष्टार्थप्रतिपत्तये । अशून्यं सनाथम् । 'कः पुनरत्र राजभवनस्य द्वारभूमौ स्थितः सन् स्वीयं कार्यं कुर्वन्नवरतं जागर्ती'ति प्रश्नाभिप्रायः ।

(तब कंचुकी का प्रवेश ।)

कंचुकी—ऐ ! यहाँ कौन है ? सुवर्ण के बने हुए बाहर के द्वार को कौन सनाथ करता है ?

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—(क) अय्य ! अह विजआ । किं करीअदु ?

काञ्चुकीयः—भवति ? निवेद्यतां निवेद्यतां वत्सराज्यलाभ-प्रवृद्धोदयायोदयनाय—एष खलु महासेनस्य सकाशाद् रैभ्यसगोत्रः काञ्चु-

(क) आर्य ! अहं विजया । किं क्रियताम् ?

प्रश्नसमकालमेव समुचितप्रवेशां प्रतीहारीमुपस्थापयति—**प्रविश्येति** । प्रतीहारत्वजातिविशिष्टा स्त्री प्रतीहारी, गौरादित्वान्ङीष् , द्वारपालिकेति यावत् । रङ्गस्थले समुपस्थाय ब्रूत इत्यर्थः ।

तदेव तद्वचनमाह—**अय्येति** । अयि ! मान्य ! एषाहमत्रास्मि विजयानाम्नी समुपस्थिता । किं करणीयमस्ति मया ? मत्कार्यं कार्यमादिश्यतां भवतेत्यर्थः ।

ततः स्वीयमागमनं निवेदनीयं सूचयन्नाह काञ्चुकीयः—**भवतीति** । निवेद्यतामिति क्रियापदद्विरुक्तिर्निवेदनस्य सत्वरं करणीयतामभिधत्ते । वत्सराज्यलाभप्रवृद्धोदयाय, वत्सारज्यस्य लाभः पुनः प्राप्तिः तेन प्रवृद्धो वृद्धिं गत उदयः समुन्नतिर्यस्य तथाभूताय । अयि ! श्रीमति ! सपत्नापहृतस्वीयराज्यप्राप्तिरूपप्राज्यमहोत्कर्षलक्ष्मीशालिने श्रीमते राज्ञ उदयनाय सत्वरमिदं निवेदनीयमित्यर्थः । अत्रेदमवगन्तव्यम्—पञ्चमाङ्कसमाप्तौ खलु श्रीमतौ नरपतेरुदयनस्य सपत्नाभिगमनोचितः समरसमारम्भोत्साहो दर्शितः । तदनुसारं च युद्धं विधाय बलेन शत्रुं जित्वा परहस्तगतं निजं राज्यं पुनः स्वहस्तगतमकरोद्वत्सराजः । युद्धं हि रसभङ्गभिया न तावद्वर्णनीयं भवति नाटकेषु । 'दूराह्वानं वधं युद्धं........प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्' इत्यादिना **दशरूपके** निषिद्धं च तत् कयापि विधया सूचनीयम् । अत्र तु युद्धं विना राज्ञो वत्सराज्यप्राप्तिर्न सम्भवतीति राज्यप्राप्तिरूपेण कार्येण तत्कारणीभूतं भूतकालिकं युद्धं कल्प्यते । तच्चात्र कविना प्रकृतरसविच्छेदभीरुणा फलेन परिचायितं न किल केनापि पात्रेण सूचितम् , वत्सराज्यलाभप्रवृद्धोदयायेत्युदयनविशेषणेन चैतदभिव्यक्ततां नीतमिति । राज्ञो निवेदनीयं विषयमाह—**एष** इति । एष

(प्रवेश कर)

प्रतीहारी—आर्य ! मैं विजया (उपस्थित) हूँ । मुझे क्या करना होगा ?

कंचुकी—श्रीमती जी ! वत्सदेश के राज्य की प्राप्ति से विशेष उदय पाने वाले महाराज उदयन से शीघ्र जाकर कहिए महासेन के पास से आया हुआ रैभ्य-गोत्र अथवा इस नाम

कीयः प्राप्तः, तत्रभवत्या चाङ्गारवत्या प्रेषितार्या वसुन्धरा नाम वासवदत्ताधात्री च, प्रतीहारमुपस्थिताविति ।

प्रतीहारी—(क) अय्य ! अदेसकालो पडिहारस्स ।

काञ्चुकीयः—कथमदेशकालो नाम ?

(क) आर्य ! अदेशकालः प्रतीहारस्य ।

इत्यात्मनो निर्देशः, खलु पदं वाक्यालङ्कारे, महासेनस्य तदाख्यस्य राज्ञः वासवदत्तायाः पितुरिति यावत्, सकाशात् तदाज्ञयेत्यर्थः, प्राप्तः समागतः, रैभ्यसगोत्रः, रैभ्यगोत्रोत्पन्न इत्यर्थः, 'सकारेण तु वक्तव्यं गोत्रं सर्वत्र धीमता । सकारः कुतुपो ज्ञेयस्तस्माद्यत्नेन तं वदेत्' इति धर्मशास्त्रानुशासनाद्गोत्रनाम्नः परं 'स'शब्दः प्रयुज्यते । रैभ्येण समानं तदानुपूर्वीकं गोत्रं नाम यस्य तादृशः, तन्नामधेय इति वाऽर्थः । अङ्गारवत्या प्रद्योतनृपतेः पत्न्या, प्रतीहारं द्वारम्, 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः उपस्थितौ, एताविति शेषः । श्रीमन्महासेनमहीपतेराज्ञया समागतो रैभ्यनामा काञ्चुकीयोऽहम् अङ्गारवत्या श्रीमत्या प्रद्योतनृपतेः पत्न्या प्रेरिता वसुन्धराख्या वासदत्ताया उपमाता चेत्येतावुभौ वत्सराजस्य विजयावसरे कमपि स्वामिनः सन्देशं कथयितुमुपस्थितौ द्वारि तिष्ठतः । इत्येव तावन्निवेदनीयमित्यर्थः ।

काञ्चुकीयोक्तं राज्ञे निवेदनीयं सन्देशमाकर्ण्य तन्निवेदनस्याऽनवसरं सूचयति प्रतीहारी—अय्येति । प्रतीहारस्य द्वारपालस्य, तद्गमनयोग्य इति यावत् 'प्रतीहारो द्वारपालः' इत्यमरः, अदेशकालः, देशसहितः कालो देशकालः न देशकाल इति अदेशकालः, मध्यमपदलोपी समासो नञ्समासश्च । राज्ञो निवेदनार्थमयं द्वारपालोपस्थितियोग्यो देशः कालश्च नास्तीत्यर्थः । इदानीं यस्मिन् स्थले राजा तिष्ठति यथा वाऽवसरः, तत्र द्वारपालगमनयोग्यता नास्तीति भावः ।

अवसरोऽयमस्मत्सूचितसन्देशप्रापणाऽननुकूलः कथमिति जिज्ञासमानो वचनमाह काञ्चुकीयः—**कथमित्यादि** ।

का, एक कंचुकी और माननीय अङ्गारवती से भेजी गई आर्या वसुन्धरा–नाम की वासवदत्ता की धाई ये दोनों द्वार पर उपस्थित हैं ।

प्रतीहारी—आर्य ! ड्योढ़ीदार को (कहने का) यह देश (स्थल) और अवसर नहीं है ।

कंचुकी—देश और अवसर नहीं, यह कैसे ?

प्रतीहारी—(क) सुणादु अय्यो। अज्ज भट्टिणो सुय्यामुहप्पासादगदेण केण वि वीणा वादिदा। तं च सुणिअ भट्टिणा भणिअं घोसवदीए सद्दो विअ सुणीअदि त्ति।

(क) शृणोत्वार्यः। अद्य भर्तुः सूर्यामुखप्रासादगतेन केनापि वीणा वादिता। तां च श्रुत्वा भर्त्रा भणितम्—घोषवत्याः शब्द इव श्रूयत इति।

तदुत्तरं सोपपत्तिकं वक्तुमुपक्रमते प्रतीहारी—सुणादु इति। श्रोतव्यं श्रीमतेति श्रवणेऽवधानदानप्रार्थनमिदम्। अज्जेति। भर्तुः वत्सराजस्य, सूर्यामुखप्रासादगतेन, सूर्याया नवपरिणीतायाः पद्मावत्याः मुखं मुखभूतः प्रधानरूपो यः प्रासादो राजभवनं तं गतेन, 'प्रासादो देवभूभुजाम्' इत्यमरः। भागवतदशमस्कन्धीयप्रथमाध्याये 'देवक्या सूर्यया सार्धम्' इति पद्यव्याख्यावसरे श्रीधरः सूर्याशब्दस्य नवोढेति व्याख्यातवानर्थम्। यद्वा एकाग्निकाण्डभाष्ये 'सूर्यां यः प्रत्यक्षं विद्यात्' इत्यादिमन्त्रव्याख्याने 'सूर्या नाम विवाहदेवता' इति प्राह हरदत्तमिश्रः, तेन च सूर्या विवाहदेवता मुखे अग्रभागे यस्य तादृशं प्रासादं गतेनेत्यर्थः। वस्तुतस्तु—'सूर्यामुख' इत्येवमव्युत्पन्नं प्रासादस्य नामेदं प्रतिभाति, न तत्र व्युत्पत्त्यन्वेषणमावश्यकम्। केनापि अनिर्दिष्टनाम्ना। तां वीणाम्, श्रवणतात्पर्यानुपपत्त्या वीणाशब्दो वीणाध्वनिं लक्षयति, भर्त्रा वत्सराजेन, घोषवत्याः तदाख्याया वीणायाः इव तत्समान इति यावत्। वासवदत्ताप्रियतमाया घोषवत्याख्यवीणायाः स्वरेण परिचयो राज्ञः सुचिरमासीत्, अद्य किल राजा राजभवनान्निर्गतं कमपि वीणाध्वनिं श्रुत्वा तत्स्वरश्रवणसमकालमेव 'केनेदं घोषवतीस्वरसदृशं श्राव्यत' इति सकौतुकं मानसमुक्तवानित्यर्थः। वसुनेमिदत्तामिमां सुस्वरां घोषवतीमुपलभ्य तद्वादनकौशलेन राजा गजहृदयं वशीचकारेति कथासरित्सागरे प्रसिद्धम्।

प्रतीहारी—आर्य! सुनिये। आज महाराज के सूर्यामुख-प्रासाद में जाकर किसी ने वीणा बजाई। उसे सुनकर महाराज ने कहा-कि घोषवती (वासवदत्ता की वीणा) का-सा शब्द सुनाई पड़ता है।

काञ्चुकीयः—ततस्ततः ?

प्रतीहारी—(क) तदो तहिं गच्छिअ पुच्छिदो—कुदो इमाए वीणाए आगमो त्ति। तेण भणिअं—अह्मेहिं णम्मदातीरे कुच्चगुम्मलग्गा दिट्ठा। जइ प्पओअणं इमाए, उवणीअदु भट्टिणो त्ति। तं च उवणीदं

(क) ततस्तत्र गत्वा पृष्टः-कुतोऽस्या वीणाया आगम इति। तेन भणितम्—अस्माभिर्नर्मदातीरे कूर्चगुल्मलग्ना दृष्टा। यदि प्रयोजनमनया, उपनीयतां भर्त्रे इति। तां चोपनीतामङ्के कृत्वा मोहं गतो भर्ता। ततो

तदनन्तरं किं संवृत्तमिति काञ्चुकीयः पृच्छति प्रतीहारीम्—**ततस्तत** इति। द्विरुक्तिरियं तदुत्तरकालिकवृत्तान्तश्रवणे कौतूहलं व्यनक्ति काञ्चुकीयस्य।

काञ्चुकीयप्रश्नानुरूपमुत्तरयति प्रतीहारी—**तदो** इति। अत्र भट्टिणा (भर्त्रा) इति कर्ता पूर्वतोऽनुसृतः, वीणावादक इत्यार्थं कर्म। ततः तदनन्तरम्, आगमः प्राप्तिः। ततो घोषवतीस्वरसदृशं स्वरं निशम्य तत्र स्थले वीणावादकस्योपकण्ठं गत्वा 'कस्मात्पुरुषात् कस्मात्स्थानाद्वा वीणामिमां लब्धवान् भवान्? तत्प्राप्तिप्रकारः कथ्यतां भवते'ति राजा तं पृष्टवानित्यर्थः। ततस्तस्योत्तरं प्रकाशयति—**तेणेति**। अस्माभिरिति स्वसार्थाभिप्रायेण बहुत्वम्। कूर्चगुल्मलग्ना, कूर्चानां दर्भाणां 'कूर्चोऽस्त्री श्मश्रुपीठयोः, भ्रूमध्ये कत्थने दर्भे' इति कोषः, गुल्मे स्तम्बे लग्ना सक्ता। फलस्यापि हेतुत्वेन ग्रहणात्फलार्थे 'अनये'ति हेतौ तृतीया। भर्त्रे स्वामिने उपनीयतां समर्प्यताम्, अर्थादस्माभिः। ततो वीणोपलब्धिविषयकं राज्ञः प्रश्नमाकर्ण्य 'सहचरैः सह गतोऽहमासं नर्मदायास्तटम्, तत्र च दर्भस्तम्बेषु पतितेयं वीणा दृग्गोचरतामुपगतास्माकं करगताऽभवत्। आवश्यकतास्ति यद्येतस्याः श्रीमतस्तर्हि समर्पणीयैषास्माभिः श्रीमते, श्रीमन्तमेवेयमधुनाऽलङ्करुता'दित्येवं वीणावादकेनोत्तरं दत्तम्। ततस्तत्कर्तृकं राज्ञे वीणासमर्पणमर्थाद्

कंचुकी—उसके बाद फिर क्या ?

प्रतीहारी—तब वहाँ जाकर (बजाने वाले से) पूछा-यह वीणा कहाँ मिली ? उसने कहा-हमने नर्मदा नदी के किनारे कुश की झाड़ी में पड़ी हुई देखी। यदि इसकी आवश्यकता

अङ्के करिअ मोहं गदो भट्टा। तदो मोहप्पच्चागदेण बप्फपय्याउलेण मुहेण भट्टिणा भणिअं—दिट्ठासि घोसवदि। सा हु ण दिस्सदि त्ति। अय्य! ईदिसो अणवसरो। कहं णिवेदेमि?

काञ्चुकीयः—भवति। निवेद्यताम्। इदमपि तदाश्रयमेव।

मोहप्रत्यागतेन बाष्पपर्याकुलेन मुखेन भर्त्रा भणितम्—दृष्टासि घोषवति! सा खलु न दृश्यत इति। आर्य! ईदृशोऽनवसरः। कथं निवेदयामि?

गम्यम्। तं चेति। उपनीतां समर्पिताम्, अर्थाद्वीणावादकेन। ततः स वीणावादकस्तां वीणां राज्ञे समर्पितवान्। राजा च तां गृहीत्वा निजोत्सङ्गसङ्गिनीं विधाय वासवदत्तायाः स्मरन्मूर्छितोऽभवत्। तदो इति। मोहप्रत्यागतेन मोहात्प्रतिनिवृत्तेन चेतनां प्राप्तेनेति यावत्, वाष्पपर्याकुलेन मुखेन, वाष्पेणाऽश्रुणा पर्याकुलं व्याप्तं मलिनं वा तादृशेन वदनेन, उपलक्षितेनेति शेषः। भर्त्रेत्यस्य विशेषणद्वयमिदम्। कियतः समयादनन्तरं चेतनामधिगतो राजा रोदितुमारेभे। अश्रुपातमलिनाननश्च सन् 'अयि! घोषवति! त्वदीयं दर्शनं जातम्, वासवदत्ता तु सा त्वामङ्के कृतवती दैवात् दृष्टिपथं न प्रयाती'त्येवं प्रत्यवोचत्। इत्थं सति राज्ञोऽवस्थाविशेषे, सन्देशनिवेदनयोग्योऽयमवसरो नास्तीत्याह प्रतीहारी—अय्येति। अनवसरः अयोग्यः समयः, निवेदनस्येति शेषः। निवेदयामीति विध्यर्थे लट्। श्रीमन्! इत्थमयं साम्प्रतं न तावत्साम्प्रतं समयो निवेदनस्य, राज्ञश्च वासवदत्ताध्यानमग्नतया विचारपदवीं न प्रयायात्किमपि निवेदितम्। सर्वथा व्यर्थं च तदस्मिन्समये, न च तस्मै रोचेत नूनम्। अतः कथमिदानीं प्रापणीयं राज्ञः समीपं मया भवदीयं सन्देशभाषितम्।

प्रतीहार्या वचनमेतदाकर्ण्य काञ्चुकीयो ब्रूते—भवतीति। निवेद्यतां सूच्य-

---

है तो महाराज को यह भेंट दे दूँ। (ऐसा कह कर उसने वह वीणा भेंट दे दी) तब उसे गोद में लेकर महाराज मूर्छित हो गये। फिर सचेत होने पर मुख पर आँसू बहाकर बोले—घोषवती! तू दिखाई पड़ी, वह तो नहीं दिखाई पड़ती। आर्य! इस प्रकार योग्य अवसर नहीं है, कैसे खबर पहुँचाऊँ?

कंचुकी—श्रीमती! निवेदन करिये, क्योंकि यह भी उसीसे संबन्ध रखता है।

प्रतीहारी—(क) अय्य ! इअं णिवेदेमि । एसो भट्टा सुय्यामुहप्पासादादो ओदरइ । ता इह एव्व णिवेदइस्सं ।

काञ्चुकीयः—भवति । तथा ।

[उभौ निष्क्रान्तौ ।]

(क) आर्य ! इयं निवेदयामि । एष भर्ता सूर्यामुखप्रासादादवतरति । तदिहैव निवेदयिष्यामि ।

ताम्, अस्मदागमनमिति शेषः । तदाश्रयम्, सा वासवदत्ता आश्रयो यस्य तत् तद्विषयकमिति यावत् । अयि ! देवि ! अस्मदागमनमवेदं वासवदत्तामेव विषयीकरोति, तदिदं भवत्या राज्ञे निवेदनीयमित्यर्थः । वासवदत्ताविषयकं वृत्तजातं किमप्युद्दिश्यैव सञ्जातमत्रास्मदीयमागमनम् । राज्ञे च तदस्मद्वाचिकं रोचेत । रुचिकरो विषयस्तावदयं प्रस्तोतव्य एव राज्ञः पुरस्तान्निःशङ्कमित्याशयः ।

श्रुत्वैतत्काञ्चुकीयवचनं तदागमनं राज्ञे निवेदयितुं प्रतिजानीते प्रतीहारी—**अय्येति** । इयमित्यनेन 'निवेदयितुमहमुद्यतास्मी'ति सूचितम् । इदमधुना भवद्वाचिकं निवेद्यते मयेत्यर्थः । इत्थं निवेदनाय राज्ञः समीपं गन्तमुद्यता प्रतीहारी सूर्यामुखप्रासादादवतरन्तं राजानमवलोक्य तत्रैव तन्निवेदनावसरमुचितं मन्यमाना ब्रूते—**एसो** इति । एषः पुरो दृश्यमानः । घोषवत्या वृत्तान्तमधिगन्तुं पुरा सूर्यामुखप्रासादं गतवता राज्ञा ततोऽवतीर्यतेऽधुना । अतोऽत्रैव भवदुक्तं निवेदयिष्यते मया ।

प्रतीहार्युक्तं संमनुते काञ्चुकीयः—**भवतीति** । अयि ! श्रीमति ! एवमेव कर्तव्यम् । समीचनोऽयमवसरो राज्ञे निवेदयितुमित्यर्थः ।

उभौ निष्क्रान्तावित्यनेन सूर्यामुखप्रासादसमीपे प्रतीहार्याः काञ्चुकीयस्य च गमनं सूचितम् ।

प्रतीहारी—आर्य ! यह मैं निवेदन करती हूँ । ये महाराज सूर्यामुख-प्रसाद से उतर रहे हैं, तो यहीं पर निवेदन करूँगी ।

कंचुकी—श्रीमती ! ऐसा ही सही । (दोनों का जाना ।)

मिश्रविष्कम्भकः ।

[ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च ।]

राजा—

श्रुतिसुखनिनदे ! कथं नु देव्याः
स्तनयुगले जघनस्थले च सुप्ता ।
विहगगणरजोविकीर्णदण्डा
प्रतिभयमध्युषिताऽस्यरण्यवासम् ॥ १ ॥

मिश्रविष्कम्भक इति । उदयनस्य राज्ञः पुना राज्यप्राप्तिर्महासेनभूपतेर्वाचिकं राज्ञे निवेदयिष्यमाणं चेति भूतभविष्यद्वृत्तान्तावत्र प्रतीहारीकाञ्चुकीयाभ्यां नीचमध्यमपात्राभ्यां प्रतिपादितावित्यतो मिश्रः सङ्कीर्णोऽयं विष्कम्भक इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—'स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः' इति ।

ततः प्रविशतीति । कविरिदानीं श्रीमतो वत्सराजस्य रङ्गमध्ये प्रवेशमिमं विदूषकेण समं प्रदर्शयति, यत्र पुनः प्राक्प्रकल्पितसूचनानुसारमुपस्थास्यते श्रीमन्महाराजमहासेनसन्देशनिवेदनाय प्रतीहार्या ।

प्रविष्टस्य वासवदत्तावियोगदौर्भाग्यदूषितां घोषवतीं वीणामुद्दिश्य राज्ञः शोकोद्गारमाह—**श्रुतिसुखेत्यादि** । हे श्रुतिसुखनिनदे ! श्रुत्योः सुखः श्रवणानन्ददायी निनदो निक्वणस्तालस्वरसमन्वितः शब्दो यस्यास्तादृशे ! वीणे इति विशेष्यमर्थानुरोधाद्गम्यम् , देव्या वासवदत्तायाः, स्तनयुगले कुचयुगे, जघनस्थले कटिपुरोभागे च, सुप्ता सुखशयनं प्राप्ता ससुखमवस्थितेति यावत् , वादनावसरे हि वीणाया उत्सङ्गसङ्गिन्याः स्तनजघनसम्बन्धो भवत्येव, एतादृग्विशेषणविशिष्टा त्वं, विहगगणरजोविकीर्णदण्डा, विहगगणेन पक्षियूथेन रजोभिर्धूलिभिश्च विहगगणस्य रजसा मलरूपेण वा विकीर्णो व्याप्तो दूषित इति यावत् दण्डो यस्यास्तादृशी सती, प्रतिभयं भयङ्करं, 'भयङ्करं प्रतिभय'मित्यमरः, अरण्यवासम् , उष्यते यत्रेति वासो निवास-

---

(मिश्रविष्कंभक)

(तब राजा और विदूषक आते हैं ।)

राजा—ऐ कर्ण-मधुर-शब्द वाली वीणा ! देवी वासवदत्ता के कभी स्तनों पर या कभी जाँघों पर सोने वाली तू इस समय चिड़ियों और धूलि से वा चिड़ियों के मल से दूषित-दण्ड वाली होती हुई भयानक अरण्य-वास कैसे करती है ॥ १ ॥

अपि च, अस्निग्धासि घोषवति । या तपस्विन्या न स्मरसि—

श्रोणीसमुद्वहनपार्श्वनिपीडितानि

खेदस्तनान्तरसुखान्युपगूहितानि ।

स्थानम् 'हलश्चे'ति घञ्, अरण्यमेव वासस्तम् वनस्थलमिति यावत्, 'उपान्वध्याङ् वसः' इति कर्मत्वम्, कथन्नु केन प्रकारेण कीदृशम्, अध्युषिता असि आश्रितवत्यसि, अधिपूर्वाद्वसतेः कर्तरि क्तः। अयि! सुस्वरे! घोषवति! या त्वं पुरा वीणावादनक्रीडावसक्तचित्तया वासवदत्तया सस्नेहं कमनीयकोमलोत्सङ्गदेशे लालिता सती तत्र सुस्थलेऽवस्थानसुखं सुचिरमन्वभूः, कथमहो! दुर्दैवादमीषु दिवसेषु पक्षिगणजुष्टं धूलिधूसरं पक्षिमलदूषितं वा वीणादण्डं दधानया त्वया भयानकवनवासयातना असह्याः सोढाः? गुणवद्वासवदत्तासङ्गतिसौभाग्यसमन्विताया अपि तद्वियोगसमयोपनीतवनवासक्लेशभारोपचितदौर्भाग्यव्यतिकरोपलब्धिरियं ते न तावत् सर्वथोचितेति भावः। पुष्पिताग्रा नाम वृत्तमिदम्, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति च तल्लक्षणम् ॥ १ ॥

अपि चेति। अस्निग्धा स्नेहरिता। इदमपि निश्चितं वीणे! यत्त्वाधुना वासवदत्तायां स्नेहो नास्तीति। इदानीं वासवदत्ताविषयकं तदेव स्नेहराहित्यं तस्या विशदीकरोति—येत्यादि। इदं श्लोकान्वयि।

श्रोणीति। या त्वं, तपस्विन्या दीनायाः, विपत्काले रक्षकं कञ्चिदप्राप्तवत्या इति यावत्, 'मुनिदीनौ तपस्विना'वित्यमरः, अत्र 'वासवदत्ताया' इति विशेष्यमर्थानुगतम्, श्रोणीसमुद्वहनपार्श्वनिपीडितानि, श्रोण्या तत्पुरोभागेन जघनेनेति यावत्, 'कटिः, श्रोणि'रित्यमरः, 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' इति दीर्घान्तोऽपि श्रोणीशब्दः, समुद्वहनानि वाद्यभाण्डस्य धारणानि च, पार्श्वेन कक्षाधःप्रदेशेन निपीडितानि, भावे क्तः, दण्डस्य घर्षणानि च तानि, इतरेतरयोगो नाम द्वन्द्वसमास, खेदस्तनान्तरसुखानि, खेदे वादनश्रमे सति स्तनान्तरे कुचमध्यभागे, 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये । छिद्रात्मीयविनावधिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि चे'त्यमरः, सुखानि सुखकराणि, अत्र 'खेदे स्तनान्तरे' इति व्यस्तपदप्रयोगो

और भी—ऐ घोषवती! तू स्नेह-रहित है,

जो कि तू उस बेचारी की (अधो लिखित बातों की) याद नहीं करती। तुझे गोद और बगल में

उद्दिश्य मां च विरहे परिदेवितानि
वाद्यान्तरेषु कथितानि च सस्मितानि ॥ २ ॥

विदूषकः—(क) अलं दाणिं भवं अदिमत्तं सन्तप्पिअ ।

(क) अलमिदानीं भवानतिमात्रं सन्तप्य ।

युज्यते, सामर्थ्याभावात् समासश्चिन्त्यः, उपगूहितान्युपगूहनानि आलिङ्गनानि, च किञ्च, विरहे मद्वियोगे, माम् उद्दिश्याभिलक्ष्य, कृतानीति शेषः, परिदेवितानि विलापाः, 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः, च अन्यच्च, वाद्यान्तरेषु वादनीयप्रकारविशेषेषु, सस्मितानि मन्दहासेन सहितानि, स्मितमत्रालौकिकवादनप्रकारदर्शनादन्तर्गतानन्दसन्दोहोद्भेदं सूचयति, कथितानि प्रशंसापराणि वचनानि, न स्मरसि स्मृतिमार्गं न प्रापयसि, तदेतत्सर्वं विस्मरसीत्यर्थः । 'वादनावसरे च यत्किल वाद्यभाण्डमङ्केन वासवदत्ता धृतवती, यच्च तस्यास्तदानीं पार्श्वभागेन वीणादण्डस्य सङ्घर्षणं जायते स्म, वादनपरिश्रमान्मध्ये विश्रमार्थं यत्सा वक्षोजमध्यभागेन वीणादण्डमालिङ्ग्य तूष्णीं कियच्चिरमवतस्थे, वियोगविक्लवतया च मद्विषयकान् यद् बहून्विलापान् कृतवती, लोकोत्तरेषु मत्प्रदर्शितेषु तत्तद्वादनकलाकौशलविशेषेषु हृद्गताऽसीमसहजस्नेहोचितहर्षप्रकर्षसूचकं सहासं यच्च किञ्चिद्वचनजातमुक्तवती मत्प्रशंसायाम् , तदेतदखिलं चेष्टितमिदानीं दीनां दशां वहन्त्या दुःसहवियोगदूनायास्तस्या वासवदत्तायाः किमपि न स्मर्यते त्वया ? यत्किल समुपेक्षितस्नेहानुबन्धया समयेऽस्मिन्सहजस्नेहापि सेयं परित्यक्ता मत्प्रिया । नूनमयं तत्परित्यागस्तवायं वीणे ! पूर्वानुभूतैतद्वृत्तान्तविस्मरणं तेन च तस्यां निःस्नेहरौक्ष्यं च विशदं प्रत्याययती'ति भावः । अत्र चैतद्वीणादर्शनं राज्ञो वासवदत्तावियोगदुःखमुद्दीपयत् कारणभावमवलम्बते भृशं विलपितेष्वमीषु । वसन्ततिलकं छन्दः ॥ २ ॥

प्रियावियोगपरितप्तचित्ततया पूर्वोक्तमेतदित्थं विलपन्तं ततो निवारयन् सुहृदमाश्वासयितुकामो वचनमाह विदूषकः—**अलमिति** । अतिमात्रं भृशम् , अधिकमित्यर्थः, 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भर'मित्यमरः । अयि ! मित्र ! भृशं व्याकुलो मा भूद्भवान् ! कथमपि तस्या उपलब्धेरभावादिदानीं शोको

रखना, थकने पर कुचों के बीच में सुख से आलिंगन करना, विरह की दशा में मुझे उपलक्ष कर विलाप करना तथा अनेक प्रकार के बाजों के बजते हुए स्मित-पूर्वक वचनों का कहना इत्यादि॥

विदू०—बस अब आप अतिसंताप न करें ।

राजा—वयस्य ! मा मैवम् ,

चिरप्रसुप्तः कामो मे वीणया प्रतिबोधितः ।
तां तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया ॥ ३ ॥

वसन्तक ! शिल्पिजनसकाशान्नवयोगां घोषवतीं कृत्वा शीघ्रमानय ।

निरर्थकः । आन्तरः सन्तापोऽयं भवता दूरीकरणीयः शान्तिश्चावलम्बनीयेत्यर्थः ।

सन्तापनिवरणैकसूचकमित्थं विदूषकवचनं श्रुत्वा स्वकीयसन्तापस्यानिवार्यत्वं सूचयति राजा—**वयस्येति** । एवं सन्तापप्रशमनसूचकम् , वादीरिति शेषः । नैव ते वक्तव्यं मित्र ! मत्सन्तापशान्त्यै । सोऽयमनिवार्यो मे नियतं परितापः प्रियतमावियोगजन्मा ।

चिरप्रसुप्त इति । चिरप्रसुप्तः, चिरं शयितः उद्बोधकाभावादप्रबुद्ध इति यावत् , मे मम, कामः वासवदत्ताविषयको मानसोऽभिलाषः, वीणया अनया घोषवत्या, प्रतिबोधित उद्बोधितः । घोषवती सेयं वीणा, यस्या वासवदत्तायाः, प्रिया प्रीतिपात्रम् , आसीदिति शेषः, तां मत्प्रेमसर्वस्वं, देवीं वासवदत्तां तु, न पश्यामि न साक्षात्करोमि । वियोगदिवसादारभ्य प्रियतमाविषयिणी गाढोत्कण्ठा ममेयं परिपूर्तिसाधनाभावादद्ययावत् क्रमेण परिक्षीणतां गच्छन्ती हृदये निलीनप्रायैव जाता, उद्बोधकं च नासीत्तस्याः किमपि । अद्य तूपलब्धेयं वीणा मत्प्रियां वासवदत्तां स्मारयन्ती नितान्तं तदीयमुत्कण्ठाविशेषमुद्भावयति मे । एषा च घोषवती यस्यै भृशमरोचत, दुर्दैवादद्य सा मे प्रिया वासवदत्ता न तावल्लोचनगोचरतां गच्छति । हन्त ! तां न विस्मारयति वीणेयं तत्तदनुभूतं स्मारयन्ती माम् । अतः कथमयं निवारणीयो मे महत्तमस्तत्परीताप इति भावः । अनुष्टुब् वृत्तमिदम् ॥ ३ ॥

इत्येवं निगद्य विकलाङ्गवीणासंस्कारसम्पादनविधौ प्रवर्तयितुमिच्छन् विदूषकं ब्रूते—**वसन्तकेति** । शिल्पिनो जनाः वीणासंस्करणकलाकुशला मनुष्याः, नव-

---

राजा—मित्र ! नहीं ऐसा नहीं—

वीणा ने चिर-काल से सुप्त मेरे काम को जगा दिया । किन्तु यह घोषवती वीणा जिसको प्यारी है, उस देवी वासवदत्ता को नहीं देख रहा हूँ ॥ ३ ॥

वसन्तक ! घोषवती को कारीगरों के पास से मरंमत कराकर शीघ्र लाओ ।

विदूषकः—(क) जं भवं आणवेदि । [वीणां गृहीत्वा निष्क्रान्तः।]

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—(ख) जेदु भट्टा । एसो खु महासेणस्स सआसादो रैब्भसगोत्तो कंचुईओ देवीए अङ्गारवदीए पेसिदा अय्या वसुन्धरा णाम वासवदत्ताधत्ती अ पडिहारं उवट्ठिदा ।

(क) यद् भवानाज्ञापयति ।

(ख) जयतु भर्ता । एष खलु महासेनस्य सकाशाद् रैभ्यसगोत्रः काञ्चुकीयो देव्याऽङ्गारवत्या प्रेषितार्या वसुन्धरा नाम वासवदत्ताधात्री च प्रतीहारमुपस्थितौ ।

योगां, नवो नूतनो योगस्तन्त्रीदण्डादिसम्बन्धो यस्यां तादृशीम् । मित्रवर ! चिरादनुपयोगान्नष्टभ्रष्टावयवैषा घोषवती सञ्जाता । अत एतां तत्संस्कारविदुषां मार्मिकाणां समीपं नीत्वा यथास्थलं तत्तत्प्राचीननष्टावयवपरिवर्तनपुरःसरं नूतनावयवयोजनेन प्रकल्पितजीर्णोद्धारां पुनः समीचीनतमां सुन्दरावयवां विधाय त्वयेयं सत्वरमानीयतां ममान्तिकमित्यर्थः ।

राजाज्ञापरिपालनं प्रतिजानीते विदूषकः—**जं भवमिति** । एषोऽहमादेशं भवतोऽनुसृत्य तदुचितं कर्तुमुद्यतोऽस्मीत्यर्थः । इत्युक्तवतो विदूषकस्य वीणां संस्कारयितुं वीणासहचरस्य ततः प्रस्थानमाह—**वीणां गृहीत्वेति** ।

सूर्यामुखप्रासादादवतरन्तं राजानमुद्दिश्य गमनं प्रतीहार्या निर्दिष्टमासीत्पुरा । इदानीं राज्ञः समीपवर्तिनि प्रदेशे तस्याः प्रवेशं दर्शयति—**प्रविश्येति** ।

विजयाशंसनपूर्वकं पूर्वोक्तकाञ्चुकीयसन्देशं राजानं निवेदयन्ती प्रतीहारी ब्रूते—**जेदु** इति । विजयतां भवान् । श्रीमान् महासेनभूपती रैभ्यसगोत्रं काञ्चुकीयं, श्रीमती प्रद्योतराज(महासेन)पत्नी अङ्गारवती च वसुन्धरानाम्नीं वासवदत्ताया उपमातरं श्रीमतोऽन्तिकं किमपि सन्दिश्य प्रैषयताम् , तौ च द्वारदेशमागतौ स्तः ।

विदू०—आप जो आज्ञा दें । (वीणा लेकर जाता है ।)

(आकर)

प्रतीहारी—महाराज की जय हो । महाराज महासेन के पास से यह रैभ्य नामक कंचुकी और देवी अङ्गारती की भेजी गई वासवदत्ता की धाई वसुंधरा ड्योढ़ी पर उपस्थित हैं ।

राजा—तेन हि पद्मावती तावदाहूयताम् ।

प्रतीहारी—(क) जं भट्टा आणवेदि । [निष्क्रान्ता ।]

राजा—किन्नु खलु शीघ्रमिदानीमयं वृत्तान्तो महासेनेन विदितः ?

[ततः प्रविशति पद्मावती प्रतीहारी च ।]

(क) यद् भर्ताज्ञापयति ।

प्रतीहार्या वचनं श्रुत्वा राजाह—**तेन हीति** । तावत्पदं वाक्याऽलङ्कारे । एवं चेत्, पद्मावत्याह्वयितव्या पूर्वम् । तत एव दूताविमावुपस्थापयितव्यौ । वाचिकं चानयोः प्रियासहचरेणैव मया श्रवणीयमित्यर्थः । 'वसुन्धराप्रेषणमिदं तावदङ्गारवत्याः पद्मावतीमुद्दिश्यैव सम्भवतीत्यतस्तस्याः पद्मावत्या अत्रोपस्थानमावश्यकम् । समुपस्थितायां च तस्याम्, सा किलाङ्गारवतीसन्देशमहं च महासेनसन्देशं सहैव श्रोष्याव' इत्येवमन्तस्तात्पर्येण राजा पद्मावतीमाजूहवत् । 'वासवदत्तावन्धुदर्शनमिदं पद्मावत्या सममेवात्मनो युज्यत' इत्याशयेन केचिदन्ये च—'सपत्नीभूतवासवदत्तावन्धुविषये कीदृग्भावोऽस्ति पद्मावत्या इति जिज्ञासया पद्मावत्युपस्थिती राज्ञस्तत्राभिमते'ति व्याचक्षते ।

पद्मावत्याह्वानरूपां भर्तुराज्ञां सादरं स्वीकुरुते प्रतीहारी—**जं भट्टा** इति । यत्किलादिष्टमार्येण, तत्तावत्साध्यते मयेत्यर्थः । ततस्तस्यास्ततो निर्गमनं सूचयति—**निष्क्रान्तेति** ।

प्रतीहार्यां गतायां राजा स्वगतं भाषते—**किन्नु खल्विति** । 'नु खलु' इति पदे वाक्यालङ्कृतौ, वृत्तान्तः पद्मावतीपरिणयरूपो राज्यप्राप्तिरूपो वा । किमिदं वृत्तमेतदस्मदीयमस्मिन्समये सत्वरमेवार्यो महासेन उपलब्धवान् ? यदुद्दिश्य दूतप्रेषणं कृतं तेन ?

पद्मावत्या सह पुनः प्रतीहारीं प्रवेशयति कविः—**ततः प्रविशतीति** ।

'अयमसौ तत्रभवान् भर्ता विराजते, अत्र किलोपसर्पणीयं श्रीमत्या राज-

---

राजा—तब तो पद्मावती को बुला लाओ ।

प्रतीहारी—स्वामी की जो आज्ञा । (चली गई ।)

राजा—क्या महासेन महाराज ने यह वृत्तान्त शीघ्र अभी जान लिया ?

(पद्मावती और प्रतीहारी का प्रवेश ।)

प्रतीहारी—(क) एदु एदु भट्टिदारिआ।

पद्मावती—(ख) जेदु अय्यउत्तो।

राजा—पद्मावति! किं श्रुतम्—महासेनस्य सकाशाद् रैभ्यसगोत्रः काञ्चुकीयः प्राप्तः, तत्रभवत्या चाङ्गारवत्या प्रेषितार्या वसुन्धरा नाम वासवदत्ताधात्री च, प्रतीहारमुपस्थिताविति।

पद्मावती—(ग) अय्यउत्त! पिअं मे ञादिकुलस्स कुसलवुत्तंतं सोदुं।

(क) एत्वेतु भर्तृदारिका।
(ख) जयत्वार्यपुत्रः।
(ग) आर्यपुत्र! प्रियं मे ज्ञातिकुलस्य कुशलवृत्तान्तं श्रोतुम्।

कुमार्ये'त्यर्थकं वचनमाह पद्मावतीं प्रतीहारी—एदु एदु इति। राजदर्शनोपसर्पणत्वरयैव प्रतीहार्या वचनेऽस्मिन् 'एतु एतु' इति वीप्सेयं प्रयुक्ता।

उपगता च भर्तुर्विजयाभिनन्दनं कुर्वती ब्रूते पद्मावती—जेदु इति। सर्वोत्कर्षेण वर्ततां तावदार्यः श्रीमानित्यर्थः।

दूतोपस्थितिवार्तामुद्दिश्य पद्मावतीं पृच्छति राजा—**पद्मावतीति**। अयि! पद्मावति! 'श्रीमन्महासेनाङ्गारवतीप्रहिताभ्यां काञ्चुकीयवसुन्धराभ्यां द्वारदेशोऽलङ्क्रियते सम्प्रती'ति श्रवणपदवीं तव प्रयातं किमु? किन्तु जानासि वार्तामिमाम्?

अय्यउत्तेति। पूर्वोक्तं प्रियस्य वचनं निशम्य वासवदत्ताबन्धुजनेषु स्वीयत्वाभिमानं वहन्त्याः पद्मावत्या उत्तरमिदम्। प्रियम् अभीष्टम्, ज्ञातिकुलस्य सम्बन्धिबन्धुजनस्य, 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समा' इत्यमरः, 'मे' इति पदं मध्यमणिन्यायेन 'प्रियं ज्ञातिकुलस्ये'त्युभयत्रान्वेति। इच्छार्थक एककर्तृके 'प्रिय'मित्युपपदे सति 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इत्यनेन 'श्रोतु'मिति तुमुन् प्रत्ययः।

प्रतीहारी—आइये, राजकुमारी! आइये।

पद्मा०—आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—पद्मावती! क्या तुमने सुना कि–महासेन के पास से रैभ्य नामक कंचुकी और माननीय अङ्गारवती की भेजी वासवदत्ता की दाई वसुंधरा ये दोनों आये हैं और द्वार पर खड़े हैं।

पद्मा०—आर्यपुत्र! आत्मीयों का कुशल-वृत्तान्त सुनना मुझे अच्छा लगता है।

राजा—अनुरूपमेतद् भवत्याभिहितम्—वासवदत्तास्वजनो मे स्वजन इति। पद्मावति ! आस्यताम्। किमिदानीं नास्यते ?

पद्मावती—(क) अय्यउत्त ! किं मए सह उवविट्ठो एदं जणं पेक्खिस्सदि ?

(क) आर्यपुत्र ! किं मया सहोपविष्ट एतं जनं द्रक्ष्यति ?

श्रीमन् ! प्रियं मे वृत्तमिदम्। वासवदत्ताया वन्धुजनोऽयं ममैव वन्धुजनः। नात्र मे भेदभावः कोऽपि। वन्धुजनस्य कुशलवार्तेयं चिरादुपलभ्यमाना श्रोतुमिष्यते मयेत्यर्थः।

पद्मावत्युक्तं प्रशंसन्नाह राजा—**अनुरूपमिति**। अनुरूपं योग्यम्, अर्थात्कुलशीलादिनः, एतत् 'वासवदत्ताया वन्धुजनोऽयं ममैव वन्धुजन' इत्येवंरूपम्। अयि ! प्रिये ! वासवदत्तावन्धुजनं स्वजनं निर्दिशन्ती नूनं कुलशीलादिसदृशमेवं साम्प्रतमुक्तवती भवती। सर्वथा प्रशंसनीयमिदं वचनं सापत्न्यद्वेषं हृदये स्वल्पमप्यवहन्त्या भवत्या इत्यर्थः। समयोचितं किञ्चिद्विचार्य तत्र तिष्ठन्तीं पद्मावतीं पश्यन् 'ममाज्ञामन्तरेण नैषोपवेक्ष्यती'ति तां स्वसमीपमुपवेशयितुमिच्छन् राजा तदुचितां चाटूक्तिमुपन्यस्यति—**पद्मावतीति**। श्रीमति ! पद्मावति ! किमेवं स्थीयते ? समयेऽस्मिन् किमिति नोपविश्यते ? नात्र किञ्चिद्विचारणीयं निःशङ्कमत्रोपवेष्टव्यं भवत्येत्यर्थः।

प्रियेण सहोपवेशनं तत्कालानुचितं मन्यमाना प्रियतमं तद्विषये पृच्छति पद्मावती—**अय्यउत्तेति**। एतं जनं समुपागतं वासवदत्तायाः स्वजनम्। भवानिति शेषः। स्वामिन् ! नूतनपरिणीतया मया सार्धं किमत्रोपविश्य भवता वासवदत्तायाः स्वजनोऽयं साक्षात्करिष्यते ? अनुचितमेतन्मन्येऽहम्। एकाकिन एव भवतस्तद्दर्शनं युक्तमित्याशयः।

इत्थं नाम ध्वनिमर्यादया सहोपवेशनं निषेधन्तीं पद्मावतीं तत्कारणं जिज्ञास-

---

राजा—यह तुमने उचित कहा कि वासवदत्ता के भाई-बन्धु मेरे भाई-बन्धु हैं। पद्मावति ! बैठो। इस समय क्यों नहीं बैठती ?

पद्मा॰—आर्यपुत्र ! क्या आप मेरे साथ बैठ कर उन लोगों से भेंट करेंगे ?

राजा—कोऽत्र दोषः ?

पद्मावती—(क) अय्यउत्तस्स अवरो परिग्गहो त्ति उदासीणं विअ होदि ।

राजा—कलत्रदर्शनार्हं जनं कलत्रदर्शनात् परिहरतीति बहुदोषमुत्पादयति । तस्मादास्यताम् ।

(क) आर्यपुत्रस्यापरः परिग्रह इत्युदासीनमिव भवति ।

मानो राजा ब्रूते—कोऽत्रेति । अत्र अस्मिन्विषये सहोपवेशनरूपे, दोषः अनौचित्यरूपः । भवत्या सहोपविश्य मया करिष्यमाणे तद्दर्शनेऽस्मिन् किं तावदनुचितं मन्यते भवती ?

तदेवाऽनौचित्यं दर्शयति पद्मावती—अय्यउत्तस्सेति । अपरः परिग्रहः द्वितीया पत्नी, 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः, इति पूर्वोक्तो वाक्यार्थः कर्तृरूपः । उदासीनमिव अनभीष्टमिव अर्थाद्विलोकनीयस्य बन्धुजनस्य, भवति भवेदिति यावत् । स्वामिन् ! भवता सहोपविष्टाया भवदीयद्वितीयपत्न्या मे दर्शनं कदाचिद्वासवदत्तास्वजनाय न रोचेत, अयुक्तमिवैतत्तद्दृष्टौ भासेत । जामातुर्द्वितीयां भार्यां निभालयतो भूतपूर्वभार्यासम्बन्धिनश्चेतसि तद्विषयक इर्ष्याभावोदयः सुतरां सुलभः । अत एवोदर्कदर्शिनी सहोपवेशनमिदं निषेधाम्यहम् । नान्यत्किमपि शङ्कनीयमत्रार्यपुत्रेणेति भावः ।

तत्कालोचितं सहोपवेशनं समर्थयन् पद्मावत्याः शङ्कितं निराकुरुते राजा—कलत्रेत्यादि । कलत्रं भार्या 'कलत्रं श्रोणिभार्ययो'रिति कोषः, परिहरति निवारयति, अयमिति शेषः उदयन इति तस्यार्थः । इति पूर्वोक्तो वाक्यार्थः, बहुदोषमिति जातावेकवचनम् , भवत्या सम्भाविताद्दोषाद् भूयसो दोषानित्यर्थः । प्रिये ! भवत्या विचारितं न सम्यक् । अत्रागत्य भवतीमपश्यन्नेष बन्धुजनो 'यस्मै सम्बन्धिजनाय भार्या दर्शनीया, तस्मै तां वत्सराजो न दर्शयति । 'नूनमयं सम्बन्धि-

---

राजा—इसमें कौन सा दोष है ?

पद्मा०—आर्यपुत्र की यह दूसरी पत्नी है-यह उन्हें अप्रिय-सा लगे ।

राजा—स्त्री-दर्शन के योग्य व्यक्ति को स्त्री-दर्शन से रोकता है-यह बात अनेक दोष उत्पन्न करेगी । इसीलिये बैठ जाओ ।

पद्मावती—(क) जं अय्यउत्तो आणवेदि। [उपविश्य] अय्यउत्त ! तादो वा अम्बा वा किं णु खु भणिस्सदि त्ति आविग्गा विअ संवुत्ता।

राजा—पद्मावति ! एवमेतत् ।

(क) यदार्यपुत्र आज्ञापयति। आर्यपुत्र ! ततो वाऽम्बा वा किन्नु खलु भणिष्यतीत्याविग्नेव संवृत्ता।

जनाद्विमुखः, भार्या चास्य कुरूपा स्यात्' इत्येवमन्यादृशांश्च बहून्दोषानारोपयेदावयोः। 'द्वितीयपत्नीदर्शनं न रोचेताऽस्मै' इत्येष भवत्या सम्भावितो दोषस्त्वकिञ्चित्करः। प्रथमभार्याया अभावे च मया स्वीकृतां द्वितीयां भार्यां भवतीं पश्यन्नयं जनस्तात्कालिकीं स्थितिमवधारयन् गुणग्राही कदाचिद् प्रमोदेताऽपि। अतोऽत्रैव समीपे भवत्योपवेष्टव्यम्। एतदेवोचितमस्मिन्समय इत्यर्थः।

पत्युराज्ञां शिरोधार्यां मत्वा तथा कर्तुं प्रतिजानीते पद्मावती—**जमिति**। स्वामिन् ! यथेदमादिश्यते भवता, तथाहमधुना कर्तुमुद्यतास्मि। प्रदर्शिता सेयं मानसी शङ्कैव भवदिच्छाविरुद्धं विधातुं प्रेरयन्माम्, न किल भवेन्निदेशोल्लङ्घनेच्छा। एषाहमुपविशाम्यत्र भवत्सन्निधौ। **उपविश्येत्यनेन** तदुपवेशनं दर्शितम्। उपविष्टा च सा समागतबन्धुजनविषये मानसमात्मनो वितर्कितमार्यपुत्रं निवेदयन्ती ब्रूते—**अय्यउत्तेति**। तातः पिता महासेनः, अम्बा माताऽङ्गारवती, अर्थाद्वासवदत्तायाः, वा पदद्वयं चार्थे, 'नु खलु' इति वाक्यालङ्कारे, इति पूर्वोक्तम्, विचार्येति शेषः, आविग्ना उद्विग्ना, अस्मीत्यार्थम्। 'श्रीमान्महासेनः श्रीमत्यङ्गारवती च वासवदत्तायाः पितरौ किं नाम कञ्चुकिधात्रीभ्यां सन्देशवचनं प्रेषयिष्यत' इत्येतद्विषये विचारयन्त्याऽस्मिन् समये व्याकुलयेव भूयते मया। 'तदेतत्तयोर्वाचिकं प्रियमप्रियं वाऽस्माकं भवे'दित्येवायं विचार उद्भवतीत्यर्थः। अत्र ताताम्बापदप्रयोगोऽयं वासवदत्ताबन्धुजनेषु स्वात्मीयभावं पद्मावत्याः पूर्वोक्तं द्रढयति। तेन वासवदत्तायां पद्मावत्याः प्रीत्यतिशयो व्यङ्ग्यः।

'तातेनाऽम्बया च किं नाम कीदृशं सन्देक्ष्यत' इत्येवं व्याकुलां पद्मावतीं निशम्य भूपतिरात्मनोऽपि तादृशं शङ्काकुलत्वं प्रतिपादयति—**पद्मावतीति**। एव-

पद्मा०—आर्यपुत्र की जो आज्ञा। (बैठकर) आर्यपुत्र ! पिताजी अथवा माताजी ने क्या कहा होगा—यह सोचकर व्याकुल सी हुई हूँ।

राजा—पद्मावति ! यह ठीक है।

किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे
कन्या मयाप्यपहृता न च रक्षिता सा ।
भाग्यैश्चलैर्महदवाप्तगुणोपघातः
पुत्रः पितुर्जनितरोष इवास्मि भीतः ॥ ४ ॥

मेतत् यद्भवत्या शङ्कितं तत्तथैवेत्यर्थः । अयि ! पद्मावति ! सन्देक्ष्यमाणविषयस्ये-दानीं प्रियत्वाप्रियत्वसम्भावनया भवत्याश्चित्तं यद्व्याकुलं जायते, तन्नूनं युज्यते । ममापि तादृश्येव दशा वर्तते ।

तथा हि—**किं वक्ष्यतीति** । अत्र प्रथमे चरणे तातोऽम्बा वेति कर्तृपदे पूर्वतोऽनुसृते । तयोश्च पृथक् पृथक् प्रत्येकं सम्बन्धाद् 'वक्ष्यती'त्येकवचनोपपत्तिः । वासवदत्तायास्तातः प्रद्योतो माताऽङ्गारवती च दूतमुखेन किं वक्ष्यति किं सन्देक्ष्यति, इति अस्मिन् विषये, मे, द्वितीयचरणादपिशब्दोऽत्रानुकर्षणीयः, भवत्या इव ममापीति यावत्, हृदयं मनः, शङ्कितं शङ्कायुक्तं वर्तते । 'तदस्य सञ्जात'मित्यादिना इतच् प्रत्ययः । तामेव हार्दिकीं शङ्कां प्रवर्तयत्कारणं प्रदर्शयति—**कन्येति** । मया वत्सराजेन, कन्या अनूढा वासवदत्तेति यावत्, 'कन्या त्वजातोपयमे'ति **दर्पणः**, यद्वा तयोस्तातम्बयोः कुमारी, अपहृता उज्जयिन्याः पलाय्य कौशाम्बीमानीता, च अपि च, सा वासवदत्ता, न रक्षिता न परिपालिता । 'पूर्वं वासवदत्ताया अपहरणमेवासीदनुचितम् । तत्रापि रक्षणं कृतं चेदपहरणं न तावद् दूषणाय कल्पेत । किन्तु तद्रक्षणेऽक्षमतां गतवताऽनुचितेऽप्यनुचितं पुनर्मयाचरितम्, एतदेव मे हार्दिकीं शङ्कां जनयतीति भावः । पुनः सभयत्वमेवाह—**भाग्यैरिति** । चलैर-स्थिरैः परिवर्तनशीलैः, भाग्यैः पूर्वजन्मकृतकर्मभिर्हेतुभूतैः, महदवाप्तगुणोपघातः, महत्सु गुरुजनेषु अवाप्तः प्राप्तः कृत इति यावत् गुणानां सदाचारादीनाम् उपघातो भङ्गो येन तादृशः, अहमिति शेषः, उत्तरपदस्य समानाधिकरणत्वाभावान्महत आत्वं न । सदाचारभङ्गश्चात्र गुरुजनादेशाऽप्रतीक्षणपुरःसरं वासवदत्ताया अपहरणमेव । पितुर्जनयितुः, जनितरोषः, जनित उत्पादितो रोषः अनुचितकारितामूलकः क्रोधो येन तथाभूतः, पुत्र इव तनयो यथा, भीतो भयान्वितोऽस्मि । 'वासवदत्तामपहृत्य

वे क्या कहेंगे–इस विषय में मेरा भी हृदय संशयग्रस्त हो रहा है। मैंने लड़की तो भगाई, पर उसकी रक्षा न की। चञ्चल भाग्यों से गुरुजनों के विषय में सदाचारविरुद्ध काम करने वाला

पद्मावती—(क) ण किं सक्कं रक्खिदुं पत्तकाले ?

(क) न किं शक्यं रक्षितुं प्राप्तकाले ?

तत्रापि तद्रक्षणेऽक्षमतां गतोऽहं प्रत्युत तां नाशितवानस्मी'त्येतं विषयमुद्दिश्य ताभ्यां किं वक्ष्यते ? शङ्कयाऽनया नितरां पर्याकुलं मे मनः। दैवदोषात्सदाचारविरुद्धमाचरितं मया। ध्रुवमधुना पितरं कोपयन्पुत्र इवाहं भीतोऽस्मीत्यर्थः। अत्र 'भाग्यैश्चलै'रिति वचनेन—'समयानुरोधपरिवर्तमानतत्तच्छुभाशुभदैवयोगेन सुखदुःखयोरुपलब्धिर्दृश्यते लोके। श्रीमन्महाराजमहासेनस्पृहणीयसम्बन्धोपलब्धं प्राज्यराज्यसुखसौभाग्यं प्राप्तवतोऽपि मम केनचिद् दुर्दैवेन सदाचारमर्यादाव्यतिक्रमोपस्थिता विपत्तिरियमतीव दुःसहा। अहो दैवस्य महिमा!' इत्येष राज्ञश्चिन्तानुभावोऽतिगूढं ध्वनितः।

अत्रेदमालोचनीयम्—नियतेर्नियोगाद्राजा वासवदत्तामपहृतवान् रक्षितुं च न पारितवान्। तदेतत्तस्य बुद्धिपूर्वकं नासीदिति वस्तुतोऽयं दोषभाजनं नास्ति। अतो राजविषये तातम्बयोः कोपस्यावकाशस्तस्माच्च राज्ञो भयस्य सम्भावना न काचिद्विद्यते। किन्तु 'केवलं तमिमं दोषमुद्दिश्य दैवं नाम तदीयं कारणमविगणय्य तातोऽम्बा च कुपितौ भविष्यत' इत्येतद्दृष्ट्या भयं सम्भाव्यतेऽपि। तच्च पुनर्निवारणीयं सदत्र सामान्यरूपेणोपतिष्ठते। तदिदं 'पुत्रः पितुर्जनितरोष इवे'त्युपमया स्फुटं प्रतिपादितम्। एतेन—सापराधे सुते कुपितोऽपि केनापि कारणेन पिता कालान्तरे यथा करुणार्द्रहृदयः सन् प्रशान्तकोपोऽवश्यमेव प्रसीदति, तथा वासवदत्ताऽपहरणतदीयाऽरक्षणलक्षणापराधभाजोऽपि वत्सराजस्यापराधमेनं क्षमित्वा नियतमेव तस्मिन्नुदारचरितौ गुणग्राहिणौ तत्पितरौ प्रसादपूर्णां दृशं निक्षिपेतामितीदृग् ध्वन्यते। अतः कुपितयोरपि तयोर्महानुभावतया कोपस्यास्य सम्भाव्यमानस्य सत्वरं निवार्यत्वं तेन राज्ञो भयस्यात्यल्परूपताऽवगन्तव्येत्यलम्। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ४॥

'वासवदत्ताया रक्षणं कर्तुमक्षमोऽभूव'मित्येवं पत्युरन्तरे विलसन्तीं चिन्तां निवारयन्ती ब्रवीति पद्मावती—**ण किमिति**। प्राप्तश्चासौ कालश्च तस्मिन् प्राप्तकाले योग्येऽवसरे, अनुकूले समय इति यावत्। यदा किल समयोऽनुकूलो भवति,

---

मैं, अपने ऊपर कुपित किये हुए पिता से पुत्र जिस भाँति भयभीत होता है, वैसे ही इस समय भयभीत हो रहा हूँ॥ ४॥

पद्मा०—उचित समय आने पर क्या नहीं बचाया जा सकता ?

प्रतीहारी—(क) एसो कञ्चुईओ धत्ती अ पडिहारं उवट्ठिदा ।

राजा—शीघ्रं प्रवेश्यताम् ।

प्रतीहारी—(ख) जं भट्टा आणवेदि । [निष्क्रान्ता ।]

(क) एष काञ्चुकीयो धात्री च प्रतीहारमुपस्थितौ ।

(ख) यद् भर्ताज्ञापयति ।

कस्य वस्तुनस्तदा रक्षणं न कर्तुं शक्यते, अपि तु सर्वं सुरक्षितं जायते । श्रीमता च यदत्र वासवदत्ता रक्षितुं न पारिता, तत्र श्रीमतो न दोषः, प्रतिकूलः समय एवापराधी तत्कारणत्वेनाऽवतिष्ठते । अतो ध्रुवं समयप्रातिकूल्येन दुर्दैवमहिम्ना तद्रक्षणं यथोचितं कर्तुमपारयता श्रीमता किमपि तद्विषये न चिन्तनीयम्, दैवादुपनतं सर्वं तूष्णीं सोढव्यमेवेति भावः ।

सम्प्रति प्रतीहारी पद्मावतीं श्रावयितुं पुनर्निवेदनमुचितं मन्यमाना स्वामिनं दूतागमनवार्तां निवेदयति—**एसो** इति । एष उपस्थापयिष्यमाणः । कञ्चुकिनोपमात्रा चागतया द्वारदेशोऽलङ्क्रियते । एतौ च सन्देशहारकौ राजदर्शनमिदानीमर्थयेते । कस्तावन्नियोगो भवत्येतयोः कृते ।

प्रतीहार्युक्तमाकर्ण्य राजा तत्र तयोः स्वसमीपप्रवेशनानुमतिं दत्ते—**शीघ्रमिति** । यथा विलम्बो न भवेत्तथैतावत्र प्रवेशयितव्यावित्यर्थः । अत्र काञ्चुकीयो धात्री चेति कर्मणोः पृथक् पृथक् प्रवेशनक्रियायां सम्बन्धकरणेन 'प्रवेश्यता'मित्येकवचनान्तप्रयोग उपपादनीयः । शीघ्रमिति पदेन राज्ञस्तदीयसन्देशश्रवणोत्सुकत्वं द्योत्यते ।

'तत्रभवतः स्वामिनो निदेशानुसारं साध्यते मये'त्याशयेनाह प्रतीहारी—**जं भट्टेति** । **निष्क्रान्तेति** । कञ्चुकिनं धात्रीं च तत्रोपस्थापयितुं तयोः समीपं प्रतीहारी प्रस्थितेत्यर्थः ।

प्रती०—कंचुकी और दाई दोनों द्वार पर उपस्थित हैं ।

राजा—जल्दी लिवा लाओ ।

प्रती०—जो स्वामी की आज्ञा । (चली गई ।)

[ततः प्रविशति काञ्चुकीयो धात्री प्रतिहारी च ।]

काञ्चुकीयः—ओः !

सम्बन्धिराज्यमिदमेत्य महान् प्रहर्षः
स्मृत्वा पुनर्नृपसुतानिधनं विषादः ।
किं नाम दैव ! भवता न कृतं यदि स्याद्
राज्यं परैरपहृतं कुशलं च देव्याः ॥ ५ ॥

प्रतीहार्या सहितयोरुभयो राज्ञः सन्निधौ प्रवेशं सूचयति—ततः प्रविशतीति । तत्रोपतिष्ठतः काञ्चुकीयस्य मानसमुद्गारं दर्शयति—ओ इति । मानसं सम्बोधनमिदम् ।

सम्बन्धिराज्यमिति । अत्र महानिति विशेषणं प्रहर्षविषादयोरुभयत्रा-ऽन्वेति । इदं दृश्यमानं शत्रोः सकाशात्प्रत्यावर्तितं वा, सम्बन्धिराज्यं स्वामि-जामातुः शासनविषयीकृतां भूमिम्, एत्यागत्य, ममेति शेषः, महान् भूयान्, प्रहर्षः प्रमोदो भवति, पुनः किञ्च, नृपसुतानिधनं, नृपसुताया राजकुमार्या वासवदत्तायाः निधनं मरणं, 'मरणं निधनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, स्मृत्वा चिन्तयित्वा, महान् विषादो-ऽनल्पः खेदो भवति । हे दैव ! विधे ! परैः शत्रुभिः, अपहृतं स्वायत्तीकृतं, राज्यं वत्सदेशाधिपत्यं, देव्या वासवदत्तायाः, कुशलं क्षेमं पुनरुपलब्धिश्चेत्युभयं, यदि पक्षान्तरे, स्याद्भवेत् सम्पद्येत, तर्हि भवता त्वया, किं नाम, हितमिति शेषः, नामेत्यलङ्कृतिर्वाक्यस्य, न कृतं स्यात् न सम्पादितं भवेत् । श्रीमदस्मत्स्वामि-सम्बन्धिनो वत्सराजोदयनस्य राज्येऽत्र समुपागमेन सुतरां प्रसीदत्यन्तरात्मा मे, राजकन्याश्रीमद्वासवदत्ताविनाशवार्ताव्यतिकरस्मरणेन च भृशं विषीदत्यधुना ।

(तब कंचुकी, दाई तथा प्रतीहारी का प्रवेश ।)

कंचुकी—ओह !

संबन्धी के राज्य में आकर बड़ा हर्ष हो रहा है और राजकन्या की मृत्यु का स्मरण कर दुःख हो उठता है । हे दैव ! यदि शत्रु-द्वारा छीना गया हुआ राज्य फिर होकर देवी वासवदत्ता का कुशल भी प्राप्त होता तो तूने क्या भला न किया होता ? अर्थात् ये दोनों बातें एक साथ होतीं तो सभी कुछ बन जाता ॥ ५ ॥

प्रतीहारी—(क) एसो भट्टा, उवसप्पदु अय्यो।

काञ्चुकीयः—[उपेत्य] जयत्वार्यपुत्रः।

धात्री—(ख) जेदु भट्टा।

राजा—[सबहुमानम्] आर्य !

(क) एष भर्ता, उपसर्पत्वार्यः।

(ख) जयतु भर्ता।

दैवेन पुरा प्रतिकूलतां गच्छता वत्सराज्यं रिपुणाऽपहारितम्, साम्प्रतं तेनैवानुकूलतां कलयता पुनरेतदुपस्थापितम्। इदानीं तु यदि नाम राज्यमिव श्रीमतीं वासवदत्तां वत्सराजाद् वियोज्य भूयस्तेन संयोजयेद् दैवम्, तर्हि नूनं सुवर्णे सौरभयोगदानमिव श्रीमतोरुभयोर्महासेनोदयनयोः सर्वतोऽनुष्ठितं भवेद् दैवेन हितम्। लब्धमपीदं राज्यं देव्याः कुशलवृत्तान्तस्योपलब्धिं विना नीरसायमानं न तावत्तादृशं तोषमुत्पादयितुं प्रभवतीति भावः। अयनप्रहर्षयोः स्मरणविषादयोश्चेह समानकर्तृकतया 'एत्य स्मृत्वे'त्युभयत्र क्त्वाप्रत्ययस्योपपत्तिं कल्पयन्ति केचित्। व सन्ततिलकं नामेदं वृत्तम्॥ ५॥

स्वामिनः समीपमुपगच्छन्ती प्रतीहारी काञ्चुकीयमाह—**एसो** इति। एष इत्यङ्गुल्या निर्देशः। विराजत इति शेषः, आर्य इत्यादरसूचकम्। सिंहासनमेतदलङ्क्रियते श्रीमता महाराजवत्सराजेन। अत्रोपगम्यतां तत्रभवता भवता।

प्रतीहारीसूचनानुसारं समीपमुपस्थाय राज्ञो जयाशंसनं करोति काञ्चुकीयः—**जयत्विति**। सुगृहीतनामधेयस्य मान्यस्य सन्तानं तत्रभवान् सर्वोत्कर्षेण वर्त्ततामित्यर्थः। इदञ्च सेवकाचारसमुचितं कञ्चुकिनो वचनम्।

इदानीं वत्सराजमुदयनं साक्षात्कुर्वती धात्री विजयवाचाभिनन्दत्याह—**जेदु** इति। वत्सदेशाधिपतेः श्रीमतः सर्वतो विजयः स्यादित्यर्थः।

विजयाशंसनं कुर्वाणं काञ्चुकीयं तत्रभवतो महासेनभूपतेः कुशलं प्रष्टुमिच्छन् सविशेषादरं वचनमाह राजा—**आर्येति**। सम्बोधनमिदं श्लोकान्वयि।

प्रती०—ये स्वामी हैं। आप पास जाँय।

कंचुकी—(पास पहुँचकर) श्रीमान् की जय हो।

धात्री—स्वामी की जय जयकार हो।

राजा—(बड़े आदर से) आर्य !

पृथिव्यां राजवंश्यानामुदयास्तमयप्रभुः ।
अपि राजा स कुशली मया काङ्क्षितबान्धवः ॥ ६ ॥

काञ्चुकीयः—अथ किम् ? कुशली महासेनः । इहापि सर्वगतं कुशलं पृच्छति ।

राजा—[आसनादुत्थाय] किमाज्ञापयति महासेनः ?

प्रष्टव्यांशं दर्शयति—पृथिव्यामिति । पृथिव्यां भूमौ, राजवंश्यानां राजवंशोद्भवानां राज्ञामिति यावत्, भवार्थे यत् प्रत्ययः, उदयास्तमयप्रभुः, उदय उन्नतिः अस्तमयोऽस्तगमनम् अवनतिश्च तयोः प्रभुः समर्थः, मण्डलेश्वरः सम्राडिति यावत्, अस्तमित्यव्ययेन सह कप्रत्ययान्तस्य 'अय'शब्दस्य समासे 'अस्तमय'शब्दः सिध्यति, मया कर्त्रेति स्वात्मनो निर्देशः, काङ्क्षितवान्धवः काङ्क्षितमभीष्टं वान्धवं वन्धोर्भावः सम्बन्धः, भावार्थेऽण्प्रत्ययः, यस्य तादृशः, अथवा—मया, सहेति शेषः, काङ्क्षितवान्धवः काङ्क्षितं वान्धवं येन सः, स राजा पूजनीयः प्रतापी महासेनो नाम भूपतिः, अपि कुशली, अपीति प्रश्नार्थकम्, कुशलमस्यास्तीति कुशली, कुशलयुक्तो वर्तते वा ? तुष्टो रुष्टश्च राज्ञां निग्रहानुग्रहौ कर्तुं समर्थो यो हि मत्सम्बन्धाय सातिशयं स्पृहयते, अहं वा यदीयं सम्बन्धमभिलाषाभि भृशम्, अपि नाम तत्रभवतो मान्यस्य महीपतेः सर्वतः कुशलं वर्तते ? तदेतन्निवेदनीयं भवतेत्याशयः । अनुष्टुप् छन्दः ॥ ६ ॥

स्वस्वामिनो विषये राज्ञा वत्सराजेन कृतं कुशलप्रश्नमाकर्ण्य काञ्चुकीयस्तन्निवेदयन् ब्रूते—अथेति । किमन्यत्, एवमेव वर्तते । अस्ति तावच्छ्रीमतो महासेनस्य कुशलम् । इत्येवं निवेद्य कुशलं स्वामिनो महासेनस्य, तत्कृतमपि वत्सराजविषयकं कुशलप्रश्नं सूचयति—इहापीति । इहापि वत्सराज्येऽपि सर्वगतं सर्वविषयकं, सर्वेषामिति यावत्, पृच्छतीति भूतार्थे वर्तमानता । सकुशलेन श्रीमदस्मत्स्वामिनेह भवद्राज्येऽपि सर्वेषां कुशलं पृष्टमित्यर्थः ।

किमिति । प्रियाविरहेण स्वकीयं कुशलमपश्यन्नात्मनः कुशलप्रश्नविषये

पृथिवी के राजाओं की उन्नति तथा अवनति करने में समर्थ, मेरे साथ सम्बन्ध चाहने वाले या जिनका सम्बन्ध मुझे अभीष्ट है, वे राजा कुशल सम्पन्न तो हैं ?॥ ६ ॥

कंचुकी—और क्या ? महासेन कुशलपूर्वक हैं । यहाँ भी आप सब लोगों का कुशल पूछते हैं ।

राजा—(आसन से उठकर) महासेन की क्या आज्ञा है ?

काञ्चुकीयः—सदृशमेतद् वैदेहीपुत्रस्य। नन्वासनस्थेनैव भवता श्रोतव्यो महासेनस्य सन्देशः।

राजा—यदाज्ञापयति महासेनः। [उपविशति।]

काञ्चुकीयः—दिष्ट्या परैरपहृतं राज्यं पुनः प्रत्यानीतमिति।

किमप्यनुत्तरयन्निदानीं राजा श्रीमन्महासेनसन्देशं श्रोतुमिच्छुस्तदुचितमिदं वचनं प्राह काञ्चुकीयम्। ज्ञाधातोर्ण्यन्ताल्लट्, तस्य चात्र माधवमतेऽचाक्षुषज्ञानार्थकतया मित्त्वाभावान्न ह्रस्वः। कस्तावदादेशोऽस्ति मत्कृते श्रीमतो महासेनस्य? आसनोत्थानपुरःसरं राज्ञः सन्देशश्रवणोद्यतत्वमिदं पूज्यवर-श्रीमन्महासेनविषये परमादरं सूचयति श्रीवत्सराजस्य। अत एव 'आज्ञापयती'त्युक्तं न तु 'सन्दिशती'ति।

'आसनादुत्थायैव गुरुजनादेशः श्रवणीय' इत्याशयेन राज्ञस्तादृशमाचारं दर्शितवतो विनयभावं प्रशंसन्नाह काञ्चुकीयः—सदृशमिति। एतत् आसनत्यागरूपादरविशेषाविष्करणम्, वैदेहीपुत्रस्य, विदेहस्य मिथिलाधीश्वरस्यापत्यं स्त्री वैदेही उदयनस्य जननी, 'तस्यापत्य'मित्यण्, 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्, तस्याः पुत्रस्य। ननु किन्त्वित्यर्थः। श्रीमन्महासेनसन्देशश्रवणविधौ तदेतदासनोत्थानरूपसमुदाचारप्रदर्शनं विदेहराजदौहित्रस्य भवतो युज्यत एव। मातृवंशपरम्परागतोऽयं विनयः स्थानेऽलङ्करोति भवन्तम्। युक्तमेवैतत्सर्वथा। किन्तु समयेऽस्मिन्नासनमासीन एव श्रीमान् महासेनभूपतेः सन्देशभाषितं शृणुयात्। तच्छ्रवणे पुनः स्वासनादुत्थानस्य नावश्यकतेयमिति भावः।

'आसनादनुत्थायैव भवता स्वामिनः सन्देश आकर्णनीय' इत्येवं कञ्चुकिनाऽनुरुद्धो राजा महासेनभूपतिनैव यथाऽऽदिष्ट इव ब्रूते—यदाज्ञापयतीति। भवदीयमनुरोधमेतमनुल्लङ्घनीयं महासेनस्यैवादेशं मन्ये। अतस्तदनुसारमेव साम्प्रतं वर्तेऽहमित्यर्थः। इत्युक्तवतो राज्ञ उपवेशनं दर्शयति—उपविशतीति।

अवसरोचितमिदानीं श्रीमन्महासेनसन्देशं निवेदयति काञ्चुकीयः—दिष्ट्येति। 'दिष्ट्या' इत्यव्ययं हर्षार्थे, 'दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः। इति

कञ्चुकी—यह वैदेही पुत्र के योग्य ही शिष्टाचार है। किन्तु महाराज महासेन के सन्देश को आप आसन पर बैठ कर ही सुनें।

राजा—महासेन की जैसी आज्ञा। (बैठता है।)

कंचुकी—आनन्द की बात है कि शत्रुओं द्वारा छीना गया राज्य फिर लौटा लिया गया। क्योंकि—

कुतः—

काتरा येऽप्यशक्ता वा नोत्साहस्तेषु जायते ।
प्रायेण हि नरेन्द्रश्रीः सोत्साहैरेव भुज्यते ॥ ७ ॥

राजा—आर्य ! सर्वमेतन्महासेनस्य प्रभावः । कुतः—

शब्दो वाक्यसमाप्तिसूचकः । सपत्नापहृतराज्यः श्रीमान् यत्किल परान् पराभूय पराक्रमेण विजयश्रियाऽलङ्कृतः स्वं राज्यं पुनः प्राप्तवांस्तदेतदिदानीं महतः प्रमोदस्य स्थानम् । तदर्थं च भवानभिनन्दनीय इत्यर्थः । धीरतासहचरितोत्साहसम्पत्तिश्च भवतोऽस्मिन् विजये हेतुभूतास्तीति गूढमत्र व्यङ्ग्यम् । तदेव समर्थयन्नाह–कुत इति । यत इत्यर्थः ।

तथा हि—कातरा इति । ये पुरुषाः कातरा अधीराः, अपि वा अपि च, अशक्ताः शक्तिरहिताः सन्ति, तेषु पुरुषेषु, उत्साहोऽध्यवसायः 'उत्साहोऽध्यवसायः स्या'दित्यमरः, न जायते लब्धावकाशो न भवति । हि युक्तमेवैतत्, प्रायेण बहुधा, नरेन्द्रश्रीः राजलक्ष्मीः समृद्धं राज्यसुखमिति यावत्, सोत्साहैरुत्साहसम्पन्नैरेव पुरुषैः, भुज्यते आस्वाद्यत इत्यर्थः । शक्तिमन्तोऽप्यधीरा ये, ये च धीरा अप्यशक्ता वर्तन्ते, उभयविधा अप्यमी उत्साहशक्त्या विरहिता भवन्ति । उत्साहस्तु धैर्यं शक्तिं चेत्युभयमप्यपेक्षते, बहुत्रेदं दृश्यते, यदुत्साहेन सम्पन्ना एव राजश्रियं भोक्तुं पारयन्ते, अलसानामनुद्यमिनां च राज्यसुखं सर्वथा दुर्लभमिति । सोत्साहं च भवन्तं विजयलक्ष्मीः स्वयं वृतवतीति लब्धराज्यो भवानभिनन्दनीय इत्येष भवन्तमुद्दिश्य श्रीमन्महासेनस्य सन्देशो वर्तत इति भावः । अनुष्टुप् छन्दः ॥ ७ ॥

श्रीमतो महासेनस्य सन्देशमेतं निशम्य 'श्रीमन्महासेनप्रभावेणैव सर्वमिदं सम्पन्नम्, अन्यथा दुर्लभविजयावाप्तौ मम का वा शक्ति'रित्यर्थकं वचनमाह राजा—आर्येति । 'आर्ये'त्ययं सम्बुद्ध्यन्तपदप्रयोगो वृद्धं काञ्चुकीयं प्रत्यादरभावं सूचयति राज्ञः । सर्वमेतदिति सामान्ये नपुंसकता, विजयश्रियो लाभः परापहृतराज्यस्य पुनः प्रत्याहरणं चेति तदर्थः । प्रभावशब्दस्य नियतलिङ्गत्वान्न

जो अधीर और असमर्थ होते हैं, उनमें उत्साह उत्पन्न नहीं होता । प्रायः उत्साही पुरुष ही राज-संपत्ति का उपभोग करते हैं ॥ ७ ॥

राजा—आर्य ! यह सब महासेन का प्रभाव है । क्योंकि—

अहमवजितः पूर्वं तावत् सुतैः सह लालितो
दृढमपहृता कन्या भूयो मया न च रक्षिता ।
निधनमपि च श्रुत्वा तस्यास्तथैव मयि स्वता
ननु यदुचितान्वत्सान् प्राप्तुं नृपोऽत्र हि कारणम् ॥ ८ ॥

पुंस्त्वपरिवर्तनम् । प्रभावजन्यमिति तस्यार्थः । वचनं चेदमभिमानशून्यतां विनयालङ्कृतां द्योतयति राज्ञः । कुत इति विजयस्य तत्प्रभावसाध्यत्वसूचनमिदम् ।

तथा हि—**अहमिति** । पूर्वं पुरा गजमृगयावसरे, तावत्पदमप्यर्थे, अवजितः पराजित्य निगृहीतोऽप्यहं, गुणवत्सलत्वात् सुतैः सह स्वपुत्रैः समं, दृढमत्यर्थं, लालितो लालनपूर्वकं पालितोऽभवम्, अर्थान्महासेनेन । तदानीं च तत्र तिष्ठता मया, कन्या तस्यैव राज्ञो महासेनस्य कुमारी वासवदत्तेति यावत्, अपहृता अपहरणपूर्वकं ततः स्वं नगरमानीता, भूयः पुनश्च, न रक्षिता अग्निदाहान्न पालिता । च किञ्च, तस्याः स्वकन्यायाः, निधनं श्रुत्वापि विनाशश्रवणादपीत्यर्थः, तथैव पूर्ववदेव, मयि मद्विषये, महासेनस्येति शेषः, स्वता आत्मीयता वर्तते, 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये' इत्यमरः । ननु निःसंशयम्, उचितान्वत्सान् प्राप्तुं मदीयशासनयोग्यं वत्सराज्यं पुनः शत्रोः सकाशात्स्वायत्तीकर्तुं यत्, 'मया समर्थेन जात'मिति शेषः, 'शकधृषे'त्यादिना 'प्राप्तु'मिति तुमुन् प्रत्ययः, अत्र राज्यप्राप्तिक्षमतारूपेऽस्मिन्विषये, नृपो हि, हिपदमेवार्थे, राजा महासेन एव, कारणं निमित्तभूतोऽस्तीत्यर्थः । 'पुरा खलु वत्सदेशाधीश्वरमुदयनं नाम वीरं वैणिकाचार्यं गजविद्याविदं गुणिनं तदीयगुणलोभेन स्वकन्याया वासवदत्तायाः पतिं कर्तुमिच्छंस्तदुचितावसरान्वेषणपरायणः प्रद्योतनामा नरपतिः कदाचित् स्वरसान्मृगयायै कमपि वनोद्देशमागतं तं गजमृगयापराधेन च्छलाद्बन्दीकृतमात्मनोऽन्तःपुरमानीय वासवदत्तावीणाशिक्षणे नियुज्य पुत्रवत्पालयाञ्चक्रे । कियच्चिरं च तत्रावस्थाय वत्सराजो यौगन्धरायणनामधेयस्य मन्त्रिणश्चातुर्येण वासवदत्तां नाम निजप्रीतिपात्रं राजकन्यां ततोऽपहृत्य कौशाम्बीं निजां राजधानीं पर्यापतत् ।' एतत्कथानुसार्येव राज्ञः स्वीयावस्था-

---

पहले मैं जीता जाकर अपने लड़कों के साथ जिनसे पाला गया, उनकी कन्या को मैं बलपूर्वक भगा ले आया और फिर उसकी रक्षा न कर सका । उस कन्या की मृत्यु का समाचार पाकर भी उनका मेरे ऊपर वही पूर्ववत् प्रेम या ममता बनी हुई है । निश्चय, मेरे शासन के योग्य वत्सराज के फिर पाने में वे राजासाहब ही कारण हैं ॥ ८ ॥

काञ्चुकीयः—एष महासेनस्य सन्देशः। देव्याः सन्देशमिहात्रभवती कथयिष्यति।

राजा—हा ! अम्ब !

षोडशान्तःपुरज्येष्ठा पुण्या नगरदेवता।

प्रदर्शनमिदम्। अयमर्थः—पुरा किल गजमृगयापराधभाजं बन्दीकृत्यापि मां गुणग्राही पुत्रवत् पालितवान् सर्वतो महासेनः। अहञ्च तांस्तदुपकारानवगणय्य कृतघ्नो राजकन्यामपाहरं दैवादग्निना दह्यमानां च तां रक्षितुं नापारयम्। निजात्मजाविनाशवृत्तमिदं कालेन विदित्वापि सापराधेऽप्युदारो मयि महासेनोऽद्यापि तादृशीमेव स्वीयत्वबुद्धिं यदवलम्बते, तदिदं कृतदौर्जन्येऽपि मयि तदीयं सौजन्यमभिनन्दनीयं नाम। सन्देहलेशस्यापि नात्रावकाशो वर्तते—यदहं परैरपहृतं पुनरात्मनो राज्यं करगतं कर्तुं समर्थोऽभूवम्, स एष श्रीमन्महासेनस्यैव प्रभुशक्तेर्महीयान् महिमा। मदीयराज्यप्राप्तौ ध्रुवं तेनैव राज्ञा कारणीभूतेन जातम्। अहन्त्वकिञ्चित्करो महत्तमेऽस्मिन्कर्मण्यसमर्थ एवासं सर्वथेति। हरिणीच्छन्दः। 'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गौ यदा हरिणी तदा' इति तल्लक्षणम् ॥ ८ ॥

राज्ञो वचनं श्रुत्वा काञ्चुकीय आह—एष इति। एष पूर्वोक्तः। इह अस्मिन्समये। महाराजमहासेनस्य सन्देशवागियं मया निवेदिता। इदानीं महाराज्ञ्या अङ्गारवत्याः सन्देशस्तावन्मान्यया वासवदत्तोपमात्रा निवेदयिष्यते। सोऽयं च तत एवावगन्तव्यो भवतेत्यर्थः। 'अत्रभवती'ति पदप्रयोगोऽयं काञ्चुकीयस्य राजकन्याया वासवदत्ताया उपमातरं वसुन्धरां प्रत्यादरभावं सूचयति।

श्वश्रूसन्देशश्रवणात्पूर्वं मातृतुल्यां तां मातृपदेन सम्बोधयंस्तदीयं कुशलं जिज्ञासू राजा तदुचितं वचः प्रयोक्तुमनाह—**हा ! अम्बेति**। मातः! कष्टम्। एष च राज्ञः स्वामिनो वियोगेन दुःखिनीं मातृकल्पां श्वश्रूमुद्दिश्य शोकानुभावो दर्शितः कविना।

षोडशेत्यादि। षोडशान्तःपुरज्येष्ठा, षोडशानां षोडशसंख्याकानाम्

कंचुकी—यह श्रीमहासेन का संदेश है। देवी (महारानी) का संदेश आर्या वसुन्धरा कहेंगी।

राजा—हाय ! माता !

सोलह रानियों में प्रधान (महिषी), पवित्र, नगर की देवता, मेरे प्रवास-दुःख से

मम प्रवासदुःखार्ता माता कुशलिनी ननु ? ॥ ६ ॥

धात्री—(क) अरोआ भट्टिणी भट्टारं सव्वगदं कुसलं पुच्छदि ।

राजा—सर्वगतं कुशलमिति ? अम्ब ! ईदृशं कुशलम् ।

(क) अरोगा भट्टिनी भर्तारं सर्वगतं कुशलं पृच्छति ।

अन्तःपुराणामन्तःपुरस्थानां राजभोग्यस्त्रीणां मध्ये ज्येष्ठा प्रधानभूता महिषीति यावत्, 'स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुर'मिति कोषादन्तःपुरशब्दो राजमहिलागारवाचकोऽप्यत्र तात्स्थ्याद्राजदारेषूपचरितो बोद्धव्यः, पुण्या पवित्रचरिता, नगरदेवता पूजनीयत्वान्नगरस्य देवतेव स्थिता, मम मे, प्रवासदुःखार्ता, प्रवासदुःखेन वियोगरूपेण कष्टेन आर्ता पीडिता, माता मातृकल्पा श्वश्रूरङ्गारवती, कुशलिनी, ननुशब्दः प्रश्नार्थे, कुशलयुक्ता वर्तते वा ? या किल शुद्धेन चारित्रेण पूजनीया राजमहिषी नगरदेवतेव मन्यते लोकैः, या च मदीयवियोगदुःखेन दुःखिनी वर्तते, तस्या मातुरङ्गारवत्याः कुशलं विद्यते ? अत्र राज्ञा कृतं मातुरङ्गारवत्या दुःखिनीत्ववर्णनं स्वात्मजासम्बन्धेन पुत्रनिर्विशेषे राजनि वात्सल्यभावोदयेन च स्वाभाविकतयोचितं वेदितव्यम् । षोडशान्तःपुरज्येष्ठेति मातुर्विशेषणेन महासेनभूपतेर्भोगिन्यः स्त्रियः षोडशाऽऽसन्निति सूचितम् । अनुष्टुब् वृत्तमिदम् ॥ ९ ॥

धात्रीदानीं स्वामिन्याः कुशलं, तया कृतं वत्सराजमुद्दिश्य कुशलप्रश्नं च निवेदयति—**अरोआ** इति । अरोगा आरोग्यवती कुशलिनीति यावत्, भर्तारं स्वामिनं वत्सराजम्, 'अकथितं चे'त्यनेन कर्मसंज्ञा । अस्मदीया स्वामिनी स्वयं कुशलिनी श्रीमतः सपरिचारस्य कुशलं जिज्ञासत इत्यर्थः ।

राजा च स्वात्मनः सपरिवारस्य विषये श्वश्रूकृतममुं कुशलप्रश्नमाकर्ण्य सशोकं ब्रूते—**सर्वगतमिति** । इतिशब्दादनन्तरं 'पृच्छ्यते' इत्यर्थबलाद् योजनीयमत्र । किं सपरिवारस्य मे कुशलं मात्रा पृष्टमित्यर्थः । इत्येवमुक्त्वा स्वकुशलविषये स्वावस्थां निवेदयति—**अम्बेति** । मातः ! ईदृशं कुशलं वर्तते, यादृशं मयानुभूयतेऽधुना वासवदत्तावियोगविकलेन । अकुशलमेव ममेत्यर्थः । अकुशलिन्या प्रियया वियुक्तोऽहं कष्टेन कथञ्चित्प्राणिमि । एतेनैव कुशलं मदीयमुन्नेयम् । केवलं कथ-

---

दुःखी माताजी कुशल-पूर्वक तो हैं ? ॥ ९ ॥

धात्री—स-कुशल महारानी सपरिवार आपका कुशल-मंगल पूछती हैं ।

राजा—सबका कुशल पूछती हैं ? मा ! यहाँ तो ऐसा कुशल है ।

धात्री—(क) मा दाणिं भट्टा अदिमत्तं सन्तप्पिदुं ।

काञ्चुकीयः—धारयत्वार्यपुत्रः । उपरताऽप्यनुपरता महासेनपुत्री

(क) मेदानीं भर्तातिमात्रं सन्तप्तुम् ।

मपि शारीरं कुशलं वर्तते, मानसं तु तन्नास्त्येव साम्प्रतं हतभाग्यस्य ममेति भावः ।

अत्र च 'यादृशं कुशल'मित्येवं कुशलस्वरूपं किमप्यनभिधाय 'ईदृश'मित्यनेन ध्वनिमर्यादया स्वीयमकुशलं तावद् व्यक्ततां नीतं राज्ञा । एतेन प्रियाविरहाद्राज्ञोऽवस्थाविशेषस्य कष्टमयत्वमनिर्वचनीयत्वं च द्योत्येते । 'स्वावस्थायां च यथार्थतो निवेदितायामुद्बुद्धकन्यावियोगदुःखा च माता समधिकं दुःखं प्राप्नुया'दित्येवं तत्कालोचितं विचारयन् राजा किमपि गूढं सूचितवान् कुशलविषये च विशिष्य किञ्चिन्नोक्तवान् । पूर्वं कञ्चुकिमुखेन श्रीमन्महासेनकृतमात्मनो विषये कुशलप्रश्नमाकर्ण्यापि तत्र किमपि स्वावस्थानिवेदनं कष्टकरमनुचितं च मन्यमानेन तद्विषये राज्ञा मौनमेवावलम्बितम् । इदानीं पुरस्तात्पुनरप्युपगतं तमेव धात्रीमुखेन महाराज्याः प्रश्नमवगत्य 'किमपि तद्विषये सूचनीयमेवे'ति तदुचितमुत्तरं तदेतदस्फुटं कल्पितमिति दिक् ।

पूर्वोक्तेन वचसा श्रीमतो राज्ञः शोकाकुलत्वमाकलयन्ती राजनं समाश्वासयति धात्री—**मेति** । अर्हतीति शेषः । स्वावस्थास्मरणेन नात्यर्थमवलम्बनीयोऽस्मिन्समये श्रीमता सन्तापः । न मनः खेदनीयमेवम् । वियोगदुःखं पुनः स्मृतं सद् दुखःमेवोद्बोधयेत् । सर्वथेदमिदानीमनुचितं निष्फलं चेति भावः ।

काञ्चुकीयोऽपि राज्ञः शोके समुचितं समाश्वासनवचनं प्रस्तौति—**धारयत्विति** । धारयतु निगृह्णातु, शोकावेगमिति शेषः । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, अनुकम्प्यमाना, अनुकम्पा कृपा सा चात्र स्मरणरूपा, स्मर्यमाणेति यावत् । साम्प्रतं तत्रभवता भवतैष शोकावेगोऽन्तर्निग्रहीतव्यः । अदर्शनं गतापि श्रीमती वासवदत्ता सम्प्रतीदमीदृशं श्रीमता स्मरणविषयत्वं नीयमाना ध्रुवं जीवत्येव । अतस्तद्विनाशविषये न किञ्चिच्छोचितव्यं भवतेत्याशयः । 'वासवदत्ताया रक्षणमहं न तावत्कर्तुं

धात्री—अब आप अधिक शोक न करें ।

कंचुकी—श्रीमान् शोक के आवेग को रोकें । श्रीमान् से इस प्रकार स्मरण की जानेवाली महासेन की पुत्री वासवदत्ता मर कर भी नहीं मरीं । अथवा (मैं वासवदत्ता का रक्षण नहीं

एवमनुकम्प्यमानार्यपुत्रेण। अथवा—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ?।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च ॥ १० ॥

पारितवा'नित्यत्रापि विषये भवता विषादो न विधेय इत्याशयेनाह—अथवेति। वासवदत्तारक्षणविधावक्षमतापि सेयं दैवकृता न भवतश्चिन्तनीयेति भावः।

तथा हि—कः कमिति। मृत्युकाले आयुषः क्षयस्यावसरे समुपस्थिते, कः सप्रयत्नोऽपि नरः, कं प्रीतिपात्रमपि जनं, रक्षितुं शक्तः मृत्योः सकाशात्परित्रातुं समर्थो भवति, अर्थान्न, आसन्नमृत्युर्म्रियत एव सर्वोऽपीति भावः। अत्र विषये दृष्टान्तं दर्शयति—रज्जुच्छेद इति। रज्जुच्छेदे, रज्जोर्गुणस्य घटबन्धनसमर्थस्य वस्तुन इति यावत् छेदे भङ्गे सति, के पुरुषा जलमुद्धर्तुमिच्छन्तोऽपि, घटं रज्जुबलात्कूपमध्ये प्रवेशितं कलशं, धारयन्ति कूपान्तः पतनान्निवारयितुं पारयन्ति, न केऽपीत्यर्थः। भग्नरज्जुर्घटस्तावत्कूपान्तः पतत्येवेति भावः। यथासमयं दैवादुपनतौ शरीरिणामुत्पत्तिविनाशौ भवत एवेत्याह—एवमिति। एवं पूर्वप्रदर्शितप्रकारेण प्राणिनामदृष्टमात्रैकपरतन्त्रतयेति यावत्, वनानाम्, अत्र वनपदं तत्रस्थवृक्षोपलक्षकम्, वनस्थानां वृक्षाणामित्यर्थः, तुल्यधर्मः, तुल्यः समानो धर्मः वक्ष्यमाणो गुणो यस्य तादृशः, लोको मनुष्यः, काले काले तत्र तत्र तदनुकूले समये, छिद्यते छिन्नो भवति नश्यति, रुह्यते रोहत्युत्पद्यते च। अयं भावः—अवलम्बभूतायां रज्जौ सत्यामेव यथोपरिष्टाद्घटस्तिष्ठति तदभावे च स कूपान्तर्नूनं पतति, तथैव सति शेषे जीवितकालस्य जनोऽवतिष्ठतेऽन्यथा च परवशो मृत्युमुखं प्रविशति। भग्नरज्जुर्घटो गतायुश्च पुमान् प्रयत्नशतैरपि केनापि तदानीं नियतभाविनो विनाशाद्रक्षितुं न शक्येते। दुर्लभस्तत्र सर्वथा पुंप्रयत्नः। वनस्थाः पादपा यथा यथासमयमुत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च, एवमेव प्राणिनां जन्ममृत्यू नियतकालभाविनावनिवार्यौ नियतम्। अतश्च 'न मया वासवदत्ता रक्षितुं पारिते'त्येवं चिन्ततया

कर सका—यह भी आपको नहीं सोचना चाहिये)—

मृत्यु का समय आजाने पर कौन किसको बचा सकता है? रस्सी के टूट जाने पर कौन घड़े को धारण करते हैं अर्थात् गिरने से रोक सकते हैं? इसी तरह मनुष्य भी वृक्षों के समान जैसे वृक्ष समय समय पर काटे जाते हैं और उत्पन्न होते हैं—समय समय पर मरते और उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

राजा—आर्य ! मा मैवम् ,

महासेनस्य दुहिता शिष्या देवी च मे प्रिया ।

कथं सा न मया शक्या स्मर्तुं देहान्तरेष्वपि ॥ ११ ॥

नात्माऽनुतापनीयः, कथमसौ दैवाद्विनश्यन्ती रक्षितुं शक्यासीद्भवता । तथा च श्रीहर्षः–'न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः' इति । अत्र 'तुल्यधर्म' इति पदे 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यनिच् प्रत्ययः समासान्तविधेरनित्यत्वकल्पनया न कृतः कविना । 'तुल्यधर्मा' इति युक्तं पठितुम् । 'छिद्यते रुध्यते' चेत्यत्रोभयत्र कर्तुः कर्मवद्भावः, तेन यगात्मनेपदे । शालिनीनामकं छन्दोऽदः, लक्षणमुक्तं प्रागेतदीयम् ॥ १० ॥

आर्येति । दर्शनविषयातीतवासवदत्तास्मरणविषयान्निवारयन्तं काञ्चुकीयं प्रति वासवदत्ताविस्मरणस्य दुःसम्भवत्वं प्रतिपादयतो वचनमिदं राज्ञः । अत्र वाक्ये 'वोचः' इति शेषः । श्रीमन् ! नैवेदं वक्तव्यं भवता, यद् 'वासवदत्ताऽनुचिन्तनं न कर्तव्य'मिति । स्मृतिपथादपनेतुं न शक्या सा मत्प्रिया ।

तथा हि—**महासेनस्येति** । महासेनस्य तन्नाम्नो भूपतेः, दुहिता कन्या, मे शिष्या मत्तः सङ्गीतविद्यां शिक्षितवती, देवी कृताभिषेका महिषी, प्रिया असाधारणप्रणयास्पदं चेत्येवंगुणविशिष्टा, साऽनुभूता वासवदत्ता, देहान्तरेषु अन्येषु जन्मस्वपि, किं पुनरेतस्मिञ्जन्मनीत्यपिशब्दार्थः, मया तद्गुणान् जानता, कथं केन प्रकारेण, स्मर्तुं चिन्तयितुं न शक्या न पार्या । या किल निरतिशयं मयि वात्सल्यं वहतः श्रीमतो महीपतेर्महासेनस्य कन्यासीत् , यां च विनेयां सपरिश्रमं सङ्गीतविद्यामहं शिक्षितवान् , यया हि मन्महिषीत्वपदं गुणैर्विभूषितं व्यधीयत, यस्यै च प्रेमसर्वस्वाय मे परवशं चेतः सुतरां स्पृहयते स्म, तादृशाऽवर्णनीयगुणविशेषशालिनीं प्रियतमां तां वासवदत्तामस्मिञ्जन्मनि कथमहं विस्मर्तुं शक्नुयाम् ? जन्मान्तरेऽप्यविस्मरणीयं कुतो नाम नाकलनीयं तद्गुणगौरवं गुणज्ञेन मयेति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ११ ॥

राजा—आर्य ! नहीं, (ऐसा न कहिये)

वह महासेन की पुत्री मेरी प्रिय शिष्या और प्रिय रानी थी । मैं उसका जन्म जन्मान्तर में भी कैसे स्मरण नहीं कर सकता ? अर्थात् मैं उसे कभी भी भूल जाने की इच्छा रखने पर भी नहीं भूल सकता ॥ ११ ॥

धात्री—(क) आह भट्टिणी—उवरदा वासवदत्ता। मम वा महासेणस्स वा जादिसा गोवालअपालआ, तादिसो एव्व तुमं पुढमं एव्व अभिप्पेदो जामादुअत्ति। एदण्णिमित्तं उज्जइणिं आणीदो। अणग्गि-सक्खिअं वीणाववदेसेण दिण्णा। अत्तणो चवलदाए अणिवुत्तविवाह-मङ्गलो एव्व गदो। अहअ अह्मेहिं तव अ वासवदत्ताए अ पडिकिदिं चित्तफलआए आलिहिअ विवाहो णिव्वुत्तो। एसा चित्तफलआ तव

(क) आह भट्टिनी—उपरता वासवदत्ता। मम वा महासेनस्य वा यादृशौ गोपालकपालकौ, तादृश एव त्वं प्रथममेवाभिप्रेतो जामातेति। एतन्निमित्तमुज्जयिनीमानीतः। अनग्निसाक्षिकं वीणाव्यपदेशेन दत्ता। आत्मनश्चपलतयाऽनिर्वृत्तविवाहमङ्गल एव गतः। अथ चावाभ्यां तव च वासवदत्तायाश्च प्रतिकृतिं चित्रफलकायामालिख्य विवाहो निर्वृत्तः। एषा

तमेतमुपस्थितं राज्ञः प्रियतमाऽतीतविषयानुचिन्तनप्रसङ्गमाक्षिप्य धात्री श्रीमन्महाराज्ञ्याः सन्देशवाचोऽवशेषमुपक्षिपन्ती ब्रूते—आहेति। भट्टिनी स्वामिनी, आह सन्दिष्टवतीति यावत्। अस्मदीयस्वामिन्या वक्ष्यमाणमिदं सन्दिष्टमस्तीत्यर्थः। तमेव सन्देशाकारं दर्शयति—उवरदेति। मम वा महासेनस्य वेत्यत्र वापदद्वयं चार्थे, चकारार्थश्च समुच्चयः, गोपालकपालकौ, गोपालकश्च पालकश्चेत्येतन्नामकौ द्वौ राजकुमारौ, यादृशौ प्रीतिभाजाविति शेषः, प्रथममेव उज्जयिन्यां तवानयनात्पूर्वमेव, एतन्निमित्तं जामातृभावं त्वां प्रापयितुम्, जामातरं कर्तुमिति यावत्। न विद्यतेऽग्निर्वैवाहिकोऽग्निः साक्षी साक्षाद् द्रष्टा यस्मिन्कर्मणीत्यनग्निसाक्षिकम्, इदञ्च दत्तेति क्रियाया विशेषणम्, वीणाव्यपदेशेन वीणावादनशिक्षणव्याजेन, वस्तुतस्त्वदीयभार्यात्वेन, 'तुभ्यं से'ति शेषः। चपलतया अधीरतया, न निर्वृत्तं न सम्पन्नं विवाहमङ्गलं परिणयोत्सवो यस्येत्यनिर्वृत्तविवाहमङ्गलः, 'त्वं तया सहे'ति शेषः। अथ च तदनन्तरम्, प्रतिकृतिम् आकारसंवादिनीं काय-

धात्री—महारानी कहती हैं कि वासवदत्ता तो मर गई। मेरे या महाराज के जैसे गोपालक और पालक दो पुत्र प्रिय हैं, वैसे ही तुम हो और पहले ही से जामाता मान लिये गये हो। इसलिये तुम उज्जयिनी में लाये गये थे। अग्नि को साक्षी किये बिना ही वीणा सिखाने के बहाने वह तुम्हारे स्वाधीन कर दी गई। किन्तु अपनी चञ्चलता के कारण विवाह-मंगल हुए बिना ही तुम चले गये। तब हम दोनों ने तुम्हारी और वासवदत्ता की तसवीर चित्र-पट पर

सआसं पेसिदा । एदं पेक्खिअ णिव्वुदो होहि ।

राजा—अहो ! अतिस्निग्धमनुरूपं चाभिहितं तत्रभवत्या ।

चित्रफलका तव सकाशं प्रेषिता । एतां दृष्ट्वा निर्वृतो भव ।

च्छायाम्, चित्रफलकायां चित्रफलके काष्ठपटपत्रादिरूपचित्राधारविशेषे, स्त्रीत्वमिदं कवेर्निरङ्कुशत्वात् । आलिख्य सम्पाद्य, निर्वृत्तः कृतः । निर्वृतः अपगतप्रियावियोगव्यथः स्वस्थचित्तः, सुखीति यावत् । अयमर्थः—दैववशादिदानीं कालेन कवलिताया वासवदत्ताया दर्शनं दुर्लभम् । वत्सयोर्गोपालकपालकयोर्विषये श्रीमतो महाराजस्य मम च यथा वात्सल्यं वर्तते तथा त्वय्यपि । युष्मासु न कश्चिदावयोर्भेदभावः । उज्जयिन्यां त्वदागमनात्पूर्वमेव त्वद्गुणलुब्धाभ्यामावाभ्यां मनसा त्वं जामाता कल्पितः । तदेव च मानसोद्दिष्टं पूरयितुं त्वदीयजामातृभावसम्बन्धसङ्घटनाभिप्रायेण पुरा त्वमुज्जयिन्यामुपस्थापितः । अकृत्वाऽग्निं साक्षिणं तत्र वीणावादनकलाकौशलशिक्षणच्छलेन तुभ्यं दत्ता स्वकन्या वासवदत्ता । गान्धर्वविवाहविधिना च स्वीकृत्य तां तत्प्रीतिपाशपरवशेन त्वया चेतसश्चाञ्चल्येन विवाहमङ्गलविधानमस्मत्सम्पादयिष्यमाणमनपेक्ष्यैव तया सह गूढं स्वां नगरीमागतम् । आवां च तदेतदालोच्य त्वया सह वासवदत्तायाः परिणयं कर्तुमिच्छन्तौ तदिच्छापूर्तेरुपायमनुरूपं कमप्यपश्यन्तौ चिरतिथात्कालादभिलषितं विवाहमङ्गलं युवयोरालेख्यकल्पितयोः कृत्रिमं सम्पाद्य कथञ्चित्सन्तोषं लब्धवन्तौ । मनस्तु नौ साक्षात्सत्यं सम्बन्धं युवयोर्मिथः सम्पादयितुमिच्छति । अस्तु तावत्, गतं न शोच्यम् । 'विधेः सङ्केत एतादृगेव स्यात्कदाचि'दिति मत्वा तूष्णीमास्यते । चित्रफलकं च तदिदं युवयोराकृतिभ्यां संवदन्त्यौ प्रतिच्छाये बिभ्रत् साम्प्रतं प्रहितं त्वत्समीपम् । वासवदत्ताविरहानलज्वालाजालाकुलेन त्वया खलु चित्रदर्शनेनैव कथञ्चिच्छान्तिं नेयोऽन्तरात्मा । अयमेव तावदिदानीमुपायोऽस्ति मनसस्तेऽनुरञ्जनस्येति ।

श्रीमत्या अङ्गारवत्याः सन्देशभाषितमिदं प्रशंसति सानन्दं राजा—अहो इति । अहो इत्यानन्दसूचकमव्ययम् । अतिस्निग्धं स्नेहातिशयसमन्वितम् । श्रीमती मान्या मे श्वश्रूरसाधारणस्नेहपरिपूर्णं योग्यं च वचनमेतदुक्तवती ।

उतार कर तुम दोनों का विवाह कर दिया । यह चित्र-पट तुम्हारे पास भेजा है । इसे देखकर शान्त हो जाओ ।

राजा—अहा ! महारानी ने अत्यन्त प्रेम-युक्त और अपने अनुरूप कहा ।

वाक्यमेतत् प्रियतरं राज्यलाभशतादपि ।
अपराद्धेष्वपि स्नेहो यदस्मासु न विस्मृतः ॥ १२ ॥

पद्मावती—(क) अय्यउत्त ! चित्तगदं गुरुअणं पेक्खिअ अभिवादेदुं इच्छामि ।

धात्री—(ख) पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ। [चित्रफलकां दर्शयति।]

(क) आर्यपुत्र ! चित्रगतं गुरुजनं दृष्ट्वाभिवादयितुमिच्छामि ।
(ख) पश्यतु पश्यतु भर्तृदारिका ।

वात्सल्यातिशयसूचकं तदेतदाकर्णयतोऽतितरां प्रसीदत्यन्तरात्मा मे ।

वाक्यमिति । एतद्वाक्यं धात्रीमुखेन श्रीमत्या महाराज्ञ्या सूचितं सन्देशवचनमिदं, राज्यलाभशतादपि, शतशब्दोऽत्रायं बहुत्वं बोधयति, प्रभूतराज्यप्राप्तेरपीति यावत्, प्रियतरमतिप्रियं वर्तते, अर्थान्मम। प्रियतरत्वमेव तस्याह—**अपराद्धेष्वपीति ।** यत्, अपराद्धेष्वप्यस्मासु, बहुत्वमिदमात्मनो गौरवार्थम्, कन्यापहरणादिरूपगुरुतरापराधभाजनेऽपि मयि, अम्बयेति शेषः, जनन्याऽङ्गारवत्येति तदर्थः, स्नेहः स्वीयत्वसूचकं वात्सल्यं, न विस्मृतो विस्मृतिं न प्रापितः, अनुसृत एवेति यावत् । अयमाशयः—प्राप्तानि भूयांस्यपि राज्यानि न तथा मां प्रीणयितुं प्रभवेयुर्यथेदमिदानीं श्वश्रूवाचिकं प्रीणयति । योऽहं तदीयकन्यापहारादिकमक्षम्यापराधजातं कृतवांस्तत्रापि मयि तयोदारचित्तया यत्तावत्तादृशं वात्सल्यं दर्श्यते, तदेतदालोचयन् वचनमुदारमेतदीयमेतस्याः समधिकं रोचये । सर्वथैतादृशमुदारार्थं सन्दिशन्ती श्रीमती श्वश्रूरभिनन्दनीया मयेति। अनुष्टुप् छन्दः ॥ १२ ॥

मान्यां वासवदत्तां चित्रविन्यस्तां द्रष्टुं तत्र स्वीयमुचितमादरं च दर्शयितुं प्रस्तौति पद्मावती—**अय्यउत्तेति ।** गुरुजनं वासवदत्तामिति यावत्, स्वामिन् ! चित्रस्थमेतं पूजनीयं वासवदत्तालक्षणं जनं नयनगोचरं कुर्वत्याः प्रणामेन तं सम्भावयितुमीहते ममेदं मन इत्यर्थः ।

पेक्खदु इति । 'प्रणामकरणव्याजेन चित्रमिदं द्रष्टुमिष्यते नियतमेतये'ति

यह (दाई के द्वारा सास का भेजा हुआ संदेश-रूप) वाक्य सैकड़ों राज्य लाभ से अधिक प्रिय है । क्योंकि उन्होंने मुझ अपराधी पर से भी अपना प्रेम नहीं भुलाया ॥ १२ ॥

पद्मा०—आर्यपुत्र ! तसवीर में गुरुजन का दर्शन कर प्रणाम करना चाहती हूँ ।

धात्री—देखें, राजकुमारीजी देखें (चित्रपट दिखलाती है ।)

पद्मावती—[दृष्ट्वा आत्मगतम्] (क) हं ! अदिसदिसा खु इअं अय्याए आवन्तिआए । [प्रकाशम्] अय्यउत्त ! सदिसी खु इअं अय्याए ?

राजा—न सदृशी । सैवेति मन्ये । भोः ! कष्टम् ।

(क) हम् ! अतिसदृशी खल्वियमार्याया आवन्तिकायाः । आर्यपुत्र ! सदृशी खल्वियमार्यायाः ?

तस्यास्तद्दर्शने धात्र्याः ससम्भ्रमोक्तिरियम् । अर्थानुरोधादत्र चित्रमिदं गुरुजनं वेति कर्मपदाक्षेपः । 'पेक्खदु'पदद्विरुक्तिरत्रेयं पद्मावतीं तद्दर्शयितुं धात्र्याः सम्भ्रमं, सम्यग्दर्शनरूपमर्थं वा बोधयति । दिदृक्षितं तावद् दृश्यतां समीचीनतया निर्वर्त्यतां च राजकुमार्याऽस्मिन्समये स्वीयमनोगताभिप्रायपरिपूर्तिरित्यर्थः ।

चित्रेऽभिलिखितां वासवदत्तां स्वान्तिकन्यस्ताऽऽवन्तिकाकारेण संवदन्तीं संलक्ष्य पद्मावती सशङ्कं मानसं ब्रूते—हमिति । 'हम्' इत्यव्ययं शङ्कायाम् । अतिसदृशी अत्यन्तं समाना, खलुपदं त्वर्थे, इयं वासवदत्तायाः प्रतिकृतिः । इदमहं किं पश्यामि ? अत्रैषा तु वासवदत्तायाः प्रतिकृतिर्ब्राह्मणेन तेन पूर्वं मत्समीपे स्थापितायास्तत्रभवत्या आवन्तिकायाः सर्वतः संवादं भजत्याकारेण । तेन च पूर्णमत्रोपलभ्यते साम्यम् । किमावन्तिका वासवदत्तैव ? एवं चेत्तथ्यापह्नवात्प्रतारिताः सर्वे वयं परिव्राजकवेषधारिणा ब्राह्मणेन तेन । किमस्तीदम् ? भूतार्थं नावधारये किमपीति भावः । इत्येवं मानसं शङ्कित्वा 'वासवदत्तायाः स्वरूपेण सदृशी चेदियं प्रतिकृतिस्तर्हि नूनमेतदीयाकृतिसादृश्यविशेषशालिनी श्रीमत्यावन्तिका वासवदत्तैव । यथार्थं च वासवदत्तास्वरूपं प्रियः पतिरेव परिचिनोती'ति राजानमुद्दिश्य प्रकाशं काकूक्तिमुपन्यस्यति—अय्यउत्तेति । खलुपदं वाक्यालङ्कारे, आर्याया वासवदत्ताया इति यावत् । नाथ ! किमिदं चित्रमाकारेण वासवदत्तया समानं वर्तते ? एतादृशाकारैव भवतः प्रियासीद्वासवदत्ता ?

नेति । 'प्रतिकृतावस्यां वासवदत्तासादृश्यमस्ति न वे'त्येतादृशि पद्मावत्याः

पद्मा०—(देखकर स्वगत) हूँ, यह तो आर्या आवन्तिका से बहुत ही मिलती-जुलती है । (प्रकट) आर्यपुत्र ? यह तसवीर आर्या के ऐसी है ?

राजा—सदृश ही नहीं, मैं समझता हूँ कि यह वही है । हाय ! शोक !—

अस्य स्निग्धस्य वर्णस्य विपत्तिर्दारुणा कथम् ? ।
इदं च मुखमाधुर्यं कथं दूषितमग्निना ? ॥ १३ ॥

पद्मावती—(क) अय्यउत्तस्स पडिकिदिं पेक्खिअ जाणामि इअं अय्याए सदिसी ण वेत्ति ।

(क) आर्यपुत्रस्य प्रतिकृतिं दृष्ट्वा जानामीयमार्यायाः सदृशी न वेति ।

प्रश्ने राज्ञ उत्तरमिदम् । अत्र तस्याः सादृश्यं न दृश्यते, सादृश्यस्य भेदघटितत्वात् सर्वथाऽनुपलब्धेः । एषा तु तदभिन्ना ध्रुवं तद्रूपैव साक्षादित्येवं कल्पना ममेत्यर्थः । सम्प्रति प्रियायाः प्रतिकृतेर्दर्शनादुद्बुद्धं विषादभावोदयं दर्शयति राज्ञः-भो इति । भो इत्यव्ययं कष्टसूचकम् । अहह ! महत् कष्टम्, कथमिदं सोढव्यम् ?

तदेव कष्टं विशदयति—**अस्येति** । अस्य पुरो दृश्यमानस्य मयाऽनुभूतचरस्येत्यर्थः, स्निग्धस्य सरसस्य लावण्यपूर्णस्य, वर्णस्य रूपस्येति यावत्, दारुणा भीषणा असदृशीति यावत्, विपत्तिर्विनाशः, कथं किमिति, अभूत् इति शेषः । च अपि च, इदम् अलौकिकं, मुखमाधुर्यं मुखस्याननस्य माधुर्यं सौन्दर्यमाकर्षकत्वम्, अग्निना वह्निना, कथं केन प्रकारेण, दूषितं वैरूप्यं नीतं विध्वंसितमित्यर्थः । स्वरूपलावण्यं वदनसौन्दर्यं च दर्शनीयमिदमेतदीयं कथङ्कारमसदृशं विनाशमध्यगच्छत् ? उचितो न चासीत्कमनीयाकृतिर्देहोऽयं दाहविषयीभवितुम् । अनुष्टुब् वृत्तमिदम् ॥१३॥

'अभिन्नाकृतिरियं वासवदत्तायाः प्रतिकृति'रित्येवं पत्युर्विदित्वापि स्वयं तथाथार्थ्यं जिज्ञासमाना पद्मावती 'आर्यपुत्रस्य प्रतिकृतिस्तदाकारसंवादिनी चेद्वासवदत्ताया अपि तादृश्येव सा कल्प्येत, एकस्याः प्रतिकृतेर्यथार्थरूपत्वे तदितरस्या अपि तथात्वमनुमातुं शक्य'मिति स्वरूपेण पूर्णतया परिचितस्य पतिदेवस्य प्रतिकृतिं द्रष्टुमिच्छन्ती ब्रूते—**अय्यउत्तस्सेति** । जानामीति भविष्यत्कालसामीप्ये लट्, निर्णेष्यामीत्यर्थः । 'प्रतिकृतावत्र वासवदत्तायाः सादृश्यं विद्यते नवे'ति विषयं निर्णेतुमार्यपुत्रस्य प्रतिकृतिः पूर्वं मया दर्शनीया । ततस्तद्दर्शनेन तत्रेवात्रापि सादृश्यमसादृश्यं वा किमपि यथोचितं निर्धारणीयमिति भावः ।

इस सुन्दर रूप पर भयानक विपदा कैसी ? और इस मुख की मधुरता (लावण्य) को आग ने कैसे बिगाड़ दिया ? ॥ १३ ॥

पद्मा०—आर्यपुत्र की तसवीर देखकर यह दूसरी तसवीर आर्या के समान है या नहीं यह मैं समझूंगी ।

धात्री—(क) पेक्खदु पेक्खदु भट्टिदारिआ ।

पद्मावती—[दृष्ट्वा] (ख) अय्यउत्तस्स पडिकिदीए सदिसदाए जाणामि इअं अय्याए सदिसित्ति ।

राजा—देवि ! चित्रदर्शनात् प्रभृति प्रहृष्टोद्विग्नामिव त्वां पश्यामि । किमिदम् ?

(क) पश्यतु पश्यतु भर्तृदारिका ।

(ख) आर्यपुत्रस्य प्रतिकृत्याः सदृशतया जानामीयमार्यायाः सदृशीति ।

अत्रार्थेऽनुमतिं दर्शयन्त्याह धात्री—पेक्खदु इति । क्रियापदद्विरुक्तिरियं तद्विलोकनस्यावश्यकर्तव्यतां द्योतयति । राजकुमार्याऽवश्यं दर्शनीयं तच्चित्रं परीक्षणीयं च यथार्थं तत्स्वरूपमित्यर्थः । इतोऽनन्तरं वत्सराजप्रतिकृतिदर्शनं पद्मावत्या धात्रीकारितमर्थानुरोधादवगम्यम् ।

विलोकितार्यपुत्रप्रतिकृतिश्च पद्मावती सादृश्यं तत्रोपलभमानाऽभिधत्ते—अय्यउत्तस्सेति । दृष्ट्वा, अर्थात्पत्युश्चित्रम् । जानाम्यनुमिनोमि । चित्रमिदं तत्रभवतः पत्युराकारेण पूर्णं संवदति । अतो वासवदत्ताया अपि तद्यथार्थं तदाकाराविसंवादि स्यादित्येवमनुमीयते । एकत्राकारसंवादोपलब्ध्याऽन्यत्रापि तत्संवादकल्पना भवितुमर्हतीति भावः ।

इदानीं वासवदत्तायाः प्रतिकृतिं तत्स्वरूपेण संवदन्तीं विलोक्य तस्याश्च स्वसमीपन्यस्तावन्तिकासमानाकृतित्वमाकलय्य पद्मावती 'सम्प्रत्यार्यपुत्रप्रियतमा जीवन्त्युपलब्धा वासवदत्तेति हर्षं, वासवदत्तारूपा च सेयमावन्तिका स्वान्तिके न्यासरूपेण केनापि स्थापिता कथङ्कारमस्माभिर्लभ्ये'त्युद्वेगं च मानसं भूयस्तरां प्राप्नोति स्मेत्येवात्र वस्तुस्थितिः । राजा तु चित्रदर्शनादुद्भूतां हर्षोद्वेगशबलीकृतां पद्मावत्या अवस्थां संलक्ष्य तस्याः पुरस्तात्प्रश्नमेवमुपस्थापयति—देवीति । प्रहृष्टा प्रसन्ना चोद्विग्ना व्याकुला चेति तां प्रहृष्टोद्विग्नाम् । प्रिये ! चित्रदर्शन-

---

धात्री—देखिये, देखिये राजकुमारीजी !

पद्मा०—(देखकर) आर्यपुत्र की प्रतिकृति के संवाद से 'यह आर्या से मिलती-जुलती है' ऐसा मैं समझती हूँ ।

राजा—देवी ! चित्र देखने के समय से मैं तुम्हें प्रसन्न और साथ ही उद्विग्न-सा देख रहा हूँ । यह क्या ?

पद्मावती—(क) अय्यउत्त ! इमाए पडिकिदीए सदिसी इह एव्व पडिवसदि ।

राजा—किं वासवदत्तायाः ?

पद्मावती—(ख) आम ।

राजा—तेन हि शीघ्रमानीयताम् ।

(क) आर्यपुत्र ! अस्याः प्रतिकृत्याः सदृशीहैव प्रतिवसति ।
(ख) आम् ।

कालादारभ्य प्रसन्ना व्याकुला च दृश्यसे । किन्नु नामेदम् ? कथमेतौ परस्परविरोधिनौ ते भावौ ? किं तावदत्रास्ति रहस्यम् ?

समयेऽस्मिन्समुचितप्रकाशनं रहस्यमेतद्विषयकं प्रकाशतां नयन्ती पद्मावती प्राह—**अय्यउत्तेति** । इहैव मत्समीप एवेति यावत् । एतस्याश्चित्रेण समाना कारा नाथ ! काचित्कान्ता मदन्तिक एव साम्प्रतं निवसन्ती वर्तते । इदमेव नूनं भावद्वयशबलां दशामैषीन्मामिति भावः । हर्षोद्वेगयोरात्मनः स्फुटतरं कारणं किमप्यनिर्दिशन्ती पद्मावत्यत्र तावदित्थमिमां वस्तुस्थितिं दर्शयामास ।

पद्मावत्या वचनमिदं श्रवणगोचरीकृत्य तां राजा सकुतूहलमाचष्टे—**किमिति** । सदृशीति शेषः । किं वासवदत्तया समानमाकारं वहन्ती विद्यते काचिदत्र ?

आमेति । 'सत्यमेतत्, तादृशी वर्तते काप्यत्रे'ति पद्मावत्या उत्तरमिदं पूर्वोक्ते राज्ञः प्रश्ने ।

सञ्जातकौतूहलश्च वासवदत्तोपलब्धिसम्भावनया नरपतिः 'समीचीनः साम्प्रतं शुभोदर्कश्च विषयोऽयं प्रत्यक्षीकर्तव्य' इत्येवं तात्पर्येण तदानयनमादिशन् ब्रूते—**तेन हीति** । एवं चेद्विद्यते, तदसौ सत्वरं पुरस्तान्मे समानेतव्या । वृत्तान्तमेनं सम्यङ् निरूपयिष्यामीति भावः ।

आर्यपुत्रस्य सन्निधौ तदुपस्थितेर्यथावत्प्रकारं प्रदर्शयन्ती पद्मावती पुनराह—

पद्मा०—आर्यपुत्र ! इस चित्र के ऐसी एक स्त्री यहीं रहती है ।
राजा—क्या वासवदत्ता के ऐसी ?
पद्मा०—हाँ ।
राजा—तो शीघ्र लिवा लाओ ।

पद्मावती—(क) अय्यउत्त ! मम कण्णाभावे केणवि बह्मणेण मम भइणिअत्ति ण्णासो णिक्खित्तो । पोसिदभत्तुआ परपुरुसदंसणं परिहरदि । ता अय्यं मए सह आअदं पेक्खिअ जाणादु अय्यउत्तो ।

राजा—

यदि विप्रस्य भगिनी व्यक्तमन्या भविष्यति ।

(क) आर्यपुत्र ! मम कन्याभावे केनापि ब्राह्मणेन मम भगिनिकेति न्यासो निक्षिप्तः । प्रोषितभर्तृका परपुरुषदर्शनं परिहरति । तदार्या मया सहागतां दृष्ट्वा जानात्वार्यपुत्रः ।

अय्यउत्तेति । कन्याभावे अनूढावस्थायाम्, अनुकम्पनीया भगिनी भगिनिका, अनुकम्पायां कन्, इति इत्थम्, उक्त्वेति शेषः । तत् तस्मात्कारणात्, जानातु निश्चयं करोतु । स्वामिन् ! न सञ्जातमासीद्यदा मत्पाणिग्रहणं तदा किल ब्राह्मणः कश्चिदागत्य 'ममेयं दयापात्रं भगिनी'ति न्यासरूपेण तां मत्सविधे स्थापितवान् ।-अस्याः पतिः परदेशं गतो वर्तते, इयञ्च 'परपुरुषो न दर्शनीय' इत्येतद् व्रतं धत्ते । अतस्तामहमात्मना सार्धमत्राऽऽनये । मत्साहचर्येण समागतां च नयनयोः पन्थानमानीय निश्चयमेतं कर्तुमर्हतीदानीं भवान्, यत्—'सैव नवे'ति । अत्र 'ता अय्यं' इत्येतद्वाक्यस्थले 'ता अय्या पेक्खदु सदिसी ण वेत्ति' (तदार्या पश्यतु सदृशी न वेति) इत्यदः पाठान्तरमुपलभ्यते कुत्रचित्पुस्तके । अस्यार्थः–यतः सा परपुरुषस्य दर्शनं न करोति, ततः कारणात्पूज्या वासवदत्तोपमाता वसुन्धरा 'वासवदत्तासादृश्यामस्यां वर्तते न वे'ति विषयमेनं प्रत्यक्षीकरोत्विति ।

पद्मावत्या वचनमाकर्ण्य, ब्राह्मणभगिनीत्वात्तस्या आवन्तिकाया वासवदत्तासादृश्यं तत्राऽसम्भवन्मन्यमानो ब्रवीति राजा—**यदीति** । यदि चेत्, सेति प्रकरणानुरोधाद्गम्यम्, विप्रस्य भगिनी ब्राह्मणस्य कस्यचित्स्वसा वर्तते, तर्हीत्यार्थम्, व्यक्तं स्पष्टम्, अन्या वासवदत्ताया इतरा काचिद्, भविष्यति स्यादिति

पद्मा०—आर्यपुत्र ! मेरे कुआँरेपन में किसी ब्राह्मण ने, 'मेरी बहन है' ऐसा कहकर न्यास (थाती) रूप से उसे रक्खा है । वह प्रोषित-भर्तृका होने से पर-पुरुष का दर्शन बचाती है, तथापि मैं (युक्ति से) उसे यहाँ लिवा लाती हूँ । तब आप उसे देखकर समझ लें कि यह वही है या नहीं । (इसलिये आर्या वसुन्धरा देखें कि यह उसके ऐसी है या नहीं ?)

राजा—यदि वह ब्राह्मण की बहन है, तो निश्चय दूसरी होगी । संसार में एक दूसरे के

परस्परगता लोके दृश्यते रूपतुल्यता ॥ १४ ॥

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—(क) जेदु भट्टा। एसो उज्जइणीओ बह्मणो, भट्टिणीए हत्थे मम भइणिअत्ति णासो णिक्खित्तो, तं पडिग्गहिदुं पडिहारं उवट्ठिदो।

(क) जयतु भर्ता। एष उज्जयिनीयो ब्राह्मणः, भर्त्र्या हस्ते मम भगिनिकेति न्यासो निक्षिप्तः, तं प्रतिग्रहीतुं प्रतीहारमुपस्थितः।

सम्भाव्यते। रूपसादृश्येन तथात्वं शङ्क्यते चेत्, तत्राह–**परस्परगतेति**। लोके जगति, परस्परगता पारस्परिकी, एकस्या व्यक्तेरन्यया सहेति यावत्, रूपतुल्यता स्वरूपसादृश्यं, दृश्यते प्रत्यक्षमनुभूयते। अत्रैषा न्यासरूपेण स्थापिता यतो ब्राह्मणभगिनीपदमालम्बते, ततो निःसन्देहमसौ काचिद्वासवदत्ताव्यतिरिक्ता भवेत्। ब्राह्मणी सा क्षत्रियराजकुमारी वासवदत्ता कथं स्यात्? परस्परं रूपसादृश्येन 'सैवेय'मिति च नैव निर्धारयितुं शक्यम्। रूपेण सादृश्यं हि बहूनां बहुत्र प्रत्यक्षमुपलभ्यते, किन्तु नैतावतोपलब्धव्यं तत्र ताद्रूप्यम्। न हि केवलं रूपसादृश्यं ताद्रूप्यप्रयोजकं भवतीति भावः। अनुष्टुप् छन्दः ॥ १४ ॥

इदानीं कविः प्रसङ्गोचितं यौगन्धरायणप्रवेशं कारयिष्यंस्तत्र तस्योपस्थितिं सूचयन्त्याः प्रतीहार्याः प्रवेशं दर्शयति—**प्रविश्येति**।

तद्वाचं प्रपञ्चयति—**जेदु** इति। 'विजयोऽस्तु स्वामिन' इत्येवं जयाशंसनरूपोऽयं समुदाचारः प्रतीहार्याः। **एसो** इति। एष उपस्थापयिष्यमाणः, 'उज्जयिनी निवासोऽस्ये'त्युज्जयिनीयः। 'सोऽस्य निवास' इत्यधिकारे 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां 'वृद्धाच्छ' इति छप्रत्यये तस्य ईयादेशः। 'ब्राह्मण' इत्येतस्य 'प्रतीहारमुपस्थित' इत्यनेन सम्बन्धः। भर्त्र्याः पद्मावत्या इति यावत्, इति इत्येवमुक्त्वा, 'य' इति शेषः, आवन्तिकारूपेण प्रसिद्ध इत्यर्थः। 'इयं मे भगिनी परिपालनीये'त्युक्तिपूर्वं तत्रभवत्याः पद्मावत्याः सन्निधौ न्यासरूपेण येन या स्थापिता-

---

रूप की समानता दिखाई पड़ती है ॥ १४ ॥

प्रती०—(आकर) महाराज की जय हो। यह उज्जयिनी का ब्राह्मण राजकुमारी के पास धरोहर-रूप में रक्खी हुई अपनी बहन को लेने के लिये द्वार पर आ खड़ा है।

राजा—पद्मावति ! किन्तु स ब्राह्मणः ?

पद्मावती—(क) होदव्वं ।

राजा—शीघ्रं प्रवेश्यतामभ्यन्तरसमुदाचारेण स ब्राह्मणः ।

प्रतीहारी—(ख) जं भट्टा आणवेदि । [निष्क्रान्ता ।]

(क) भवितव्यम् ।
(ख) यद् भर्ताज्ञापयति ।

सीत्पुरा, स चोज्जयिनीनिवासी विप्र आत्मनो न्यासभूतामेनामिदानीं पुनरादातुं द्वारदेशं समागतो वर्तत इति स्पष्टार्थः ।

पद्मावतीति । 'उज्जयिनीनिवासिनस्तस्य ब्राह्मणेतरत्वे सति तेन न्यासीकृतेयं पद्मावत्युक्तरूपसाम्याद्वासवदत्ता भवितुमर्हति, अन्यथा च नेदं सम्भवती'ति पूर्वोक्तमेतस्य ब्राह्मणत्वं द्रढयितुं तेन च सन्देहमात्मनो निराकर्तुं पद्मावतीं प्रति प्रश्नोऽयं राज्ञः । अयि ! प्रिये ! स चायं न्यासनिक्षेप्ता पुरुषो ब्राह्मणजातीयः किमु ?

होदव्वमिति । भवदुक्तेनेति शेषः । भवदुक्तं सम्भवत्येतत् । ब्राह्मण एव स्यादयमित्यर्थः ।

पद्मावतीवचनात्तदीयं ब्राह्मणत्वमवगच्छन्नतिथिसत्कारप्रदर्शनपुरःसरं तं किल तत्रोपस्थापयितुमादिशंस्त्वरयति प्रतीहारीं राजा—**शीघ्रमिति** । अभ्यन्तरसमुदाचारेण, अभ्यन्तरे गृहाभ्यन्तरे यः समुदाचारः पाद्यादिप्रदानरूपोऽभ्यागतजनोचितः सत्कारस्तेन तत्प्रदर्शनेन । गृहाभ्यन्तरमानीय गृहागतजनोचितं सत्कारं प्रदर्श्य विप्रममुं सत्वरमत्रोपस्थापय त्वम् । विलम्बमत्र मा कार्षीरित्यर्थः ।

राजाज्ञामङ्गीकृत्य तथा कर्तुं प्रतिजानीते प्रतीहारी—**जमिति** । स्वामिन आदेशं साधयितुं साधयाम्यहमित्यर्थः । **निष्क्रान्तेति** । प्रस्थानं ततस्तस्याः सूचयत्येतत् ।

राजा—पद्मावती ! क्या वह ब्राह्मण है ?
पद्मा०—हो सकता है !
राजा—घरके भीतर लाकर उचित सत्कार करके उस ब्राह्मणको शीघ्र यहाँ उपस्थित करो।
पद्मा०—स्वामी की जो आज्ञा ।

(चली गई ।)

राजा—पद्मावति ! त्वमपि तामानय।

पद्मावती—(क) जं अय्यउत्तो आणवेदि। [निष्क्रान्ता।]

[ततः प्रविशति यौगन्धरायणः प्रतीहारी च।]

यौगन्धरायणः—भोः ! [आत्मगतम्]

प्रच्छाद्य राजमहिषीं नृपतेर्हितार्थं
कामं मया कृतमिदं हितमित्यवेक्ष्य।

(क) यद् आर्यपुत्र आज्ञापयति।

इदानीं भूपतिर्न्यासभूतां तां तत्रोपस्थापयितुं प्रेरयति पद्मावतीम्—**पद्मावतीति**। प्रिये ! त्वयापि गम्यतां तत्र, न्यासभूता समानीयतां सेयम्। अवेक्षणीयस्तावदयं समुपस्थितो विषयः।

'श्रीमदाज्ञानुसारं विधीयते मये'त्याशयेन पद्मावत्याह राजानम्—**जमिति**। सूचनानुसारं तद्गमनं दर्शयति—**निष्क्रान्तेति**।

इदानीं राजादेशानुसारं प्रतीहार्या सह यौगन्धरायणस्य प्रवेशं दर्शयति कविः—**तत इति**।

चिराद् दृग्गोचरीकृतं राजानमुपगच्छन् स्वीयानि कार्याणि कृतपूर्वाणि स्मरणगोचरीकुर्वन् यौगन्धरायणो मानसमात्मनो वितर्कं दर्शयति—**भोः इत्यादि**। आत्मानमुद्दिश्य भोः इतीदं सम्बोधनपदं वितर्कसूचकं प्रायुङ्क्त यौगन्धरायणः।

तमेव तद्वितर्कमाह—**प्रच्छाद्येति**। नृपतेः स्वामिनो राज्ञ उदयनस्य, हितार्थं हिताय, हितमत्र नूतनपद्मावतीविवाहसङ्घटनैकरूपं बोद्धव्यम्, राजमहिषीं महाराज्ञीं वासवदत्तामिति यावत्, प्रच्छाद्य 'वह्नावियं दग्धे'तिमिथ्याप्रवादप्रचारणपुरःसरं स्वरूपेण सङ्गोप्य, हितं शत्रुहृतराज्यप्रत्याहरणसाधनत्वेन हितकरं, भवेदिति शेषः, इति इत्थम्, आलोच्य मनसिकृत्य, मया यौगन्धरायणेन, इदं पद्मावत्याः समीपे न्यासरूपेण वासवदत्ताया अवस्थापनं स्वामिना सह पद्मावत्याः परिणयनं चेत्येतत्कार्यद्वयं, कामं स्वैरं यथा स्यात्तथा, कृतं सम्पादितम्। नामेति वाक्या-

---

राजा—पद्मावती ! तुम भी उस स्त्री को ले आओ।

पद्मा०—आर्यपुत्र की जो आज्ञा। (चली गई।)

(बाद यौगन्धरायण और प्रतीहारी का प्रवेश।)

यौगं०—(स्वगत) ओह !

पद्मावती के साथ विवाह होने से महाराज का हित है—ऐसा सोच कर उस कार्य की

सिद्धेऽपि नाम मम कर्मणि पार्थिवोऽसौ
किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे ॥ १५ ॥

प्रतीहारी—(क) एसो भट्टा। उपसप्पदु अय्यो।

(क) एष भर्ता। उपसर्पत्वार्यः।

लङ्कारे, मम कर्मणि मत्कृते कार्ये, सिद्धेऽपि स्वामिनः सन्निधौ शत्रुहृतराज्यप्रापकत्वेन सिद्धिं गतेऽपि सति, असौ पुरो दृश्यमानोऽस्मत्स्वामी, पार्थिवः श्रीमान् राजोदयनः, किं वक्ष्यति समीचीनमसमीचीनं वाऽभिधास्यति, इति इत्येवं, मे मम, हृदयं मनः, परिशङ्कितं परितः शङ्काकुलं वर्तते। 'प्रणयविशेषशालिन्यां वासवदत्तायामवस्थितायां न कदापि राज्ञे परिणयान्तरमात्मनो रोचेत, संवृत्ते च पद्मावत्या समं परिणये श्रीमन्महासेनमहीपालसाहायकलाभेन शत्रुं पराजित्य राजा परायत्तमात्मनो राज्यं पुनः स्वायत्तीकर्तुं प्रभवे'दित्येवं भाविशुभोदर्कमर्थं पर्यालोच्य सिद्धादेशप्रत्ययादहं श्रीमन्महाराज्ञीं वासवदत्तां 'वह्नावियं दग्धे'ति मिथ्याप्रवादविषयीभूतां तद्भिन्नरूपवेषामावन्तिकारूपेण पद्मावत्याः समीपे 'मदागमनं यावन्न्यासोऽयमभिरक्षणीय' इत्येवं निगद्य सम्यङ् निक्षिप्तवान्। कालेन पद्मावत्यां परिणीतायां प्राप्तायां च परहस्तगतायां राज्ञा विजयिना राज्यलक्ष्म्यां, यद्यपि मे सकलं कार्यं सफलतामध्यगच्छत्तथापि यन्मया 'वासवदत्तोपरते'त्यलीकवार्ताप्रख्यापनपुरःसरमात्मनो भगिनीत्वेन निर्दिश्य सा परहस्ते न्यासीकृता, तमेतं विषयमनुचिन्त्य 'श्रीमान् वत्सराजोऽयं कार्यमिदं मदीयमुचितमनुचितं वा वेत्स्यति तदर्थं च साध्वसाधु किं वाऽभिधास्यति मा'मित्येवमिदानीं वलवती मे शङ्का वर्तत इति भावः। वसन्ततिलकं छन्दः ॥ १५ ॥

स्वामिनं प्रदर्श्य तदुपसर्पणं कारयन्ती यौगन्धरायणमाह प्रतीहारी—एसो इति। अयमत्र स्वामी विराजते, सन्निधावुपस्थीयतां भवता।

पूर्ति के लिये उनकी प्रधान रानी वासवदत्ता को 'वह आग में जल गई' इस प्रकार झूठ बात के साथ स्वरूप से छिपा कर, 'यह कार्य राज्य-प्राप्ति का साधन अत एव हितकर होगा, इस विचार से, पद्मावती के पास वासवदत्ता को धरोहर के रूप में रखना तथा महाराज का पद्मावती के साथ विवाह सम्बन्ध सिद्ध कराना—यह कार्य मैंने अपनी इच्छा से किया। मेरे सब काम के सिद्ध होने पर भी—ये महाराज उदयन इस विषय में अच्छा या बुरा मुझे क्या कहेंगे'—इस प्रकार मेरा मन शंका से व्याकुल हो रहा है ॥ १५ ॥

प्रती०—ये महाराज हैं। आप आगे बढ़ें।

यौगन्धरायणः—[उपसृत्य] जयतु भवान् जयतु।

राजा—श्रुतपूर्व इव स्वरः। भो ब्राह्मण ! किं भवतः स्वसा पद्मावत्या हस्ते न्यास इति निक्षिप्ता ?

यौगन्धरायणः—अथ किम् ?

राजा—तेन हि त्वर्यतां त्वर्यतामस्य भगिनिका।

समीपमुपगतो राज्ञः प्रस्तौति जयाशंसनं यौगन्धरायणः—**जयत्विति**। आदरातिशये पौनःपुन्ये च 'जयतु जय'त्विति द्विरुक्तिः। पुनःपुनर्विजयश्रीरलङ्करोतु तत्रभवन्तं भवन्तमित्यर्थः।

श्रुतपूर्व इति। पूर्वं श्रुतः श्रुतपूर्वः, 'पूर्वकालैके'त्यादिना समासः, स्वरः शब्दविशेषः, इति एवंरूपेण। 'श्रूयमाणः शब्दविशेषोऽयं पूर्वं श्रुतः परिचित इव मे प्रतीयत' इतीदं राज्ञो वचनमात्मगतत्वेन युज्यते। राजा च यौगन्धरायणकृतं विजयाशंसनं निशम्य, पूर्वं बहुशः श्रुतं तदीयं स्वरं परिचितवान्, किन्तु तत्प्रयोक्तारं प्रच्छादितात्मरूपं तेन रूपेणाऽपरिचितं पुरुषविशेषं 'सोऽय'मित्येवं न नाम प्रत्यभिज्ञातवान्, अत एवमुक्तवान्। श्रुतिगोचरीकृतं न्यासरूपं विषयं तन्मुखेन स्फुटयितुं प्रकाशं पृच्छति यौगन्धरायणं राजा—**भोः** इति। हे ! विप्र ! किं भवान् स्वकीयां भगिनीं पद्मावत्याः सन्निधौ न्यासरूपेण स्थापितवान् ? अपि नाम सत्योऽयं विषयः ?

राज्ञा पृष्टस्य विषयस्य सत्यतां दर्शयन् यौगन्धरायणो ब्रूते—**अथेति**। किमन्यत् ? यथार्थमेवास्तीदम्। अहमेवात्मभगिनीं न्यासरूपेण स्थापितवानत्रेत्यर्थः।

तेन हीति। पद्मावतीं सत्वरमुपस्थापयितुकामस्य राज्ञो वचनमिदं प्रतीहारीं प्रति। तेन हि ततः कारणादित्यर्थः। 'त्वर्यता'मिति णिजन्तात्त्वरयतेः कर्मणि लोट्, द्विरुक्तिस्त्वराविशेषं सूचयति, त्वयेति कर्तृपदं गम्यम्। ब्राह्मणोऽयं न्यासमात्मनो ग्रहीतुमागतः। अत एतस्य भगिनीं त्वरय त्वम्। यथा च सेयमतिशीघ्रमत्रोपस्थिता भवेत्तथा विधेहीत्यर्थः।

यौग०—(समीप जाकर) जय हो, आपकी जय हो।

राजा—स्वर तो पहले सुना हुआ-सा प्रतीत होता है। हे ब्राह्मण ! पद्मावती के पास आपकी बहन न्यास-रूप से रक्खी हुई है क्या ?

यौग०—और क्या ?

राजा—(प्रतीहारी से) तो इनकी बहन को यहाँ आने की जल्दी करो।

प्रतीहारी—(क) जं भट्टा आणवेदि । [निष्क्रान्ता ।]

[ततः प्रविशति पद्मावती आवन्तिका प्रतीहारी च ।]

पद्मावती—(ख) एदु एदु अय्या । पिअं दे णिवेदेमि ।

आवन्तिका—(ग) किं किं ?

पद्मावती—(घ) भादा दे आअदो ।

(क) यद् भर्ताज्ञापयति ।

(ख) एत्वेत्वार्या । प्रियं ते निवेदयामि ।

(ग) किं किम् ?

(घ) भ्राता ते आगतः ।

'यथाश्रीमदादेशमनुष्ठीयते मये'त्याह प्रतीहारी स्वामिनम्—**जमिति**। राजाज्ञां निवर्तयितुं प्रतीहार्याः प्रस्थानं ततः सूचयति—**निष्क्रान्तेति** ।

नरपतेराज्ञयावन्तिकामानेतुं पूर्वं पद्मावती ततश्च तां त्वरयोपस्थापयितुं गतासीत्प्रतीहारी । साम्प्रतं तिस्रोऽप्येता रङ्गमञ्चं प्रविशन्तीर्दर्शयति कविः—**ततः प्रविशतीति** ।

राजानमुसर्पन्ती पद्मावती तद्भ्रातुरुपस्थितेर्वार्तामावन्तिकां निवेदयितुमुद्यता ब्रूते—**एदु एद्विति** । एतुपदद्विरुक्तिरियमागमनत्वरां सूचयति । सत्वरमागन्तव्यं श्रीमत्या, भवतीमहं किञ्चिद्रुचिकरमभीष्टं श्रावये वृत्तम्, यच्छ्रुत्वा भृशं प्रसन्नया भूयेत भवत्या ।

तदभीष्टवृत्तान्तश्रवणविधावात्मनः कौतूहलं दर्शयत्यावन्तिका—**किमिति** । द्विरुक्तं किंपदं प्रियवार्ताश्रवणकौतूहलं व्यनक्ति । किम् कीदृशं तत् ? । सविशेषं तत्स्वरूपं निवेदनीयमित्यर्थः ।

तदेव प्रियं निवेदयति पद्मावती—**भादेति** । समुपस्थितोऽद्य भवदीयो भ्राता, येन किलात्र भवती निक्षिप्ता, यद्दर्शनं च भवत्याः प्रतिवासरमाकाङ्क्षितमासीत् ।

प्रती०—जैसी प्रभु की आज्ञा । (चली गई ।)

(पद्मावती आवन्तिका और प्रतीहारी आती है ।)

पद्मा०—आओ, आर्या ! आओ । मैं तुम्हें प्रिय बात सुनाती हूँ ।

आव०—क्या ? क्या ?

पद्मा०—आपके भाई आए हैं ।

आवन्तिका—(क) दिट्ठिआ इदाणिं पि सुमरदि।

पद्मावती—[उपसृत्य] (ख) जेदु अय्यउत्तो। एसो ण्णासो।

राजा—निर्यातय पद्मावति! साक्षिमन्न्यासो निर्यातयितव्यः। इहात्रभवान् रैभ्यः अत्रभवती चाधिकरणं भविष्यतः।

(क) दिष्ट्येदानीमपि स्मरति।

(ख) जयत्वार्यपुत्रः। एष न्यासः।

भ्रात्रागमनवृत्तमाकर्णयन्त्यावन्तिका ब्रूते—दिट्ठिआ इति। दिष्ट्येति हर्षेण भाग्येनेति वा तदर्थः। अत्र मन्निक्षेपसमयादद्य यावत्तु विस्मृतवानासीत्स माम्। सौभाग्यं हर्षस्य वाऽवसरोऽयं मम, यत्साम्प्रतमसौ मम स्मरणं कृत्वा समागतवानत्र।

इदानीं पद्मावती श्रीमतो भर्तुः समीपं गत्वा न्यासभूतां तामावन्तिकां तं दर्शयन्ती वचनमिदं प्रयुङ्क्ते—जेदु इति। विजयः स्तात्तत्रभवतः स्वामिनः। एषाहमानीतवती न्यासभूतामिमाम्।

न्यासभूतां तामुपस्थितां दृष्ट्वा 'ब्राह्मणस्य भगिनीत्वेन नेयं वासवदत्ते'ति चेतसा निश्चितवांश्चित्रसादृश्यपरीक्षणविषयाद्विमुखीभवन्नरपतिः समागताय तस्मै तन्न्यासप्रत्यर्पणं कारयितुकामस्तदर्थं पद्मावतीं प्राह—निर्यातयेति। निर्यातनं न्यासप्रत्यर्पणम्, तथा चामरः—'निर्यातनं वैरशुद्धौ दाने न्यासार्पणेऽपि च' इति। साक्षी विद्यते यत्रेति साक्षिमत् साक्षिपुरःसरम्, क्रियाविशेषणमिदम्, अत्रभवती धात्रीत्यर्थः, अधिकरणं निर्णयस्थानम्। अयि! पद्मावति! न्यासोऽयं प्रत्यर्पणीय एतस्मै, न्यासप्रत्यर्पणं च सम्भाव्यमानाऽनभ्युपगमप्रसङ्गभिया कश्चित्साक्षिणं पुरस्कृत्यैव कर्तव्यम्। अत एतस्मिन्विषये श्रीमान् रैभ्यः श्रीमती धात्री चेत्युभौ निर्णयस्थानतां नेतव्यौ। एतावेव साक्षिणौ कृत्वा न्यासप्रत्यर्पणमिदं कार्यमित्यर्थः।

राजावचनादुभयोः साक्षित्वे न्यासं प्रत्यर्पयितुमुद्यता तदुचितं वचनमाह न्यास-

---

आव०—धन्य भाग्य! अब भी सुध ले रहे हैं।

पद्मा०—(पास पहुँच कर) आर्यपुत्र की जय हो। यह धरोहर है।

राजा—पद्मावती! धरोहर लौटा दो। साक्षियों के सामने धरोहर लौटाना चाहिये। इस विषय में आये रैभ्य और आर्या वसुन्धरा साक्षी अथवा न्याय-सभा के सभ्य होंगे।

पद्मावती—(क) अय्य ! णीअदां दाणिं अय्या ।

धात्री—[आवन्तिकां निर्वर्ण्य] (ख) अम्मो ! भट्टिदारिआ वासवदत्ता !

राजा–कथं महासेनपुत्री ? देवि ! प्रविश त्वमभ्यन्तरं पद्मावत्या सह।

यौगन्धरायणः–न खलु न खलु प्रवेष्टव्यम्। मम भगिनी खल्वेषा ।

(क) आर्य ! नीयतामिदानीमार्या ।

(ख) अम्मो ! भर्तृदारिका वासवदत्ता !

निक्षेप्तारं पद्मावती—**अय्येति** । अयि ! मान्य ! अत्रभवता न्यासरूपेण मत्सन्निधौ स्थापिता श्रीमत्यावन्तिकेयं मया श्रीमते प्रत्यर्प्यते, साम्प्रतं नेतव्या च स्वात्मना सार्धं श्रीमता ।

न्यासप्रत्यर्पणकाले दृग्गोचरमावन्तिकां कृत्वा स्वरूपच्छाययैतां परिचितां वासवदत्तां कलयन्ती धात्री तदुपलब्धौ विस्मयं प्रकटयन्ती ब्रूते—**अम्मो** इति । आश्चर्यसूचकम् 'अम्मो' इत्यव्ययम् । 'अहो ! राजकुमारीयं वासवदत्ता । कथङ्कारमेतस्या इदानीमत्रोपलब्धिः ? वासवदत्तायास्तु दहनज्वालया कवलितायाः कुतोऽपि न वर्तते दर्शनयोग्यते'त्यसौ धात्र्या वचसोऽभिप्रायः ।

नृपोऽपि धात्रीवचनं निशम्य स्वयं तामावन्तिकां निपुणं निरूप्य वासवदत्तां प्रियां प्रत्यभिज्ञाय साश्चर्यं प्राह—**कथमिति** । कथम्, किमित्यर्थः । 'किमेषा श्रीमन्महासेनस्य दुहिता वासवदत्ता ? अहो ! चिराद् दर्शनं गतापि साम्प्रतं दृश्यते मत्प्रिया वासवदत्ता ।' इत्येवं निगद्य तां गृहान्तर्गन्तुमादिशन् ब्रूते—**देवीति** । अयि ! प्रिये ! वासवदत्ते ! पद्मावतीमात्मनः सहचारिणीं विधाय त्वया समयेऽस्मिन् गृहान्तः प्रवेष्टव्यमित्यर्थः ।

गृहान्तः प्रवेशान्निवारयत्यावन्तिकां यौगन्धरायणः—**न खल्विति** । खलुपदद्वयं वाक्यालङ्कारे, द्वौ नञौ निषेधार्थं द्रढयतः । नैव तावत्प्रविश त्वं गृहाभ्यन्तरं राज्ञः, मया समं प्रयाहीत्यर्थः । **ममेति** । राजानं प्रतीदं वचनम् । खलु निश्चये !

पद्मा०—आर्य ! यौगन्धरायण ! अब आर्या को ले जाइये ।

धात्री—(आवन्तिका को गौर से देखकर) अरे, यह तो राजकुमारी वासवदत्ता है !

राजा—क्या महासेन की पुत्री ? देवी ! पद्मावती के साथ भीतर जाओ ।

यौग०—नहीं, भीतर न जाना चाहिये । यह तो मेरी बहन है ।

राजा—किं भवानाह ? महासेनपुत्री खल्वेषा।

यौगन्धरायणः—भो राजन् !

भारतानां कुले जातो विनीतो ज्ञानवाञ्छुचिः।
तन्नार्हसि बलाद्धर्तुं राजधर्मस्य देशिकः ॥ १६ ॥

निःसंशयमियं मे स्वसा वर्तते। महासेनपुत्रीत्वशङ्कया किमित्यभ्यन्तरं नीयते भवतैषेति भावः। 'परिचयप्रदानपुरःसरं स्वस्वरूपप्रकाशनानन्तरमेव श्रीमन्महाराजाय तत्रभवती स्वामिनीयं प्रत्यर्पणीये'ति विचारयन् प्रच्छन्नदशानुरूपमेव वचनं ऽशुञ्जानो रहस्यमेतद्विषयं नाद्यापि समुद्घाटितवान् यौगन्धरायणः।

किमिति। यौगन्धरायणवचनश्रवणानन्तरमिदं राज्ञो वचनम्। 'ममेयं भगिनी'त्येवं किमुच्यते भवता, असत्यमेवास्तीदं सर्वथा वचनं भवतः। नूनमियं महासेनभूपतेः पुत्री प्रिया मे वासवदत्ता। ममैतां प्रेयसीं बलादपहर्तुमुद्यतस्य भवतो महदिदं दुःसाहसमिति भावः।

तदिदं राज्ञो वचनं निशम्य पुनरुवाच तं सम्बोध्य यौगन्धरायणः-**भोः** इति। भो राजन्निति श्लोकान्वयि।

भारतानामिति। भारतानां भरतकुलजानां राज्ञां पाण्डवानामिति यावत्, कुले वंशे, जातो गृहीतजन्मा, विनीतः शिक्षितो नम्रः, ज्ञानवान् सदसद्विवेकशीलो बुद्धिमान्, शुचिः पवित्राचारो निर्मलान्तःकरणः, राजधर्मस्य राजोचितकर्तव्यस्य, देशिकः प्रवर्तक आचार्यश्च, असीति शेषः। तत् पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टत्वाद्धेतोः, इमामिति शेषः, ममैतां भगिनीं परकीयामिति यावत्, बलात् हठात्, हर्तुं ग्रहीतुमात्मसात्कर्तुं, नार्हसि न योग्योऽसि त्वम्। भारतकुलजस्य विनयज्ञानशालिनः शुचे राजधर्मोपदेशकस्य च सर्वथेदमसदृशं ते, यदिदं प्रसह्य परकीयापहारचेष्टितं नाम। न चैतच्छोभते नरपतेर्विशेषतो भारतवंशीयत्वादिगुणगणविशिष्टस्य। परकीयवस्तुनोऽपहार एतादृशस्त्वादृशैर्निवारणीयो न किल स्वयमेव प्रवर्तनीय इति भावः। वत्सराजस्य पाण्डववंशीयत्वं च **विष्णुपुराणा**दवगम्यते। 'अर्जुनपुत्रस्याऽभिमन्योः पञ्चविंशोऽयं पुरुष' इति तत्रास्ति प्रतिपादितम्। वृत्तमनुष्टुप् ॥ १६ ॥

राजा—क्या आप कहते हैं ? यह तो महासेन की पुत्री है।

यौग०—हे राजन् !

आप पाण्डव-वंशी राजाओं के कुल में उत्पन्न हुए हैं, नम्र, ज्ञानी, पवित्रात्मा तथा राजधर्म के प्रवर्तक भी हैं। इसलिये आपको इसे बलपूर्वक छीनना उचित नहीं है ॥ १६ ॥

राजा—भवतु, पश्यामस्तावद् रूपसादृश्यम्। संक्षिप्यतां जवनिका।

यौगन्धरायणः—जयतु स्वामी।

'एवं पुनरुत्तरप्रत्युत्तरैर्न किञ्चित्कार्यं सेत्स्यति। अस्यां च प्रियतमाकृतिसादृश्यं न तावदद्यापि मे पूर्णतया निश्चितम्। अतस्तन्निश्चय एव साम्प्रतं विधेयः, तेनैवेयमात्मनो हस्तगता भवे'दित्येवमन्तश्चिन्तयन् राजा तदाकृतिसादृश्यपरीक्षणाय पक्षान्तरमुपक्षिपति—**भवत्विति**। 'पश्याम' इति बहुत्वमात्मनो गौरवाय प्रयुक्तं राज्ञा। तावत्पदं वाक्यालङ्कारे। जवनिका तिरस्करिणी, सा चात्र पुरुषान्तरदर्शन-परिहाराय कृतं मुखावरणमेव, अवगुण्ठनमिति यावत्, संक्षिप्यताम् अपनीयताम्। अस्तु तावत्, ममैषा भवतो वेति नैवं जातु निर्णेष्यते। इदानीमाकृतेः साम्यमस्याः पूर्णं परीक्षणीयं मया। भवता च मुखावरणवस्त्रमेतदीयं किञ्चिदपनेयम्, येन सुस्पष्टमेतन्मुखं द्रष्टुं शक्येत निर्णीयेत च ततः 'केयमावयोः कस्ये'ति। तथा सति न कश्चिद्विवादस्यावसरः स्यादिति भावः। द्वित्रा अत्र टीकाकृतः—'प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च से'ति कोषानुरोधाज्जवनिकां तिरस्करिणीं तां क्रियमन्तरयितुं वपुषि प्रसारितां निर्दिशन्ति। अत्रैतद् विचारणीयं भवति—स्वरूपदर्शनपरिहाराय वपुषि पद्मावत्याः सत्यां जवनिकायां पूर्वं तत्र तत्रोद्गीतस्य स्वरूपसादृश्यस्य शङ्कैव नोदीयात्। तिरस्करणवस्त्रे च शरीरमावृत्य तिष्ठति रूपप्रतिभासोऽपि प्रायो दुःशकः, किमुत सादृश्यसम्भावना। अतो हि जवनिकाशब्दस्यौचित्यादत्राऽवगुण्ठनरूप एवार्थः करणीयः। एषोऽप्यर्थोऽवगुण्ठनस्य मुखतिरस्करणकारित्वेन मुख्यार्थ एव पर्यवस्यति। अवगुण्ठनेन संवीतेऽपि वदने कायच्छायया स्वरूपप्रतिभासे दुर्निवारे तदाकारसादृश्यसम्भावना भवितुमर्हतीति। इतोऽनन्तरमावन्तिकावगुण्ठनापनयनं ध्वनिमर्यादया बोद्धव्यम्।

देव्या वासवदत्तायाः स्वरूप एवं प्रकारेण प्रकाशतां गते सत्यात्मनोऽपि तदानीं प्रकाशनं तेनैव सममेतद्विषयकरहस्योद्घाटनं च समयोचितं मन्वानः स्वामिनो जयाशंसनं करोति यौगन्धरायणः—**जयत्विति**। सम्प्रत्यात्मानं प्रकाशयितुकामेन यौगन्धरायणेन राजानमुद्दिश्य स्वामीति पदं प्रयुज्य सेवकभावः स्वीयो व्यक्तीकृतः। एतेन सहैव यौगन्धरायणस्य स्वीयकृत्रिमपरिव्राजकवेषापनयनमपि ध्वनितम्।

राजा—अच्छा, आकृति की समानता देखें। जरा घूँघट हटाइये।

यौग०—महाराज की जय हो।

वासवदत्ता—(क) जेदु अय्यउत्तो।

राजा—अये ! असौ यौगन्धरायणः, इयं महासेनपुत्री।

किन्नु सत्यमिदं स्वप्नः सा भूयो दृश्यते मया।
अनयाऽप्येवमेवाहं दृष्टया वञ्चितस्तदा॥ १७॥

(क) जयत्वार्यपुत्रः।

प्रकटितस्वरूपा वासवदत्तापि तत्रभवतो भर्तुर्जयाशंसनं कुर्वती ब्रूते—जेदु इति। सर्वोत्कर्षेण वर्ततामत्रभवान् श्रीमान् पतिदेवः।

एवं विजयांशंसनेन स्वात्मानं प्रकाशयन्तावेतौ वासवदत्तायौगन्धरायणाविति प्रत्यभिजानन् सविस्मयं सहर्षं च वचनमाह राजा—अये इति। 'अये' इत्याश्चर्यानन्दसूचकमत्राव्ययम्। विस्मयहर्षौ च राज्ञस्तयोर्गृहीतवेषान्तरयोस्तद्वेषापनयनपुरःसरं यथावत्स्वरूपं प्राप्तवतोरतर्कितप्राप्त्यैव बोद्धव्यौ। अहो! अयं मे मन्त्री यौगन्धरायणः, एषा च श्रीमन्महासेनराजकुमारी मत्प्रिया वासवदत्ता! किन्विदम्? स वेषः पूर्वमेतयोः, इदानीं चायम्! किमत्र तत्त्वम्?

किन्नु सत्यमिति। वासवदत्ताविषयकं दर्शनमुद्दिश्य राज्ञो वितर्कवचनमेतत्। इदं वासवदत्तायाः प्रत्यक्षं दर्शनमेतत्, किन्नु सत्यं यथार्थम्, किन्नु स्वप्नः स्वप्नरूपमयथार्थं वा वर्तते। सा पूर्वं समुद्रगृहे दृष्टा प्रियतमा वासवदत्ता, भूयः पुनरस्मिन्समये, दृश्यते दर्शनविषयीक्रियते। सत्येऽपि दर्शनविषयेऽसत्यत्वसम्भावना कथमिति तत्प्रयोजकं प्राक्तनानुभवमात्मनो दर्शयति—अनयेति। अपिरत्र भिन्नक्रमो 'दृष्टये'त्यनेनान्वेतयः। अहम् उदयनः, तदा तस्मिन् समुद्रगृहावस्थानसमये, एवमेवामुनैव प्रकारेण, दृष्टया जाग्रदवस्थायां नयनयोः पुरस्तादुपस्थितयापि, अनया वासवदत्तया, वञ्चितः स्वरूपान्तर्धानेन प्रतारितः, अभूवमिति शेषः। साम्प्रतिकं वासवदत्तादर्शनं तात्त्विकमतात्त्विकं वा? अपि नाम सफलमेतन्निष्फलं वा भवेत्? यथेयमिदानीं दृश्यते, नूनं तथैव पद्मावतया अस्वस्थता-

---

वासव०—आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—हैं, यह यौगन्धरायण है और यह महासेन की पुत्री वासवदत्ता!

क्या यह सत्य है? अथवा क्या यह स्वप्न है जो कि इसे फिर देख रहा हूँ। उस समय अर्थात् समुद्र-गृह में सोते समय दिखाई पड़ने पर भी इसने इसी प्रकार मुझे ठगा था॥१७॥

यौगन्धरायणः—स्वामिन् ! देव्यपनयेन कृतापराधः खल्वहम् । तत् क्षन्तुमर्हति स्वामी । [इति पादयोः पतति ।]

राजा—[उत्थाप्य] यौगन्धरायणो भवान् ननु ।

प्रवृत्तिमधिगत्य समुद्रगृहान्तर्गतेन शयनं प्राप्तेन पुरा दृष्टासीन्मया । दृष्टिगोचरतां प्रयातापि तदा तत्क्षणमेवाऽदर्शनं गतवती दुर्दैवान्निराशं वितन्वती मां प्रतारितवती खल्वसौ । अधुनापि तादृगेव किमहमेतया न प्रतार्येय ? तदानीं तदिवेदानीमिदमपि दर्शनं क्षणिकं सत् फलविधौ शून्यं तु न स्यात्किमु ? दुग्धदग्धाननस्य पुनर्दधिभक्षण इव दर्शनेऽस्मिन् शङ्का मे भवितुमर्हतीति भावः । छन्दोऽनुष्टुप् ॥ १७ ॥

राज्ञ आज्ञां विनैव राज्ञीं स्थानान्तरं नीतवतः स्वस्य मन्तोरमुष्य क्षमापनं राजानं याचते यौगन्धरायणः—**स्वामिन्निति** । देव्यपनयेन, देव्या वासवदत्ताया अपनयः स्वरूपप्रच्छादनपुरःसरमन्यत्र नयनं तेन, खलु निःसंशयम् । तत् देव्यपनयनरूपं दुर्विनयचेष्टितम् । स्वामिन् ! श्रीमतीं वासवदत्तां गृहीतवेषान्तरां प्रच्छन्नरूपां विधाय यदहं श्रीमत्सकाशादन्यत्र नीत्वा न्यस्तवान् , श्रीमदभ्युदयसाधनत्वेन समयोचितं तदपि श्रीमन्तमनावेद्य कृतं निःसन्देहमनौचित्यपक्ष एव निक्षिप्तं भवतीति तमेतं नूनमपराधं कृतवान् । क्षन्तव्य एषोऽपराधः स्वामिना सेवकस्येति भावः । तदेतदभ्यर्थयमानस्य यौगन्धरायणस्य तदुचितं स्वामिचरणयोः प्रणिपातं दर्शयति—**इति पादयोरिति** ।

स्वामिभक्तस्य यौगन्धरायणकृतपूर्वाण्यसाधारणानि कार्याणि स्मरन् प्रियापनयनमपीदं तत्कृतं शुभोदर्कमनिक्षिपन्नपराधपक्षे, पादयोः पतितं तं स्नेहादुत्थापयन् प्रशंसन्नाह राजा—**यौगन्धरायण** इति । नन्विति वाक्यालङ्कारे । अत्र यौगन्धरायणमुद्दिश्य वदतो राज्ञः पुनस्तन्नामग्रहणं तद्गतं गुणविशेषं लक्षयति । स एवास्ति भवान् यौगन्धरायणः, यो हि स्वामिनो हितमेव स्वार्थं मन्यते । बुद्धिबलभक्तिसमन्वितेन प्रशंसनीयगुणगणेन यन्नामेदमापाततोऽनुचितमिव प्रतीयमानमाफलोदयं क्लेशकरं परिणामहितं विहितं भवता, तत्र विषये स्वापराधसम्भावन-

---

यौग०—महाराज ! महारानी के छिपाने से मैं अपराधी हूँ । मेरे इस दुर्विनय को आप क्षमा करें । (पैरों पर गिरता है ।)

राजा—(उठाकर) तुम सचमुच यौगन्धरायण ही हो ।

मिथ्योन्मादैश्च युद्धैश्च शास्त्रदृष्टैश्च मन्त्रितैः।
भवद्यत्नैः खलु वयं मज्जमानाः समुद्धृताः ॥ १८ ॥

यौगन्धरायणः—स्वामिभाग्यानामनुगन्तारो वयम्।

यैतया व्यर्थया किमयमात्मा सङ्कोचमानीयते। न चैष भवत्कर्तृकोऽपराधः प्रत्युत भवतो मत्कर्मकाराधनमेवैतदिति भावः।

इत्थं तावल्लक्षणामूलार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिविधया प्रशंसितं तमेव यौगन्धरायणमुपकारिणं कृतज्ञताप्रकाशनपुरःसरं पुनः प्रशंसत्यभिधया वृत्त्या—**मिथ्योन्मादैरिति**। चकाराः समुच्चयार्थाः, ते चोन्मादादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धाय पृथक्पृथक्प्रयुक्ताः। मज्जमानाः मज्जनशीला वयम्, अवरोधबन्धनरूपे दुस्तरे विपत्सिन्धौ मग्नोऽहमिति यावत्। मज्जमानशब्दोऽत्र ताच्छील्ये चानशा साधनीयः। मज्जतेः परस्मैपदित्वेन शानचस्तु न प्रसङ्गः। मिथ्योन्मादैः कल्पितैरसत्यैश्चित्तविभ्रमैः, 'उन्मादश्चित्तविभ्रम' इति कोषः, चित्तविभ्रमश्च चेतसोऽनवस्थितिरेव, युद्धैः प्रवर्तितैः सङ्ग्रामैः, शास्त्रदृष्टैः, राजनीतिसिद्धान्तानुकूलैः, मन्त्रितैर्गूढविचारैश्च, तथा भवद्यत्नैः भवतो यौगन्धरायणस्य तैस्तैरितरैरस्मदुद्धारकारणीभूतैरनुरूपैरुद्योगविशेषैः, खलु निःसंशयम्, समुद्धृताः विपत्सागराद्बहिर्निष्कासिता अभूम। यदा किल प्रद्योतराजोऽन्तःपुरे मां बन्धनं प्रापितवान्, दुःखाकरे तत्र काले विपद्बन्धुः समदुःखसुखः स्वामिभक्तो भवानेन समयोचितं विचारयन्नात्मानमुन्मत्तमिव तत्र प्रदर्शयन् युद्धं च कार्यसिद्ध्यौपयिकं प्रवर्तयन्नर्थनीत्युचितविचारपूर्वकं प्रशंसनीयं प्रयत्नमाधाय मां तदवरोधबन्धनान्मोचितवान्। एषा च भवतः साधारणेतरोपकृतिः कथं नाम विस्मृतिं नेष्यते कृतज्ञेन मया? सर्वथोपकर्ता मे भवान् प्रशंसनीय एवेति भावः। उन्मादयुद्धराजनीत्यनुकूलविचारसाधनप्रभृतिभिः प्रयत्नैर्यौगन्धरायणेन वरेण कृतं वत्सराजस्य प्रद्योतराजावरोधबन्धनान्मोचनं चेदं **प्रतिज्ञायौगन्धरायणे** द्रष्टव्यम्। अनुष्टुप् छन्दः ॥ १८ ॥

गुणगृह्येण राज्ञा कृतमात्मनः प्रशंसनं समवेक्ष्य तद्गौरवाल्लज्जमान इव सविनयं वचनमाह यौगन्धरायणः—**स्वामीत्यादि**। वयम्, मादृशाः सेवका इति

असत्य उन्माद-चेष्टाएँ, युद्ध, शास्त्रोक्त विचार और आपके उपायों से डूबते हुए हम उबारे गये हैं ॥ १८ ॥

यौग०—हमलोग स्वामी के भाग्यों का अनुसरण करने वाले हैं।

पद्मावती—(क) अम्महे ! अय्या खु इअं । अय्ये ! सहीजण-समुदाआरेण अजाणन्तीए अदिक्कन्दो समुदाआरो । ता सीसेण पसादेमि ।

वासवदत्ता—[पद्मावतीमुत्थाप्य] (ख) उट्ठेहि उट्ठेहि ।

(क) अहो ! आर्या खल्वियम् । आर्ये ! सखीजनसमुदाचारेणाऽजानत्याऽतिक्रान्तः समुदाचारः । तच्छीर्षेण प्रसादयामि ।

(ख) उत्तिष्ठोत्तिष्ठाऽविधवे ! उत्तिष्ठ । अर्थिस्वं नाम शरीरमपराध्यति ।

यावत् । श्रीमतः स्वामिनो भाग्यानि यदा यादृशि विलसन्ति, तदा तादृगेव तेषामनुसरणमस्याभिः सेवकैरनुष्ठीयते । वयं तु तद्भागधेयनोदितास्तदौपयिकमेव यथासमयमाचरामः । तत्रभवतो भाग्यान्येव कल्पन्ते प्राधान्येन फलनिष्पत्तौ । अस्वतन्त्रा अकिञ्चित्कराश्च वयं न तावत्प्रशंसनार्हा इति भावः ।

अथ यावदावन्तिकां पद्मावती सखीनिर्विशेषं पश्यति स्म । साम्प्रतं तामार्यपुत्रप्रियां वासवदत्तां महाराज्ञीं विदित्वा भूतपूर्वसखीभावोचिताचारप्रदर्शनरूपस्वीयापराधक्षमापनचिकीर्षया तत्प्रसादनौपयिकं वचनं प्रस्तौति—अम्महे इति । खलुपदं त्वर्थे । अहो ! विचित्रमिदम् । आवन्तिकेति प्रसिद्धां यामहं सखीं सम्भावितवती, सैषा तु पूज्या श्रीमती वासवदत्ताऽर्यपुत्रप्रियतमा वर्तते । इत्येवं स्वयमभिधाय तां प्रत्याह—अय्ये इति । तत् आचारोल्लङ्घनरूपापराधात्कारणात् । अयि ! मान्ये ! स्वरूपेण श्रीमत्या अपरिचयादद्यावधि सखीजनोचित आचारस्तत्र तत्र प्रदर्शितो मया । पूज्येषु यथाचारं यथा वर्तितव्यम्, न तथाऽवर्तिषि । अतो यथोचितमाचारमुल्लङ्घितवती क्षमां प्रार्थयमानैषाऽहं प्रसादनाय श्रीमतीं शिरसा प्रणमामि । आशासे च नूनं क्षमिष्यतेऽपराधो मामकीनः श्रीमत्योदारचित्तयेति । प्रणामकरणप्रतिज्ञेयं पद्मावत्याः । प्रणामश्चानुक्तोऽपि प्रसङ्गोचितोऽत्र वेदितव्यः ।

इत्येवं प्रणमन्तीं पादपतितां पद्मावतीमुत्थापयन्ती प्राह वासवदत्ता—उट्ठेहि इति । 'उट्ठेही'ति त्रिरुक्त्या वासवदत्ताप्रसादनसम्भ्रमस्यातिशयः पद्मावत्या दर्शितः कविना । 'पुनः पुनरुत्थातुं प्रेरितापि प्रणामकरणात्पद्मावती न विरन्तुमर्हते'ति तस्या

पद्मा०—अरे ! ये तो आर्या वासवदत्ता हैं । न जानती हुई मैंने सखी के समान व्यवहार करने से शिष्टाचार का उल्लंघन किया है ! इसलिये सिर झुकाकर क्षमा चाहती हूँ ।

वासव०—(पद्मावती को उठाकर) उठो, उठो, सौभाग्यवती ! उठो । न्यास का रक्षण

अविहवे! उट्ठेहि। अत्थिसअं णाम सरीरं अवरद्धइ।

अयं वासवदत्तायां भक्तेरतिशयो व्यङ्ग्यः। अविधवा सौभाग्यवती, तत्सम्बुद्धौ हे अविधवे! अयि सौभाग्यवति! मुहुरेवमुत्थाप्यमानापि मया किं नाम नोत्तिष्ठसि? उत्तिष्ठ, पर्याप्तमिदमाचारप्रदर्शनम्। विदितस्ते यथावद्भावो ममेत्यर्थः। अत्थिसअमिति। अर्थिस्वम्, अर्थिनः त्वत्कृतं न्यासरक्षणं कामयमानस्य त्वत्समीपे न्यासं निक्षेप्तुमिच्छतो वा यौगन्धरायणस्य स्वं धनम्, नामेति प्रसिद्धौ, यौगन्धरायणेन 'मदीयमिद'मिति व्यपदिश्यमानं न तु वास्तविकं तस्येत्यर्थः। शरीरम् अर्थान्मे वासवदत्तायाः, लक्षणया अहमिति यावत्, अपराध्यतीति भूतकालार्थे वर्तमानकालिकः प्रयोगः। न्यासरूपेण मां क्वचिन्निक्षेप्तुकामेन यौगन्धरायणेन 'मदीयेय'मिति कृत्रिमं व्याहरता यदहमत्र ते सन्निधौ निक्षिप्ता, तेनैव मे स्वातन्त्र्यमपगतम्। आचारविरुद्धकारिता च प्रायः पराधीने जने सम्भवति। अतश्च नूनमहमेवापराधिनी। विनयवत्यां त्वय्यपराधसम्भावनापि कीदृशी? त्वं तु मां तदानीं रक्षितवती ममोपकारिणी खल्वसीति भावः। अथवा—अर्थिस्वम्, अर्थिनः शरणार्थिन्या ममेति यावत्, स्वं स्वात्मीयं तथात्वेन सम्भावितम्, शरीरम् अर्थात्पद्मावत्यास्तव। अत्र च पक्षे 'अपराध्यती'ति काकुः, सर्वथा नापराध्यति स्मेत्यर्थः। मदीयशुश्रूषाविधौ त्वया विनियुक्ते मया च स्वात्मीयत्वेन सम्भाविते‌ऽस्मिंस्तव शरीरे, लक्षणया तादृश्यां त्वयि, कथन्तावदपराधभाजनत्वं भवितुमर्हति? उपकारकारिण्यपराधसम्भावनाप्यत्र कर्तुं न शक्येति भावः। वचनमिदं वासवदत्तायाः पद्मावतीं प्रति सापत्न्यद्वेषलेशतोऽप्यस्पृष्टं समानभावोचितं प्रेमभावं प्रकटयति। 'अविहवे' इति सम्बुद्ध्यन्तपदप्रयोगोऽप्येवमेवार्थं दर्शयति।

अत्र 'सधवापदे प्रयोक्तव्ये विधवापदेन सह प्रयुक्तोऽयं तदभावो नोचितः, अभावेन सह भावस्यापि प्रतीतेरमङ्गलव्यञ्जकमिदम् अविधवापदं न तावत्प्रयोगयोग्य'मिति केचिदाक्षिपन्ति व्याख्याकृतः। तदेतदाक्षेपदुःसाहसमिदं तेषां व्यङ्ग्यार्थमर्यादाऽनाकलनमूलकं सहृदयहृदयोद्वेजकं ननु। इदमत्र गूढं तात्पर्यम्—सधवापदे प्रयुक्ते 'सौभाग्यवती'त्येवार्थो लभ्यते, अविधवापदप्रयोगः पुनः सौभाग्या-

---

-चाहनेवाले यौगन्धरायण का धन-रूप यह शरीर अर्थात् मैं ही अपराधी हूँ। अथवा शरण चाहती हुई मुझसे अपनाया गया यह (तुम्हारा) शरीर अपराधी! यह सर्वथा असम्भव है।

पद्मावती—(क) अणुग्गहिदह्मि ।

राजा—वयस्य ! यौगन्धरायण ! देव्यपनये का कृता ते बुद्धिः ?

यौगन्धरायणः—कौशाम्बीमात्रं परिपालयामीति ।

(क) अनुगृहीताऽस्मि ।

ऽभावं निषेधन्नखण्डितसौभाग्यरूपमर्थं बोधयति । तेन 'अखण्डितमास्तां ते सौभाग्य'मिति पद्मावतीं प्रत्याशीर्वचनं ध्वन्यते वासवदत्तायाः । अत आपाततोऽनुचितवत्प्रतीयमानोऽप्ययमङ्गलरूपोऽर्थः शाश्वतिकमङ्गलसूचकाऽखण्डितसौभाग्यरूपव्यङ्ग्यार्थबोधनक्षमो न काञ्चिदत्राऽनौचितीमुद्भावयेदिति नापरोक्षं प्रेक्षावताम् । इत्थमेव कालिदासोऽपि मेघदूते 'भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे' इत्यत्र गूढार्थं दर्शितवानित्यलम् ।

पूर्वोक्तेन वचसा प्रकाशितं स्नेहभावानुग्रहं वासवदत्तायाः सादरमभिनन्दति पद्मावती—अणुग्गहिदह्मीति । इदमित्थमिदानीं मां गौरवपदमारोपयन्त्याः श्रीमत्याः केवलमनुग्रहोऽयं मयि । अहन्तु सर्वथैतद्गौरवाऽनर्हास्मीति पद्मावत्युक्तेराशयः ।

वासवदत्तापद्मावत्योः परस्परालाप एवं प्रचलिते विरतिं गते, नरपतिर्वत्सराजो वासवदत्तापनयनविषये यौगन्धरायणस्य मानसमाशयं स्फुटं जिज्ञासमानस्तद्विधानकारणं पृच्छति तम्—वयस्येति । वयस्यपदप्रयोगश्चायं राज्ञो यौगन्धरायणे स्नेहातिशयसद्भावं सूचयत्यत्र । का किं फलमुद्दिश्येति यावत् , बुद्धिर्मानसो विचारः। मित्र ! मन्त्रिवर ! यन्नाम देवी वासवदत्ता त्वया मत्सकाशादपनीता, तत्र किं ते मानसं विचारितम् ? भावि तत्फलं मनसा किमुद्दिश्य कृतमिदं त्वया, परिणतौ हितं किं प्रयोजनमेतस्य तदा सम्भावितमासीत् ? अत्र च—'स्फुटं वस्तुतत्त्वं ज्ञातुमिच्छयैव राज्ञः प्रश्नोऽयम् , न तु विश्वासयोग्येऽस्मिन् यौगन्धरायणे तथाऽनुचितकार्यकारित्वेनाऽविश्वस्तत्वबुद्ध्ये'ति वेदितव्यम् ।

यौगन्धरायणो राज्ञः प्रश्नस्योत्तरं दित्सुर्देव्यपनयनविषयकं हृद्गतमात्मनोऽभीप्सितं तत्कारणं प्रतिपादयति—कौशाम्बीमात्रमिति । अत्र मात्रशब्दो-

---

पद्मा०—(आप के इस गौरव से) मैं अनुगृहीत हूँ ।

राजा—सखे ! यौगन्धरायण ! देवी को छिपाने में तुम्हारा क्या अभिप्राय था ?

यौग०—यह कि केवल कौशांबी ही अधिकार में रह गई ।

राजा—अथ पद्मावत्या हस्ते किं न्यासकारणम् ?

ऽवधारणे, कौशाम्बीमेवेत्यर्थः, परिपालयामीति देव्यपनयनकालिकी वर्तमानार्थता। राज्यपरिपालनं च प्रधानमन्त्रिणो राज्ञः प्रियतमस्य यौगन्धरायणस्य प्रधानं कर्तव्यम्। एतदुक्त्या च तस्य तत्र सुतरां स्वीयत्वसूचकः स्नेहः प्रदर्शितः। अयमर्थः—इदानीं केवलं कौशाम्बीनगरी राजशासनानुसारं परिपाल्यते मया। 'समग्रं वत्सराज्यं राज्ञः शासनविषयीकृतं परिपालयितुमिष्टं परहस्तगतं कथं नामात्मनो हस्तगतं भवे'दिति विचारणायां निर्धारितम्, यत्किल—'देवी वासवदत्ता फलोदयकालं यावत् प्रच्छन्नरूपा कुत्रापि स्थापनीया। देव्यनुपलब्ध्या रुमण्वदादिमन्त्रिवरप्रार्थनया च पुनरन्या काचिद्राजकुमारी परिणेष्यते श्रीमता। ततः स्वभार्याबन्धुसाहाय्येन श्रीमतो वत्सराज्ये पुनः करगते सञ्जाते, साकल्येन वत्सदेशपरिपालकत्वं मदीयमव्याहतं स्या'दिति। एवमेवार्थं ध्रुवं निर्धार्य देव्या अपनयनं चिकीर्षितमासीत्तदा। 'प्रणयविशेषपात्रभूतायां सत्यां च देव्यां न कदापि दारान्तरं तत्रभवता स्वीकरिष्यते, समुचितसाहाय्याऽनवाप्त्या च वत्सराज्यप्राप्तिः सर्वथा दुःसम्भवा। वासवदत्ताबन्धुना महासेनभूपतिना कृतं साहाय्यं कार्यसिद्धेः प्रयोजकं भविता, किन्तु कन्यापहरणकारणेन तदीयप्रसाददृष्टेरसम्भावनया तदपि दुर्लभं दूरेतरा'मिति विचार्य 'देवी दग्धे'ति मिथ्याप्रवादः प्रख्यापितः। एतेन च 'वासवदत्ताया अनुपलब्ध्या कथञ्चिन्मन्त्रिणामनुरोधात्स्वीकरिष्यति दारान्तरं तत्रभवा'-निति सम्भावितमासीत्। 'यथा चेदं मदुक्तम्, तथा स्फुटमेव सकलमालोकितं तत्रभवते'ति नाधिकं किमप्यत्र विषये वक्तुमवशिष्यत इति।

श्रुत्वेदं 'पद्मावत्याः समीपे किमिति सा न्यासरूपेण स्थापिते'त्येवं पुनः पृच्छामात्मनः प्रकटीकरोति राजा—**अथेति**। अथ देव्या अपनयनानन्तरम्। देवीं वासवदत्तां मत्तोऽपनीय पद्मावत्याः सन्निधौ स्थापयतः कस्तवाभिप्रायः ? किमत्रापि विषये मानसमुद्दिष्टमासीत्तवेत्यर्थः। एषोऽपि तद्बुद्धिपरीक्षां चिकीर्षतो राज्ञः प्रश्नः। पद्मावत्यामपरिचितायां न्यासरक्षणयोग्यतां सम्भाव्य तत्र ते विश्वासपात्रत्वबुद्धिः कथं जातेति प्रश्नस्याशयः।

इदमत्र पद्मावत्याः समीपे वासवदत्तान्यासस्य कारणं राज्ञा पृष्टो यौगन्धरा-

राजा—और पद्मावती के हाथ धरोहर रखने का क्या कारण था ?

यौगन्धरायणः—पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिनो देवी भविष्यतीति ।

राजा—इदमपि रुमण्वता ज्ञातम् ?

यौगन्धरायणः—स्वामिन् ! सर्वैरेव ज्ञातम् ।

यणस्तदेव प्रतिपादयन्नाह—**पुष्पकेत्यादि** । आदेशिकैः सिद्धपुरुषैर्ज्यौतिषिकैर्वा, पद्मावतीति विशेष्यपदं पूर्ववाक्यार्थादवगन्तव्यम्, आदिष्टा भाव्यर्थसूचनविषयीकृता। पुष्पकभद्रप्रभृतिभिः सिद्धैर्महात्मभिर्दैवज्ञैर्वा 'श्रीमतो महीपतेर्महिषीपदमेषाऽलङ्करिष्यती'त्येवं किल श्रीमतीं पद्मावतीमुद्दिश्य भविष्यत्फलं पूर्वमेव सूचितमासीत्, अतस्तेषां वचनेष्वनन्यथाभाविषु विश्वासात्तत्रभवत्याः पद्मावत्याः समीप एव श्रीमती वासवदत्ता न्यासरूपेण स्थापिता । 'यथासमयमेतया च सूचिता वासवदत्ताचारित्र्यशुद्धिः श्रीमतः स्वामिनो नूनं विश्वासास्पदं भविष्यति, एतद्बन्धोः साहाय्येन वत्सराज्यमपि सपत्नापहृतं स्वामिना सुखेन प्राप्स्यत' इत्येवं मनसिकृत्य भविष्यत्कार्यगौरवेण श्रीमत्यां पद्मावत्यां विश्वासपात्रता न्यासरक्षणयोग्यतापि मया सम्भावितासीदिति भावः । अयमर्थः प्रथमाङ्के (१५–१६, ३४ पृष्ठेषु) द्रष्टव्यः ।

'सम्पादितस्त्वयार्थोऽयमाफलोदयं गोपितः कस्याप्यन्तरङ्गसचिवस्य विज्ञातो वे'ति तत्त्वं बुभुत्सू राजा रुमण्वत्येवात्मनः परिपूर्णभक्ते तादृग्गूढार्थसचिवे तन्मन्त्रविचारसाहचर्यमुचितं मन्यमानस्तमर्थमनुयुङ्क्ते यौगन्धरायणम्—**इदमपीति** । इदं वासवदत्ताया अपनयनं पद्मावत्यन्तिके न्यसनं चेत्युभयम् । अये ! यत्किल त्वं परिणामदर्शी सन् वासवदत्तां मत्तोऽपनीय पद्मावतीकृतं तद्रक्षणमाकाङ्क्षंस्तत्रैव न्यासरूपेण तस्या अवस्थानं कल्पितवान्, किमेतमप्यर्थं त्वत्तो विज्ञातवान् रुमण्वान् ? सर्वोऽपि विषयः प्रायोऽन्तरङ्गसचिवेन रुमण्वतालोचितो भवतीत्येषोऽपि तेनालोचितः पूर्वं किमु ? अपिरत्र भिन्नक्रमो रुमण्वता वा योज्यः । अत्र च पक्षे किमिदं ते चेष्टितं रुमण्वतोऽप्यर्थसचिवस्य विज्ञातमासीदित्यर्थः ।

अत्रोत्तरं प्रस्तवीति यौगन्धरायणः—**स्वामिन्निति** । नाथ ! रुमण्वानेव

यौग०—पुष्पकभद्रादि सिद्ध या ज्योतिषियों का कहना था कि पद्मावती आपकी रानी होंगी । (यह कारण था)

राजा—यह भी रुमण्वान् को अथवा यह रुमण्वान् को भी ज्ञात था ?

यौग०—महाराज ! सभी को विदित था ।

राजा—अहो ! शठः खलु रुमण्वान् ।

यौगन्धरायणः—स्वामिन् ! देव्याः कुशलनिवेदनार्थमद्यैव प्रतिनिवर्ततामत्रभवान् रैभ्योऽत्रभवती च ।

केवलं किम्, तत्रभवतः श्रेयसि दत्तावधानाः सर्वेऽप्याप्ततमा अर्थमेनं जानन्ति स्म । न तावदेकाकिना मयेदं मन्त्रितं कृतं च । सकलसम्मत्यैव प्रवृत्तोऽहमस्मिन् कर्मणीति भावः ।

'सर्वेऽपि विषयमेनं जानन्तीति' यौगन्धरायणोक्तमाकर्ण्य राजा तमर्थं जानन्तमप्यप्रकाशितवन्तं रुमण्वन्तमुद्दिश्य सप्रणयोपालम्भवचनं प्रस्तौति—अहो इति । शठो वञ्चकः, वञ्चकत्वारोपश्च राज्ञो रुमण्वति वासवदत्ताकुशलवृत्ताऽप्रकाशनमूलकः । अन्यैश्च मदीयैर्विषयोऽयं न प्रकाशितो मत्पुरस्तादित्यास्तां तावत्, परमत्रार्थे चित्रं यदेषोऽवगतैतदर्थोऽपि रुमण्वान् मदीयदुःखैकसाक्षिभूतोऽपि वासवदत्तायाः कुशलवृत्तमिदं न नाम किञ्चिदपि सूचितवान् । एतदेवास्य नूनं वञ्चकत्वम् । कथमत्र वञ्चयति स्मैष मां विश्वासपात्रं मे सततपरिचर्यापरोऽप्यर्थमेनं मत्तो गोपयन्निति भावः ।

इदमत्रावगन्तव्यम्—श्रीमतो महीपतेर्हितमुद्दिश्य विहितं प्रधानमहिष्या अपनयनादिकमात्मनः सकलं कार्यजातं सफलतां प्राप्तमिति, शुभोदर्कदर्शिनो भर्तुर्मदीयचेष्टितमेतदरुचिकरं न जातमित्येवं च पर्यालोचयतो यौगन्धरायणस्य 'सिद्धेऽपि नाम मम कर्मणि पार्थिवोऽसौ किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे' इतीदृक्पूर्वोक्तं शङ्कितं सम्प्रतं हृदयादपगतम् । राजा तु विषयमेतमवगच्छन् पद्मावत्यां वासवदत्ताया न्यासीकरणात्तत्र विश्वासात्कामपि तत्राऽननुरूपां शङ्कां नाऽचकलत् ।

सम्प्रत्युपक्रान्ते च सर्वस्मिन्कर्मण्युपसंहृते, देव्याः कुशलं तन्मातरपितरौ तत्रभवन्तावङ्गारवतीमहासेनौ निवेदयितुं काञ्चुकीयधात्र्यो रैभ्यवसुन्धरानामिकयोस्तत्रोज्जयिन्यामुपस्थितिं प्राप्तकालां मत्वा यौगन्धरायणः स्वामिनं ब्रूते—स्वामिन्निति । देव्याः वासवदत्तायाः । प्रतिनिवर्तताम् इतः प्रतिष्ठताम्, प्रत्येकाभिप्रायेणैकत्वमिदम् ।

राजा—अहो ! रुमण्वान् बड़ा ठग है ।

यौग०—महाराज ! देवी वासवदत्ता का कुशल निवेदन करने के लिये आज ही माननीय रैभ्य और वसुन्धरा लौट जाँय ।

राजा—न, न। सर्व एव वयं यास्यामो देव्या पद्मावत्या सह।

यौगन्धरायणः—यदाज्ञापयति स्वामी।

'नाथ! तौ मातरपितरौ देव्याश्चिराद् वृत्तान्तं कमप्यनधिगच्छन्तौ कुशलं श्रोतुमुत्कण्ठिता'विति तन्निवेदनाय श्रीमता रैभ्येण श्रीमत्या वसुन्धरया च सत्वरं तत्रोपस्थातव्यम्। ततः खलु कुशलप्रश्नसन्देशहारित्वेनात्र समागतयोर्द्वयोरेतयोरितोऽद्यतन एव दिवसे वासवदत्ताकुशलसन्देशहारित्वेन पुनरुज्जयिनीं प्रति प्रस्थानं स्थाने। नात्र विलम्बेन भवितव्यमिति भावः।

'धात्रीकाञ्चुकीयमुखेन कुशले निवेदिते मयि चानुपस्थिते तत्र मदीयमिदमौद्धत्यमिव प्रतिभायाद् गुरुजनस्ये'ति सपरिवारं तत्रास्माभिरुपस्थायाऽस्मिन्समये स्वात्मप्रदर्शनपुरःसरं स्वयमेव तन्निवदनीयमित्येवमाशयं दर्शयन्नाह राजा—न नेति। द्वौ नञौ तयोरेकाकिनोस्तत्र गमनं सर्वथा निषेधतः। मन्त्रिवर! नैवम्, प्रस्तावस्तवायं न समीचीनः। नवोढया पद्मावत्या समं सकलैरस्माभिस्तत्रोपस्थातव्यमिदानीम्। चक्षुर्विषयतां प्रयातयोर्वासवदत्तापद्मावत्योः परस्परमीर्ष्याभावाऽस्पृष्टं सविशेषं प्रेमभावमवलोक्य मदीयौ श्वशुरौ भृशं तुष्येताम्। अतः प्रतिष्ठेमहि सर्वे वयमुज्जयिनीं प्रतीति भावः।

तत्रभवतः स्वामिन आदेशं प्रमाणयन् यौगन्धरायणो ब्रूते—**यदाज्ञापयतीति**। श्रीमतः स्वामिनो वचनं प्रमाणमस्माकम्। यथाभिलाषं कर्तुमर्हति स्वामी। वयन्तु किङ्कराः श्रीमदाज्ञाकारिणः स्म इत्यर्थः।

इत्थमत्र द्वितीयप्रेयसीप्राप्तिद्वारेण सपत्नोन्मूलनपुरःसरं पुना राज्यलाभे प्रधानप्रियतमासमागमे च नायकस्य सञ्जाते, उपसंहारं गते सति सकले नाटकीयसंविधानके, समाप्तौ मङ्गलार्थं भरतवाक्यं प्रदर्श्य नाटकमिदं समापयिष्यते। भरतवाक्यं च शुभाशंसनात्मकप्रशस्तिरूपं निर्वहणसन्धेरङ्गमुच्यते। तथा चोक्तं **दशरूपके**—'प्रशस्तिः शुभशंसनम्' इति। 'नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयत' इत्यन्यत्रापि तल्लक्षणमुक्तम्। एषा च प्रशस्तिरनुकर्तुर्भरतस्य (नटस्य) श्रीमतो

राजा—नहीं नहीं। हम सभी लोग देवी पद्मावती के साथ जाएंगे।

यौग०—जो महाराज की आज्ञा।

[भरतवाक्यम्—]

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥ १६ ॥

नाट्याचार्यस्य वा वाक्यत्वेन प्रतिपादिता भवतीति यौगन्धरायणमुखेन तदेव भरतवाक्यं प्रदर्श्यते कविना—**इमामीति**। इमां परिपालनीयां, महीं पृथ्वीं, नः अस्माकं, राजसिंहो नृपतिवरः, 'राजा सिंह इवे'त्युपमितसमासः, 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः। सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः' इत्यमरः, प्रशास्तु प्रकर्षेण पालयतु, प्रकर्षश्चाधिक्यम्, तदत्र गुणकृतं कालकृतं च वेदितव्यम्, परितः स्वकीयादेशप्रवर्तनपूर्वकं सविशेषं चिरं परिपालयतादित्याशंसनम्। कथम्भूतां महीमित्याह—**सागरपर्यन्तामिति**। सागराः समुद्राः पर्यन्ता अन्तिमाः सीमा यस्यास्ताम् समग्रामिति यावत्, पुनः कीदृशीं हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्, हिमवान् हिमालयो विन्ध्यश्चेति पर्वतावेव कुण्डले कर्णवेष्टनसंज्ञकालङ्कारविशेषौ यस्यास्तादृशीम्, हिमवद्विन्ध्यभूभृतावुत्तरदक्षिणदिशोः सीमाभूताविति पृथिव्याः कुण्डलाकारत्वेन कल्पितावत्र, पुनरपि कथम्भूताम् एकातपत्राङ्काम्, एकमद्वितीयमातपत्रं श्वेतच्छत्ररूपम् अङ्को राज्यलक्ष्मीत्वसूचकं चिह्नं यस्यां तथाभूतामिति, 'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्क' इति कोषः। या किल चरमसीमारूपान् सकलान् समुद्रान् व्याप्य स्थिता वर्तते, पुण्यभूमेरार्यावर्तस्य दक्षिणोत्तरदिक्सीमाभूतेन विन्ध्येन हिमवता च यस्याः सुषमाविशेषः समन्ततः स्तीर्यते, यत्र चैकाधिपत्यसूचकं तत्सितच्छत्रमेकमुद्द्योतते, समस्तां तां पृथ्वीं निष्कण्टकमस्माकं राजाधिराजः श्रीमानुदयनश्चिरं परिपालयतादित्यर्थः। 'सार्वभौमो भवन् भूमौ राजाऽस्माकं विराजताम्' इति तात्पर्यार्थः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १९ ॥

(भरतवाक्य—)

हमारे राज-सिंह अर्थात् राजाओं में श्रेष्ठ महाराज उदयन समुद्र तक विस्तृत, हिमाचल और विन्ध्याचल रूपी दो कर्ण-कुण्डलों से युक्त, एक श्वेतच्छत्र से चिह्नित इस सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करें ॥ १९ ॥

[निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

षष्ठोऽङ्कः ।

इति स्वप्नवासवदत्तं समाप्तम् ।



'निष्क्रान्ताः सर्वे' इत्यनेन रङ्गभूमेः सर्वेषां प्रस्थानं प्रदर्शितम् ।
षष्ठाङ्कस्योपसंहारं प्रतिजानीते-षष्ठोऽङ्क इति ।
इतीत्यादिना प्रकृतग्रन्थस्य समाप्तिं सूचयति ग्रन्थकारः ।

पूज्यश्रीद्गुरुभालचन्द्रकरुणामात्रैकभव्याश्रयः
श्रीद्मल्लक्ष्मणसद्गुरूक्तिविलसत्साहित्यविज्ञानभूः ।
श्रीद्मत्सूरिविनायकाऽऽप्तजननः श्रीरुक्मिणीगर्भजः
काशीवृत्तिरनन्तरामसुकृती वेतालवंशाङ्कुरः ॥ १ ॥
श्रीमद्भासकवीश्वरेण रचिते क्लिष्टार्थके नाटके
मुग्धाऽबोधजननप्रबोधजननव्यापारबद्धादराम् ।
ग्रन्थग्रन्थिविभेदनेन सकलच्छात्रोपकारक्षमां
कोषव्याकृतिभावगर्भिततनूं टीकामिमां व्यातनोत् ॥ २ ॥

इति श्रीस्वप्नवासवदत्तव्याख्यायां प्रबोधिन्यां षष्ठोऽङ्कः परिपूर्णः ।
समाप्ता चेयं श्रीमदनन्तरामशास्त्रिवेतालविनिर्मिता
प्रबोधिन्याख्या व्याख्या ।



(सबका प्रस्थान)

छठा अंक समाप्त ।

जगन्नाथशास्त्री होशिङ्ग कृत स्वप्नवासवदत्त नाटक का हिन्दी अनुवाद समाप्त ।

पद्यानुक्रमणिका

पद्यांशाः	पृष्ठाङ्काः
अनाहारे तुल्यः	५०
अनेन परिहासेन	१४७
अस्य स्निग्धस्य वर्णस्य	२४१
अहमवजितः पूर्वं	२३१
इमां सागरपर्यन्तां	२६५
इयं वाला नवोद्वाहा	१५७
उदयनवेन्दुसवर्णा०	२
उपेत्य नागेन्द्रतुरङ्ग०	२०४
ऋज्वायतां च विरलां	११९
ऋज्वायतां हि मुख०	१७३
कस्यार्थः कलशेन	२३
कः कं शक्तो रक्षितुं	२३५
कातरा येऽप्यशक्ता वा	२३०
कामेनोज्जयिनीं गते	११६
कार्यं नैवार्थैर्नापि	२६
किं वक्ष्यतीति हृदयं	२२३
किन्नु सत्यमिदं स्वप्नः	२४५
खगा वासोपेताः	६०
गुणानां वा विशालानां	१५८
चिरप्रसुप्तः कामो मे	२१६
तीर्थोदकानि समिधः	१४
दुःखं त्यक्तुं वद्धमूलो०	१४९
धीरस्याश्रमसंश्रितस्य	६
निष्क्रामन् सम्भ्रमेणाहं	१९३
नैवेदानीं तादृशाश्चक्र०	४९
पद्मावती नरपतेर्महिषी	३४
पद्मावती बहुमता	१३९
परिहरतु भवान् नृपा०	११
पूर्वं त्वयाप्यभिमतं गत०	९
पृथिव्यां राजवंश्यानां	२२८
प्रच्छाद्य राजमहिर्षीं	२४४
प्रद्वेषो बहुमानो वा	१६
बहुशोऽप्युपदेशेषु	१८०
भारतानां कुले जातो	२४५
भिन्नास्ते रिपवो भवद्०	२०३
भृत्यैर्मगधराजस्य	४
मधुमदकला मधुकरा	१२९
महासेनस्य दुहिता	२३६
मिथ्योन्मादैश्च युद्धैश्च	२५७
यदि तावदयं स्वप्नो	१९८
यदि विप्रस्य भगिनी	२६४
योऽयं सन्त्रस्तया देव्या	२००
रूपश्रिया समुदितां	१६९
वाक्यमेतत् प्रियतरं	२३९
विस्रब्धं हरिणाश्चर०	३६
शय्या नावनता	१७
शय्यायामवसुप्तं मां	१९५
शरच्छशाङ्कगौरेण	१५६
श्रुतिसुखनिनदे ! कथं	२१३
श्रोणीसमुद्वहनपार्श्वं०	२१४
श्लाघ्यामवन्तिनृपतेः	१६७
षोडशान्तः पुरज्येष्ठा	२३२
सम्बन्धिराज्यमिदमेत्य	२२६
सविश्रमो ह्ययं भारः	५२
सुखमर्थो भवेद्दातुं	२८
स्मराम्यवन्त्याधिपतेः	१७९
स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन	१९९